# पुराण

## विज्ञान और रहस्य

लेखक:

गोलोकवासी श्री सुदर्शन सिंह 'चक्र'

**नवीन संस्करण**

**प्रकाशन तिथि :** योगिनी एकादशी, जुलाई 2, 2024

**मूल्य : 300/-**

**सम्पर्क सूत्र:**

**श्री अवधेश पाठक (एडवोकेट)**
मो. 9958867197

**चक्र साहित्य मित्र मंडल**
https://chakrasahityaonline.wordpress.com

# विवरणिका

## पुराण-विज्ञान

## पुराण-रहस्य

# प्रकाशकीय

पुराण और पौराणिक विषयोंपर विवाद किसी न किसी रूप में चलता ही रहता है। पुराणके विषयोंको सही प्रकार से न समझ पाना ही इसका मुख्य कारण है। पुराणके विषयमें कुछ भ्रान्ति यह है कि इसे इतिहास ग्रन्थ मान लिया गया है, जब कि पुराण इतिहास भी है, इतिहास ही नहीं है। पुराणमें इतिहासके जो प्रसंग हैं वह आजसे इतने पूर्वके हैं कि उसका वैदिक ग्रन्थ, रामायण, महाभारत, वृहत्कथा इत्यादि ग्रन्थों में विवेचन है। अब उनको यदि वर्तमान परिस्थिति में तलाश करें तो निराशा ही हाथ आयेगी। उस समयकी अनेक जातियाँ लुप्त हो चुकी हैं, कुछ इतने बदल गये हैं कि उनके मौलिक स्वरूपकी कल्पना भी सम्भव नहीं है। अवतार और लोक भौतिक-चिन्तनशील व्यक्तिके लिए जटिल प्रश्न है। विवादी-विद्वान सहजतासे उसे काल्पनिक कह कर टाल जाते हैं।

पुराणों के विषय दुरूह होनेका कारण यह भी है कि इसकी भाषा आजके विद्वानोंको सीधे समझमें नहीं आती है। भारतीय अध्यात्मकी चर्चा जब तल्लीनताके साथ होने लगती है तब हमारे भौतिक जीवनमें प्रचलित सभी शब्द निरर्थक हो जाते हैं। इसके लिए उपमा-उपमेय प्रतीक और बिम्बोंके माध्यम से उन गहन पारलौकिक विषयोंको शाब्दिक स्वरूप देने का प्रयत्न किया जाता है।

ज्यों-ज्यों हमारा जीवन अतिभौतिक होता जाता है, हमसे पुराणके विषय और भी कठिन होते जाते हैं। इस कठिन कार्यको प्रसिद्ध विद्वान् श्रीसुदर्शन सिंह 'चक्र' ने पुराण विज्ञान और पुराण रहस्य लिख कर सहज बनानेका प्रयत्न किया है। बल्कि श्रीचक्रजी ने पुराणको आम लोगों के लिए सर्वग्राह्य बना दिया है। पुराणको समझनेकी दृष्टि मिल जानेके बाद और भी विषय जो श्रीचक्रजी द्वारा स्पष्ट होनेसे रह गया है, को समझा जा सकता है।

पुराण-विज्ञान और पुराण-रहस्यको एक साथ हम श्रीकृष्ण संदेशके पाठकों के सम्मुख धारावाहिक रूपमें प्रस्तुत करते हुए इसे पहली बार पुस्तक का स्वरूप भी प्रदान कर रहे हैं।

प्रकाशक

# पुराण-विज्ञान

# प्रस्तावना

मनुष्यको प्रभुने बुद्धि दी है और उसका उपयोग है विचार करना। यदि विचारको छोड़ दें तो हममें और पशुओंमें कोई अन्तर नहीं रह जाता। जो लोग यह सोचते हैं कि कोई मुझे 'अमुक' बात पूर्णतः समझा देगा या किसी ग्रन्थसे मुझे 'अमुक' विषयका पूरा ज्ञान हो जायगा, वे भ्रान्त हैं। ज्ञान अपने अन्तरसे उद्भूत होता है। ग्रन्थ या उपदेश उसे प्रकट होने में केवल सहारा देते हैं। उनमें केवल एक आधार होता है जिस पर मनन करके हम ज्ञान प्राप्त करते हैं।

जब हम किसीके उपदेशको सुनते या किसी ग्रन्थको पढ़ते हैं तो एक विषयपर दूसरेके विचारोंको उसमें पाते हैं। नियम यह है कि एक इन्द्रिय का विषय दूसरीसे सांकेतिक रूपमें प्रकट होता है। नेत्रका विषय रूप है, उसे वाणी पूर्णतः व्यक्त नहीं कर सकती। दो लाल पशुओंकी लालिमाका अन्तर ठीक-ठीक कहा नहीं जा सकता। 'लाल' कह कर हम केवल उसका संकेत करते हैं। विचार बुद्धिके विषय हैं, अतः वाणीके द्वारा उनका संकेत मात्र होता है। विचारोंका सर्वांश वाणी या पुस्तकमें आना सम्भव नहीं। वाणी में तो बहुत अधिक आ सकता है, किन्तु पुस्तकके सीमित पृष्ठों में तो उसका सूक्ष्म संकेतमात्र किया जाता है।

किसीके उपदेश या किसी ग्रन्थके अक्षरोंको ज्योंका त्यों ले लेना उसे समझना नहीं है। वह एक प्रकारका रट लेना है। जब तक उसपर मनन करके बुद्धि उसे अपना ज्ञान नहीं बना लेती, तब तक बहुत सम्भव है कि आप उस रटन्तके एक गौण अंशको प्रधान मानकर मूल सिद्धान्तके विरुद्ध धारणा किये बैठे रहें। समझनेके लिये उसपर सोचना चाहिये और उसे अपना ज्ञान बना लेना चाहिये।

अवश्य हम किसीके ज्ञानको उसी रूप में ग्रहण नहीं करते। हम उसे अपनी बुद्धिके अनुसार समझते हैं। कहनेवालेका अभिप्राय हम अपने ढंगसे मानते हैं। यह स्वाभाविक है। इसका कोई निवारण नहीं। हम दूसरेके विचारोंपर अपनी बुद्धिका रङ्ग चढ़ाये बिना उसे वास्तविक रूपमें ले नहीं सकते। विचार ग्रहण होता है बुद्धिके द्वारा, प्रत्येक व्यक्तिका कुछ न कुछ विशेष रूप होता है, वह विचारको वैसा बना लेता है। जैसे बर्तनमें जल आवेगा वैसा आकार हो जायगा। एक व्यक्तिकी बातोंको सुननेवाले दो व्यक्ति उसका पृथक-पृथक अर्थ करते हैं। एक ग्रन्थकी टीकाओं में परस्पर बहुत वैभिन्य और विरोध तक है।

शास्त्र के वचन सत्य और अभ्रान्त हैं। इस सिद्धान्तकी सत्यतामें कोई सन्देह नहीं। लेकिन उन वचनोंको समझने के लिये हमारे पास अपनी बुद्धिके अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं। एक शास्त्र के दो आचार्योंने परस्पर विरोधी अर्थ तक किये हैं। गीताकी टीकाओं में परस्पर कोई समन्वय नहीं। यह सब होते हुए भी हमें शास्त्रको मानना है और माननेके लिये समझना अत्यावश्यक है। हम पहले कह चुके हैं कि समझनेका अर्थ होता है मनन करके उस ज्ञानको अपना बना लेना। बुद्धिमें उसके प्रत्येक अंश को ठीक-ठीक बैठा लेना।

साधारण समाज कभी रहस्य ज्ञानका पिपासु नहीं होता। वह केवल अनुगामी होता है। उसे विधि मात्र चाहिये, विधिके कारणसे उसको प्रयोजन नहीं। प्रत्येक व्यक्ति, वैज्ञानिक नहीं होता, वह केवल मान लेता है कि पृथ्वी में आकर्षण है। इसी प्रकार, साधारण समाज केवल विहित विधिका पालन करता है। फिर भी यह तो आवश्यक है ही कि समाज में विधिका रहस्य भी कुछ लोग समझें। यदि ऐसा न हो तो साधारण समाज को उस विधिको न मानने वाले अपनी ओर आकर्षित कर लेंगे। समाज की गतिका केन्द्र तो होना ही चाहिये।

समाज एक शरीर है। शरीर के भोगोंकी भाँति वह केवल आज्ञा पालक है। उसका काम आज्ञाका विवेचन नहीं। उसमें विवेचनकी जिज्ञासा नहीं होती। लेकिन शरीर में बुद्धि आवश्यक है। समाजमें विधिके रहस्यके वेत्ता बुद्धि है। अंगोंको आज्ञा दी जावे उसके उद्देश्य, परिणाम और क्रम का बुद्धिको ज्ञान होना चाहिये। ऐसा न होनेपर हानिप्रद आज्ञासे अंगोंको क्षति पहुँचेगी। जिस शरीरमें

बुद्धि न होगी वह नष्ट हो जायगा। जिस समाज में उसकी विधियोंके रहस्यको जाननेवाले नहीं रहेंगे, वह अवश्य नष्ट होगा।

किसी समय पढ़कर और अनुभव करके ज्ञान प्राप्त कर लिया तो वही स्मृति आजीवन शरीरको नहीं चला सकती। शरीरको चलाने के लिये वह स्मृति बुद्धिको विचारका आश्रय दे सकती है। विचार तो प्रत्येक कार्य की परिस्थितिके अनुसार होगा। स्मृति तो स्वप्न में भी रहती है, लेकिन बुद्धि न होने से वहाँ कोई नियमित कार्य नहीं होता। शास्त्र ऋषियोंके अनुभव हैं लेकिन उसे समझकर समाजको उसपर चलानेवाले सर्वदा चाहिये। समाज स्वयं उसे नहीं समझ सकता। वह ठीक उपयोग करने में समर्थ नहीं। नवीन परिस्थितियों में वह उसके द्वारा स्वतः समाधान नहीं पाता।

आजकी परिस्थिति में यह अत्यावश्यक है कि पुराणोंकी उन बातों को जिन्हें समाज सन्देहकी दृष्टिसे देखने लगा है, उसे समझाया जावे, जो बातें समझ में न आनेके कारण असम्भव प्रतीत होने लगी हैं, उनपर प्रकाश पड़े। केवल ऋषियोंको सर्वज्ञ कहने से समाज का आश्वासन नहीं होता। न्यूटन की वैज्ञानिकताका ढिंढोरा पृथ्वीकी आकर्षण शक्ति माननेको विवश करने में समर्थ नहीं। यह सच है कि सबको न्यूटन बनाकर वह शक्ति दिखाना सम्भव नहीं, सब शास्त्रमर्मज्ञ नहीं बन सकते, फिर भी आंशिक रूप में उसपर इतना प्रकाश अवश्य पड़ना चाहिये जिससे सिद्धान्तकी सामान्य उत्पत्तिको वे समझ सकें।

कुछ गिने चुने ऐसे विषयोंपर मैंने "पुराण विज्ञान" में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है जो आजकल असम्भव कहे जाते हैं। कुछ विषयोंके आधिदैविक और आध्यात्मिक रहस्यपर "पुराण रहस्य" नामक पृथक खण्ड में विचार किया गया है। यह सब एक सांकेतिक प्रयास है। ऐसे बहुत से विषय पुराणों में हैं। उनकी ओर विद्वानोंका ध्यान आकर्षित करना और जन समाजकी इस धारणाको कि पुराणोंमें असम्भव कल्पनाएँ हैं दूर करना इस ग्रन्थका उद्देश्य है। कम-से-कम जनता में इतनी भावना होनी चाहिये कि जैसे इन असम्भव-सी ज्ञात होती हुई बात में रहस्य है, वैसे दूसरी बातें भी रहस्यपूर्ण होंगी।

सन्देहसे बहुत दिन काम नहीं चलता। वह विश्वासके लिये एक आरम्भिक भूमिका है। जिज्ञासा उत्पन्न करना उसका कार्य है। यदि ठीक समय तक उस जिज्ञासाका उपयोग न किया जावे तो वह अविश्वास में परिणित हो जाती है। जो विद्वान् हैं और पुराणोंपर विश्वास करते हैं, उनको इधर ध्यान देना चाहिये। पौराणिक गूढ़ रहस्योंका विवेचन होने की आवश्यकता है। जनताकी जिज्ञासासे समय रहते लाभ उठाना चाहिये। उसे कुछ न कुछ समाधान देना होगा।

आज हम महर्षियोंके युगसे बहुत दूर जा पड़े हैं। हमारे पास न तो उतनी मानसिक विचार शक्ति है और न उतने साधन। यह असम्भव है कि हम उन सर्वज्ञ ऋषियोंके महान ज्ञानकी पूरी तरह विवेचना कर सकें। उसके रहस्य जानने के साधन हमारे पास नहीं। हमारा यह आग्रह है कि हम उसे अनुभवमें प्रत्यक्ष देखकर मानेंगे, वैसा ही आग्रह है जैसे देहाती अनपढ़का यह आग्रह कि रेल पानीके वाष्पसे नहीं चल सकती। शास्त्रोंकी यदि कुछ बातें हम ठीक समझते हैं तो दूसरी पर हमें आस्था करनी चाहिये। उनपर विश्वास रखते हुए उन्हें समझनेका प्रयत्न करना चाहिये।

बहुधा ऐसा होता है कि हम कुछ शास्त्रीय सिद्धान्तोंको मानते हैं और उनके अनिवार्य परिणामको नहीं मानते। दो-चार प्रकारके सिद्धान्तों की एक उलझन समाज में होती है और वह उसे समझ नहीं सकता। कोई एक सिद्धान्त जब अपने स्पष्ट रूपमें सामने आता है तो वह हमें आश्चर्यमें डाल देता है और सहसा हम उसे मानना नहीं चाहते।

"पुराण विज्ञान" का मूलाधार है "त्रिपाद्-विभूति", उससे लेकर लगभग सभी अध्यायोंका समन्वय उसी आधारपर होता है। सृष्टि प्रकरण, अवतारवाद, सुखदुखकी प्रकृति में परिमिति मात्र प्रभृति विषय सर्वथा नवीनसे प्रतीत होंगे। सम्भव है कि आप उससे चौंकें और न मानना चाहें। लेकिन वे विषय मेरे मस्तिष्ककी उपज नहीं। अवश्य मैंने उनका शास्त्रोंसे संकलन किया है। उनका यह स्पष्टरूप एकत्र कहीं शास्त्रों में नहीं मिलता। किसी आचार्यने स्पष्टतया ऐसी व्याख्या की भी नहीं है। शास्त्रोंने कहीं-कहीं निर्देश दिया है आचार्योंने

संकेत किया है। मैंने केवल इतना किया कि जहाँ दो गुणा दो कहा गया था, उसे मैंने स्पष्ट चार कह दिया।

भगवान् के सभी नाम, उनकी सभी लीलाएँ और सभी रूप नित्य हैं, यह वैष्णवमात्र मानते हैं। भक्त जिस रूप में चाहता है, प्रभु उसी रूपमें दर्शन देते हैं, यह भी सर्वमान्य है। इन दो सिद्धान्तोंका समन्वय क्या? यदि यह मानें कि भक्तकी भावनाके अनुसार रूप धारण किया जाता है तो नित्य कैसा? नित्य तो वह जो पहलेसे रहे। दूसरी ओर भावनानुरूप दर्शन मानना होगा। क्योंकि गीतादि शास्त्र उसे स्पष्टतया घोषित करते हैं। फलतः यही मानना होगा कि भावनाकी स्तरें हैं, उतनी ही स्तरें जितने प्रभुके नित्य रूप हैं। ऐसी भावना उठना असम्भव है जैसा नित्य रूप न हो। भावनाके अनुसार दर्शन और फिर भी उस रूपका नित्य होना यह परस्पर विरोधी नहीं रह जाते।

सुख-दुख, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म प्रभृति सब भावनाके धर्म हैं। जब हम भावनाकी परिमित स्तरें मानेंगे तो इन सबकी निश्चित मात्रा माननी होगी। क्योंकि भावनाके बिना इनका कोई आश्रय नहीं। भारत-धर्म महामण्डल के स्वामी श्रीदयानन्दजीने अपने धर्म-विज्ञान और धर्म-कल्पतरु प्रभृति ग्रन्थों में इसे स्वीकार किया है कि "पाप-पुण्यादिकी प्रकृतिमें परिमित मात्रा है और वह किसी युगमें केन्द्रीभूत रहते हैं और किसीमें बढ़ जाते हैं।" स्वामी रामतीर्थका वह वचन भी ऐसा अर्थ रखता है जिसमें कहा गया है कि "एक पुरुष अपनेको मुक्त कर ले तो समस्त जगतके प्राणी एक सीढ़ी ऊपर उठ जावेंगे। यह सबसे बड़ा लोकोपकार है।" जो पुरुष मुक्त होगा, वह अवश्य उससे पूर्व परम सात्विक होगा। उसके त्रिगुणातीत होनेपर उसकी सात्विकता संसारको ऊपर उठा देगी।

शास्त्रोंके सृष्टि प्रकरण में विराट भगवान् के शरीर से पाप-पुण्य, काम, क्रोध, लोभ प्रभृतिकी उत्पत्तिका वर्णन है। उत्पत्ति ही यह बतानेको पर्याप्त है कि वे अपरिमित नहीं। उत्पत्ति सदा परिमित होती है। फिर उसमें घटने बढ़नेका न तो कहीं वर्णन है और न कोई कारण। जैसे पंच महाभूत परिमित उत्पन्न हुए और बिना घटे बढ़े हैं, वैसे ही पापादि भी। कभी कहीं कोई प्रधान और कोई

अप्रधान हो यह दूसरी बात। एक स्थानपर जब एक प्रधान होगा तो दूसरे स्थानपर उसके द्वन्दका दूसरा।

आचार्योंने आवश्यकता न होनेके कारण इस विषयपर प्रकाश नहीं दिया। ध्यान से देखनेपर उनके ग्रन्थोंमें भी कुछ संकेत मिल सकते हैं। सतयुगमें हिरण्यकश्यप से दैत्य थे, त्रेता में रावण, द्वापर में कंस, इस प्रकार प्रधानता घटती आयी। आज पाप पुण्य बिखर गये हैं, अतः न तो कहीं युधिष्ठर से धर्मात्मा हैं और न कंस से पापी।

'सृष्टि' के प्रकरण में हमने ब्रह्माण्डको अस्थिर कहा और नित्य लोकोंके सान्निध्य में पहुँचनेपर सृष्टि होना। माया चंचल है, अतः मायिक विश्व कभी स्थिर नहीं रह सकता। ब्रह्माण्ड कुछ हमारा एक हो ऐसी बात तो है नहीं। प्रभुके रोम-रोम में करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं। इस एक पाद में ही उन सब ब्रह्माण्डों की अवस्थिति है। त्रिपाद तो मायासे असंस्पृष्ट है। गर्ग-संहिता में इसका अच्छा स्पष्टीकरण हो जाता है। ब्रह्मा जब पृथ्वीका भार दूर करनेके लिये भगवान् से प्रार्थना करने जाते हैं तो गोलोक जाने के लिये अपने ब्रह्माण्ड से पृथक होनेपर वे देखते हैं 'चारों ओर अपार ब्रह्मद्रव पूर्ण है और उसमें नारूनके फलकी भाँति कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड लुढ़क रहें हैं। उनका ब्रह्माण्ड भी उन्हीं में से एक है।'

यह ब्रह्मद्रव ही प्रलय कालीन जलके नामसे पुराणों में कहा गया है, जिसमें भगवान् शेष-शय्यापर सोते रहते हैं। गङ्गाजीके रूपमें यही ब्रह्मद्रव पृथ्वीपर आया है और इसी कारण वह परमपावन कहा गया है। गर्गसंहिताका उपरोक्त वर्णन हमारे 'सृष्टि' प्रकरणको बहुत कुछ स्पष्ट कर देगा। वह ब्रह्माण्डकी गति, नित्यलोकसे उसका सम्बन्ध प्रभृति सब बातों का सूचक है।

कोई कार्य तब तक नहीं होता जब तक वह हमारे मन में न आ जावे। पहले मनमें उसका रूप आता है और तब बाहर हम उसे प्रकट करते हैं। मन स्वतः भावना नहीं करता। पहले बता चुके कि भावनाकी स्तरें होती हैं, मन उन्हें ग्रहण करता है। प्रत्येक भावना के अनुसार भगवद् दर्शन होना सम्भव है और भगवान् का प्रत्येक रूप नित्य है, यह बात बताती है कि भावनाकी स्तरें उन नित्य रूपोंसे सम्बन्ध रखती हैं। स्थूल-जगत मन की भावनासे कार्यरूपमें

आता है, अतः वह भी उसी नित्यरूपसे सम्बन्धित हुआ। इस प्रकार सृष्टिका कारण नित्यलोकके अतिरिक्त दूसरा नहीं मिलता।

त्रिपाद्-विभूति और सृष्टिका उससे सम्बन्ध समझ लेनेके पश्चात् दूसरे सारे प्रकरण सरलतासे समझे जा सकेंगे। वे उन्हींपर अवलम्बित हैं। निर्गुण ब्रह्मसे सगुणकी अभिव्यक्ति कभी सम्भव नहीं। जड़ प्रकृति और निर्गुणका कोई संयोग नहीं। ईश्वरको सगुण निराकार माननेपर भी उसकी सृष्टि में प्रवृत्तिका कोई कारण नहीं दीखता। वह आप्तकाम क्यों इस खिलौने के साथ खेलने में लगेगा? अज्ञानसे विश्वका आभास माननेपर यह एक प्रबल आपत्ति होती है कि अज्ञान किसे? जीव और ब्रह्म दोनों अभिन्न एवं ज्ञान स्वरूप हैं। ज्ञानमें अज्ञानकी स्थिति नहीं हो सकती। ज्ञानस्वरूप जीवको अज्ञान कभी सम्भव नहीं।

पौराणिक सृष्टि प्रकरण इन सारी बाधाओंको दूर कर देता है। द्वैत, अद्वैत प्रभृति सबका समन्वय हो जाता है। समस्त श्रुतियोंका स्पष्टीकरण उसके द्वारा हो जाता है। यह सारा झमेला इसलिये उठ खड़ा हुआ कि भगवान् व्यासके भाष्यकी ओर ध्यान नहीं दिया गया। पौराणिक सृष्टि प्रकरणको छोड़कर केवल दार्शनिक अंश तक व्याख्या चलाई गई और उसीको सब कुछ समझा गया। भागवत के विषय में भगवान् व्यास ने स्वयं लिखा है **"भाष्योऽयं ब्रह्मसूत्राणां.. .....**" इस भाष्यसे दार्शनिक उलझनें बहुत कुछ सुलझ सकती हैं।

मैंने कई आचार्य चरणोंके एक-दो विषयोंपर भाष्य देखे हैं। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि वे परिस्थिति के अनुकूल दार्शनिक सिद्धान्तोंकी अपने ढंग से विवेचना करते हैं। पौराणिक सिद्धान्तोंकी ओर प्रायः सभी ने संकेत किया है। उनके उस संकेतको न समझने के कारण हमें उनमें परस्पर विरोध प्रतीत होता है। वस्तुतः उनमें कोई नहीं। इधर हमने उनके संकेतोंपर ध्यान न देकर उलझना आरम्भ कर दिया। वस्तुतया सारी उलझनोंको व्यास जी पहले से सुलझा गये हैं। आवश्यकता है उसे हृदयंगम करने की।

पुराणोंके कुछ विचित्र वर्णनको समझने में जहाँ धार्मिक लोग थोड़ी भूल करते हैं, वहाँ दूसरे उसे मिथ्या समझते हैं। असुर, दानव, नाग, रीछ, वानर आदि ऐसे ही हैं। ध्यानसे देखा जाय तो नाग रीछ प्रभृति वे पशु नहीं हैं जो

आज पाये जाते हैं। उनका अभिप्राय बन्दर, रीछ और सर्प नहीं। अवश्य वे इनसे मिलते-जुलते थे, पर थे वे एक प्रकार के मनुष्य। पुराणोंके वर्णनसे पता चलता है कि उनके घर होते थे, उनकी स्त्रियां वस्त्राभूषण पहनती थीं। वे सुसभ्य थे।

पूंछ होने के कारण किसीको बन्दर कहा गया। रीछोंसे रोम होनेके कारण रीछ, विष होने कारण सर्प। पेड़ोंपर कूदना, गुफामें रहना और सर्पण ये गुण भी उनमें थे। मनुष्य और पशुसे मध्यकी ये जातियाँ हैं। विकासवाद का समर्थन करनेके लिये डार्विन और उसके अनुयायियोंने ऐसे बहुतसे मध्यवर्ग के प्राणियोंका पता लगाया। अफ्रीकामें एक प्रकारकी मछली होती है जो जलसे बाहर निर्जनमें सात आठ दिन जंगलों में घूमती है। वह पचास मील तक यात्रा करती पायी गयी है। उसके पैर होते हैं और वह दो पैरसे चलती है। वृक्षोंपर चढ़ सकती है। जंगलके छोटे पशुओंका शिकार करती है। वेस्टइण्डीजके लोग दक्षिणी ध्रुव सागर में एक ऐसे मत्स्यका बहुधा शिकार करते हैं जिसका नर तो पूरी तरह मत्स्याकृति है और मादाका कमरसे ऊपरका भाग मनुष्य स्त्री के समान है।

प्रकृति में पता नहीं कितने आश्चर्य भरे पड़े हैं। परिवर्तन चक्र में पड़कर कितनी जातियां नष्ट हो गयीं और कितनी जातियों में इतना परिवर्तन हुआ कि अब उनके पूर्वरूपकी कल्पना भी असम्भव है। घरोंकी छिपकलीका दयनीयरूप देखकर कौन कहेगा कि वह कभी इतनी बड़ी जाति थी जो हाथीको पूरा निगल जावे। भूमिसे ऐसी अस्थियां मिली हैं जो पूर्वयुगके कुछ जीवोंका परिचय देती हैं। उनमेंसे कुछका तो आज पृथ्वीपर नाम तक शेष नहीं।

किसी समय भारत में सिंह बहुत पाये जाते थे। अब वह यहांके जंगलों में नहीं मिलते। हिरन और नीलगायकी संख्या घटती जा रही है। अमेरिकामें पहले बहुत जंगली भैंसें थीं, अब केवल शब्दकोषमें उनका नाम रह गया है। पशु तो क्या, अमेरिकाकी रेड इन्डियन मनुष्य जातिका अब कोई व्यक्ति पृथ्वीपर नहीं बचा, आस्ट्रेलियाके मूल निवासीका लोप हो गया। इस प्रकार कालचक्रसे

जातियोंका अस्तित्व लोप हो जाया करता है। पौराणिक पशु और मनुष्यके मध्यवर्ती जीवोंका भी यही हाल हुआ।

सतयुगमें दैत्य-राक्षस प्रभृति बहुत थे। त्रेतामें भगवान् रामने प्रतिज्ञा कर ली - "मैं पृथ्वीको राक्षस शून्य कर दूंगा" यह प्रतिज्ञा दण्डकारण्य में हुई थी। रावण युद्धमें प्रायः प्रतिज्ञा आंशिक रूपसे सफल हो गयी। अश्वमेघ के समय लवणासुर के साथ बचे खुचे असुर भी मारे गये। दानव-जातिका विनाश शङ्करजीने त्रिपुरको भस्म करके कर दिया था। रामचन्द्रजीके समय दानवोंका वर्णन नहीं पाया जाता।

महाभारत में द्वापरके समय आकर हम देखते हैं कि राक्षसों का वर्णन यत्र-तत्र बहुत कम पाया जाता है। कंसादि राक्षसोंके रूप कहे गये हैं, पर राक्षस नहीं हैं। कंसकी सेनामें कुछ राक्षस अवश्य थे। भौमासुरका वर्णन भी आता है। पाण्डवोंको वनयात्रामें कुछ राक्षस मिलते हैं। श्रीकृष्णचन्द्रजी और पाण्डवोंने इन सबको ठिकाने लगा दिया। बचे-खुचे महाभारत के युद्धमें मारे गये। इस प्रकार पाण्डवोंके कालमें ही राक्षसों का अस्तित्व पृथ्वी से उठ गया। दानव-जातिमें से मयके अतिरिक्त महाभारतमें और किसीका वर्णन मिलता नहीं। यह जाति त्रेतामें क्षीण हो चुकी थी।

बन्दर और रीछ नामकी पौराणिक जातियोंका ह्रास कैसे हुआ, यह वर्णन कहीं स्पष्ट नहीं पाया जाता। महाभारत में इस जातिका कोई वर्णन नहीं। जाम्बवन्त, द्विविद और हनुमान बस ये तीन व्यक्तिगत रूपसे मिलते हैं। इसका यही अर्थ होता है कि त्रेतासे लेकर द्वापरान्त तक प्रकृति चक्र में पड़कर ये दोनों जातियाँ नष्ट हो चुकी थीं। भगवान् रामके साकेत प्रयाणके साथ ही इनका अस्तित्व भी नष्ट हो गया। अवश्य राजसूयके समय दिग्विजयको गये पाण्डवोंको विभीषण तथा कुछ किंपुरुष जातिका परिचय मिलता है, पर उस वर्णनसे यह भी पता लगता है कि वे जातियां उस समय दुरुह वनों में पहुँच गयी थीं और मनुष्योंसे उनका सम्बन्ध टूट चुका था। फिर उनका कहीं वर्णन नहीं मिलता।

महाभारत के समय में प्रचुरतासे पायी जाने वाली केवल नाग जाति है। सतयुगसे लेकर द्वापरान्त तक इस जातिका वर्णन मिलता है। यह जाति

पृथ्वीपर न रहकर ऐसे स्थानोंपर रहती थी जिनका मार्ग जल में होकर था। मनुष्य इस जातिकी सुन्दरी कन्याएँ विवाहके लिये कभी-कभी पा जाते थे। मानव संघर्ष और सम्पर्क में न आनेके कारण यह जाति इतने दिनों तक सुरक्षित रही। इनमेंसे तक्षकने परीक्षित को काट लिया और यही इस जाति के विनाश का कारण हुआ। जनमेजयके नाग-यज्ञमें तक्षक, वासुकि आदि कुछ गिने चुने प्रधान नागों के अतिरिक्त सब स्वाहा हो गये।

युद्धके अतिरिक्त एक सम्भावना और है। इस सम्भावना का कहीं स्पष्टीकरण तो नहीं, पर उसके लिये आधार है। मनुष्य दानव, राक्षस, रीछ, वानर, नाग प्रभृति जातियोंकी कन्याओंसे विवाह तो करते थे ही। युद्धादिमें इन जातियोंके वीरोंके नष्ट होनेपर उनकी कन्याएँ मनुष्योंने बादको छीन ली होंगी। इन जातियोंके पुरुषोंको स्वजातिकी स्त्रीके अभाव में अपनी जाति से मिलती-जुलती पशु जातिकी स्त्रीसे काम चलाना पड़ा होगा। (खजुराहोंके मन्दिरकी दीवालपर ऐसी अनेक मूर्ति हैं जिसमें पुरुष आकृति पशुसे यौन सम्पर्क कर रहा है) फलतः उनकी सन्तति पूर्ण पशु-जाति हो गयी। जो भी हो, कलिकी प्रथम शताब्दी तक प्रायः उपरोक्त सब जातियोंका अस्तित्व पृथ्वीसे उठ चुका था। अब वे हमारे कल्पना मात्र अवशेष हैं।

पुराणों में इस प्रकार पता नहीं कितनी बातें हैं जो समय के परिवर्तन के कारण हमारी समझ में नहीं आतीं। उनका ठीक विश्लेषण किया जावे तो प्राचीन कालकी परिस्थितिका विस्तृत विवरण प्राप्त हो सकता है। इसके साथ ही महर्षियोंका अलौकिक ज्ञान मानवको बहुत उच्च स्थितमें उठाने के लिये वहाँसे पाया जा सकता है।

पाश्चात्य सभ्यताका जो चाकचिक्य हमारे नेत्रोंको स्तम्भित कर रहा है, वह हमें अपने पूर्व पुरुषोंकी महत्ता समझने नहीं देता। एक दिन वह आवेगा जब हमें अपनी इस वज्र-मूर्खतापर पश्चाताप करना होगा। हम समझ सकेंगे कि हम ऋषियोंके वरदानको भ्रान्त समझ कर कितने भ्रम में थे और हमें दुःख होगा उसके लाभसे वंचित रहने के लिये।

***

# पुराण

पुराणका अर्थ है प्राचीन। कितना प्राचीन इसका कोई नियम नहीं है। पुराण इतिहास नहीं है और इतिहास पुराण नहीं है। इस भेदको समझे बिना हिन्दू धर्मके इतिहासको समझ पाना असम्भव है। पुराणका उद्देश्य इतिहास वर्णन नहीं है। उसका उद्देश्य एक निष्ठा-विशेषका प्रतिपादन है। यह दूसरी बात है कि उसमें इतिहास भी हो।

एक पुराण एक निष्ठा - एक आध्यात्मिक साधन विशेष, एक इष्ट का प्रतिपादन करनेके लिये प्रवृत्त हुआ है। उस निष्ठा, उस इष्ट, उस साधनके सर्वोपरि रूपका वर्णन करते हुए, उसके सहायक साधनों एवं अंगोपाङ्गोंका उसमें वर्णन होता है। इसीलिये एक पुराणमें एक कल्प विशेषकी सृष्टि तथा घटनाओंको प्रमुखता दी गई होती है। अन्य कल्पों का वर्णन उसमें संक्षिप्त रहा करता है।

सृष्टि विभिन्न कल्पोंमें विभिन्न नित्य-लोकोंके माध्यम से व्यक्त होती है। अतः जिस इष्टके प्रतिपादनके लिये जो पुराण प्रवृत्त हुआ है, उस पुराण में उस इष्टका परत्व तथा उसके नित्यलोकसे जिस कल्प में सृष्टि हुई, उस कल्पका वर्णन मुख्य रूपसे होता है।

पुराणों में जो घटनाएँ हैं, वे हैं तो इतिहास ही; किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वह इतिहास क्रमबद्ध हो और एक ही कल्पका हो। जैसे श्रीमद्भागवत में राजा परीक्षित तथा शुकदेवजी का वर्णन है। यह वर्णन इस कल्प के परीक्षितका नहीं है, जबकि भागवत में जो श्रीकृष्ण चरित है, वह इसी कल्पके इसी मन्वन्तरकी वर्तमान चतुर्युगीके द्वापरान्तका है। यह भी आवश्यक नहीं है कि जिस कल्पके परीक्षितका वर्णन है, उसी कल्पके शुकदेवजीका वर्णन हो।

राजा परीक्षित प्रत्येक कल्पमें होते हैं, और प्रत्येक कल्प में शुकदेवजी होते हैं। प्रत्येक कल्प में इनका सम्वाद होता है; किन्तु इनका चरित तथा सम्वाद प्रत्येक कल्पमें एकसा नहीं रहा करता। जैसे एक कल्पमें शुकदेवजी ने राजा परीक्षितको देवी भागवत सुनाया है।

भगवान् व्यास सर्वज्ञ हैं। उनके सम्मुख प्रत्येक कल्पकी घटनाएँ प्रत्यक्षके समान हैं। पुराण-निर्माणमें उनका उद्देश्य इतिहासका वर्णन तो है नहीं। वर्तमान कल्पका इतिहास वे महाभारतके रूपमें वर्णित कर चुके। पुराण में एक निष्ठा, एक साधनको स्पष्ट करना तथा उसे आधार देना है। अतः उस साधन, उस निष्ठाके अनुरूप जो व्यक्ति प्राप्त होता है, जो उपदेश सम्वाद प्राप्त होता है, उसे वे उस पुराणमें एकत्र कर देते हैं। इस प्रकार पुराणोंमें जो हमें व्यक्ति, सम्वाद तथा उनका क्रम मिलता है, वह व्यासजी के सम्पादनका कौशल है। यह ऐसा ही है, जैसे मुझे वनमें एक सिंह, एक भैंसा और एक शिकारी दिखाने हों और एक भवन भी। मैं एक सादे कागजपर एक वनका चित्र लेकर चिपका दूँ। किन्हीं दूसरे चित्रोंसे काट कर उपयुक्त मुद्रामें सिंह तथा भैंसेके चित्र ले लूं और एक भवनका चित्र कहींसे काट लूं और वनके चित्रके ऊपर इन्हें उपयुक्त स्थानोंपर चिपका कर पूरे चित्र का फोटो ले लूं। अब फोटो में तो एक चित्र है - ऐसा चित्र जो मैं चाहता था; किन्तु वह चित्र मैंने बनाया नहीं है। अवश्य ही उसका प्रत्येक अंश बनाये चित्रोंसे लिया गया है। इसी प्रकार पुराणोंका प्रत्येक व्यक्ति तथा घटना सत्य है। वह इतिहास है किसी न किसी कल्प का, किन्तु इतिहासके वे अंश नवीन क्रमसे, एक उद्देश्य विशेषसे एकत्र कर दिये गये हैं। इसीलिये ऋषि उस क्रमको पुराण कहते हैं, इतिहास नहीं कहते।

पुराण में पूरी सृष्टि-प्रलयकी प्रक्रिया न आ जाय तो निष्ठाका सम्यक् प्रतिपादन नहीं होता। अतः प्रत्येक पुराणमें यह पूरी प्रक्रिया उस पुराण में प्रतिपाद्य निष्ठाके अनुरूप आ जाती है। फलतः महापुराणों के दस लक्षण माने गये हैं और पुराणके पांच लक्षण।

## पुराणों के भेद

पुराणोंके चार भेद माने जाते हैं - १) महापुराण, २) पुराण ३) अतिपुराण, ४) उपपुराण।

इनमें से प्रत्येक १८ बतलाये जाते हैं महापुराण तो १८ मिलते हैं, किन्तु शेष भारतमें पूरे नहीं मिलते। उनमें से जो मिलते भी हैं; उनकी गणना किस वर्ग में की जाय, इसके सम्बन्धमें बहुत विवाद है।

सुना है कि नेपाल राज्य पुस्तकालयमें ये पूरे ६२ पुराण हैं। वे ब्राह्मी लिपिमें हस्तलिखित हैं। पत्राकार हैं। यदि यह बात सत्य है तो उनके नागरी लिपिमें मुद्रणकी व्यवस्था अवश्यकी जानी चाहिये। इससे केवल ग्रन्थ ही नहीं उपलब्ध होंगे, ग्रन्थोंका वर्ग-निर्णय भी हो जायगा और पाठ-निर्णय भी हो जायगा।

## महापुराण

जिसमें दस लक्षण हों अर्थात् दस विषयोंका प्रतिपादन हो, उन्हें महापुराण कहा जाता है। वे लक्षण हैं -

१. **सर्ग** - प्रकृति से पञ्चमहाभूत, इन्द्रियादिकी सृष्टिका वर्णन।
२. **विसर्ग** - ब्रह्मासे लेकर प्राणियोंकी सृष्टि वर्णन।
३. **स्थान (स्थिति)** - भगवान् की नित्य-महिमाका वर्णन।
४. **पोषण** - भगवदनुग्रहका वर्णन।
५. **अति** - जीवोंकी कर्म, वासनाओं तथा उनसे प्राप्त गतियोंका वर्णन।
६. **मन्वन्तर** - मनु तथा उनके वंशका वर्णन।
७. **ईशानुकथा** - भगवान् के अवतार चरितोंका वर्णन।
८. **निरोध** - प्रलयोंका वर्णन।
९. **मुक्ति** - मोक्ष के स्वरूप तथा साधनों का वर्णन।
१०. **आश्रय** - परमतत्वका निरूपण।

## १८ महापुराण

१. ब्रह्म पुराण २. पद्म पुराण ३. विष्णु पुराण ४. शिव पुराण ५. श्रीमद्भागवत ६. नारदीय पुराण ७. मार्कण्डेय पुराण ८. अग्नि पुराण ९. भविष्य पुराण १०. ब्रह्मवैवर्त पुराण ११. लिङ्ग पुराण १२. वाराह पुराण १३. स्कन्द पुराण १४. वामन पुराण १५. कूर्म पुराण १६. मत्स्य पुराण १७. गरुड़ पुराण १८. ब्रह्माण्ड पुराण।

जैसे भगवान् वेदव्यासजीने वेदोंका विभाग किया है, वैसे ही पुराणों का भी सम्पादन मात्र किया है। पुराण मूलतः व्यासजी की रचना नहीं हैं। वे सृष्टिके आदिमें ब्रह्माजीके मुखसे ही प्रगट हुए हैं। वेदोंमें कई पुराणोंके नाम मिलते हैं।

**इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः।**
**सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः॥**

(भागवत, ३-१२-३९)

सर्व समर्थ सर्वज्ञ ब्रह्माजीने इतिहास और पुराण जो पञ्चमवेद हैं, उन्हें अपने सभी मुखोंसे बनाया।

इन सब पुराणों का निर्विविद और पूर्णरूप आज मिलता नहीं है। सब पुराणोंकी विषय-सूची और श्लोक संख्या नारदीय पुराण में है। उसके अनुसार श्लोक संख्या और विषय सब पुराणों में नहीं मिलते।

शिवपुराणके दो रूप मिलते हैं और उनमें बहुत पाठभेद है। स्कन्दपुराण एक प्रचलित खण्डात्मक प्राप्त होता है और दूसरा संहितात्मक मिलता है। भविष्य पुराण चार स्थानोंमें छपा है और वे भिन्न-भिन्न हैं। लगता है कि तीनोंको मिलाकर भविष्यपुराण पूरा होता है। शेष एक पुराण या उपपुराण होगा।

बहुत से लोग देवी भागवतको महापुराण मानते हैं; किन्तु नारदीय पुराण में श्रीमद्भागवतकी विषय-सूची दी गयी है। पद्मपुराण तथा स्कन्द पुराण में भी श्रीमद्भागवत के ही माहात्म्य हैं। अतः श्रीमद्भागवतको ही महापुराणों में गिनना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

जो पुराण उपलब्ध हैं, उनमें श्लोक-संख्या नारदपुराण में कही गयी श्लोक संख्यासे प्रायः कम है। इसका अर्थ है कि पुराणोंके कुछ अंश लुप्त हुए हैं। उनमें प्रक्षिप्तांश बढ़ा तो है; किन्तु बहुत कम बढ़ा है और वह ढूंढकर पृथक किया जा सकता है।

## पुराण

पुराणके पांच लक्षण बतलाये गये हैं-

**सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशोमन्वन्तराणि च।**
**वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ।।**

**सर्ग** - प्रकृति से पञ्चमहाभूत पर्यन्त सृष्टि।
**प्रतिसर्ग (विसर्ग)** - प्राणि सृष्टिका विस्तार और लय।
**वंश** - सृष्टिकी आदि वंशावली।
**मन्वन्तर** - किस मनुका काल कब तक रहा और उस कालकी मुख्य-मुख्य घटनाएँ।
**वंशानुचरित** - सूर्यवंश एवं चन्द्रवंशके राजाओंका संक्षिप्त वंश वर्णन।

## पुराण- उपपुराणादि

यह कहना कठिन है कि कौन-सा पुराण है, कौन-सा अतिपुराण है और कौन-सा उपपुराण है। अतः हम इनमें से जो प्राप्य हैं, उनकी नामावली मात्र दे रहे हैं। अवश्य ही वे पुराण, जिनके सम्बन्ध में यह विवाद है कि वे महापुराण हैं या पुराण निश्चित रूपसे पुराण तो हैं ही। ऐसे विवाद दो हैं -

१. शिवपुराण तथा वायुपुराणके सम्बन्ध में
२. श्रीमद्भागवत तथा देवी भागवत के सम्बन्ध में

इसका अर्थ है कि वायुपुराण और देवी भागवत तो निश्चित रूपसे पुराण हैं। इनके अतिरिक्त निम्न ग्रन्थ प्राप्त होते हैं -

१. गणेश पुराण २. सनत्कुमार पुराण ३. नृसिंह पुराण ४. वृहन्नारदीय पुराण ५. शिव धर्मोत्तर पुराण ६. दुर्वासा पुराण ७. कापिल पुराण ८. मानव पुराण ९. उषनस पुराण १०. वारुण पुराण ११. कालिका पुराण १२. साम्ब पुराण १३. नन्दिकेश्वर पुराण १४. सौर पुराण १५. पाराशर पुराण १६. आदित्य पुराण १७. ब्रह्माण्ड पुराण १८. माहेश्वर पुराण १९. भागवत पुराण २०. वाशिष्ठ पुराण २१. कौर्म पुराण २२. भार्गव पुराण २३. आदि पुराण २४. मुद्गल पुराण २५. कल्कि पुराण २६. देवी पुराण २७. महाभागवत पुराण २८. वृहद्धर्म पुराण २९. परानन्द पुराण ३०. पशुपति पुराण।

ऐसा नहीं है कि ये पुराण, अति पुराण और उपपुराण कम महत्वके हों और पीछेकी रचना माने जायें। इनमें से अनेककी चर्चा महाभारत तथा महापुराणों में आई है। इनमें केवल धर्म-चर्चा ही नहीं है, महापुराणों में और इनमें भी कथाएँ, धर्मोपदेश, आचार-विधान तो है ही, नानाप्रकारकी कलाओं तथा विद्याओंका वर्णन भी है। ये पुराण हिन्दू धर्मके विश्व-कोष हैं। इनकी भली प्रकार शोध की जाय तो प्रायः सभी कला एवं विद्याओंकी मूल कारिकाएं इनमें से उपलब्ध हो जायेंगी।

***

# अवतारवाद

अवतार शब्दका सीधा अर्थ होता है उतरना। जब कोई अपनी उच्च स्थितिसे निम्न अवस्था में आता है, तो उसे अवतरित होना कहते हैं। अपने नित्य निर्विकार स्वरूपसे, अपने आनन्दमय धामसे जब विश्वेश जगती में किसी भौतिकरूपमें आते हैं तो इन्हें अवतार कहते हैं।

अवतारकी एक दूसरी परिभाषा है। चेतनताका जिस सीमा तक विकास धरापर प्रकट हो सकता है उसे ऋषियोंने सोलह भागों में विभक्त किया। प्रत्येक भागको कला कहते हैं। जड़ पदार्थो पत्थर प्रभृतिमें एक कलाका विकास, वनस्पति तृण-वृक्ष आदिमें दो कलाका विकास, स्वेदज खटमल जैसे जीवोंमें तीन कलाका विकास, अंडज पक्षियोंमें और जरायुहीन पशुओं में चार कलाका विकास तथा जटायुज प्राणियों में पांच कलाका विकास माना गया है।

साधारण असभ्य और मूर्ख मनुष्य भी पांच कलाकी ही चेतना रखता है। मनुष्यों में साधनसे यह चेतना वृद्धि पाती है। जन्मसे प्रतिभाशाली भी उत्पन्न होते हैं। ऋषियोंने खोज की और बताया कि आठ कला तकका विकास मनुष्यमें सम्भव है। किसी भी साधनके द्वारा वह इससे आगे नहीं जा सकता। विश्वके प्रायः सभी महापुरुष (अवतार नहीं) आठ कला तक ही पहुँचे हैं।

ऋषियोंने बताया कि भौतिक शरीर आठ कलासे अधिक चेतनाको ग्रहण नहीं कर सकता। इससे अधिक चेतनाका प्राकट्य दिव्य शरीरोंमें होता है। वे ऐसे दिव्य रूप आविर्भूत होते हैं। कितनी चेतना उनमें प्रकट हुई इसी दृष्टिसे उन्हें उतनी कलाका अवतार कहा जाता हैं। सामान्यतः नौ से लेकर ग्यारह कलाओंके अवतार होते हैं। बारह कलाका अवतार मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरघुनाथजीका होता है। इसके पश्चात तेरह, चौदह, पन्द्रहका कोई अवतार नहीं। पूर्णावतार षोड़श कलाओंका श्रीकृष्णावतार है।

अवतार कई प्रकारके होते हैं। आवेशावतार प्रायः ऐसा अवतार है जो उच्चकोटिके महापुरुषोंमें प्रकट होता है। जब महापुरुष अपने अहं और मनको व्यापक चेतनमें लीन करके समाधिस्त होते हैं तो किसी प्रेमी भक्तकी भावना से उनके शरीर में आवेश होता है। अहं के न होनेपर स्थूल शरीर जो शव प्राय होता है, उत्कट भावना उस पवित्र शरीरमें चेतनका आकर्षण करती है। ऐसा तभी होता हैं जब उस महापुरुषने भी अपने ध्यानस्थ होने के पूर्व वैसा संकल्प किया हो। ऐसी अवस्था में प्रेमी भक्त को उस शरीर में अपने इष्ट देवके दर्शन होते हैं। श्रीरामकृष्ण परमहंसजी के शरीर में कई भक्तोंको अपने आराध्य के दर्शन हुये थे। गौरांग महाप्रभुमें तो प्रायः आवेश हुआ ही करता था।

दूसरे प्रकारका अवतार भक्तावतार है। साकेत, गोलोक प्रभृति दिव्य धामोंके निवासी मुक्त पुरुष प्रभुकी इच्छासे विश्वके कल्याण के लिये कभी-कभी जन्म लेते हैं। वे माया या कर्मके बन्धनसे आबद्ध नहीं होते। वे तो केवल प्रभुकी प्रेरणासे स्वतः आते हैं और संसारके सम्मुख अपने आचरणसे एक आदर्श रख जाते हैं। आचार्य रामानुज, रामानन्दजी, सूर, मीरा, तुलसी प्रभृति ऐसे अवतार माने जाते हैं।

तीसरे प्रकारके अवतार हैं कारक। विश्वका संचालन करने के लिये ब्रह्मा, शिव, यम, कुबेर प्रभृति रूपों में वही प्रभु अनेक रूपसे विराजमान हैं। देवताओंमें कुछ कर्म-योनियां हैं, जैसे इन्द्र। जो कर्मयोनि नहीं हैं, वे कारक माने जाते हैं और कल्प पर्यन्त रहकर सृष्टिका संचालन करते हैं।

कुछ लोग विभूति अवतार भी मानते हैं। विश्वके जिस पदार्थ या व्यक्ति में विशेष शक्ति प्रकट हो, वही विभूति। महर्षि शांडिल्यने बताया है कि विभूति अवतारोंकी उपासना नहीं करनी चाहिये। गीताके दशम अध्याय में विभूतियोंका संक्षिप्त विदर्शन है।

जब कोई भक्त प्रभुके दर्शनकी इच्छासे उपासना या तपस्या करता है तो अन्तमें उन करुणामयको उस प्रेमीकी टेक रखनेके लिये उसके अभीष्ट रूपमें आना ही पड़ता है। इस प्रकारका अवतार ध्रुवके लिये, मनु-शतरूपाके लिये तथा ऐसे और भी बहुतसे भक्तोंके लिये हुआ है। सतयुगमें तो यज्ञकी पूर्णता

बिना प्रभुके प्रकट हुए नहीं मानी जाती थी। इस प्रकारके अवतारको करुणावतार कह सकते हैं।

किसी भक्तपर आपत्ति पड़नेपर जब वह आर्त होकर प्रभुको पुकारता हैं तो उस समय उन भक्त-वत्सलसे नहीं रहा जाता। वे भक्तकी रक्षाके लिये तुरन्त आते हैं। प्रह्लादके लिये नृसिंहावतार, द्रौपदीके लिये वस्त्रावतार तथा गजेन्द्र प्रभृति अनेक भक्तोंके लिये ऐसे अवतार हुए हैं। ये रक्षावतार हैं।

सृष्टिके कार्य में जब कोई ऐसी रुकावट या बाधा पड़ जाती कि सृष्टि संचालक उसे दूर करने में असमर्थ होते हैं तो भी प्रभुका आविर्भाव होता है। वाराह, हयशीर्षादि अवतार इसीप्रकार के अवतार हैं। विश्वमें ज्ञानकी परम्परा स्थिर रखनेके लिये, सांसारिक लोगोंको सुलभ अध्यात्म पथ प्रदर्शित करने के लिये प्रभु प्रकट होकर अपने उपदेश और आचरणसे जगतीको मार्ग दिखलाते हैं। हंस, कपिल, व्यास, ऋषभ, दत्तात्रेय जैसे अवतार इसी ज्ञान प्रसारके लिये हुए थे।

सृष्टिमें जब तमोगुण प्रधान लोगोंकी प्रबलता हो जाती है और उससे सत्वगुण प्रधान देवताओंको कष्ट होने लगता है। धर्मका ह्रास होता है, धर्माचारी, भक्त, गो, विप्र आदि कष्ट पाने लगते हैं तो प्रभु उन तमः प्रधान लोगों के क्षयके लिये नानारूपों में अवतीर्ण होते हैं। कूर्म, मोहनी, राम, परशुराम, कृष्णादि अवतारोंका यही मुख्य प्रयोजन है।

जब कोई मुख्यावतार होता है और उसे अधिक समय तक विश्व में रहना होता है तो उसके साथ उसके व्यूह-संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध तथा विभव-रथ अस्त्र, प्रभृति एवं नित्यसहचर लक्ष्मीजी उद्धवादि भक्त भी अवतारके अनुकूल नामरूपोंसे अवतरित होते हैं।

मुख्यावतार दश और शेष चौदह व्यासादि कलावतार भी नित्यावतार हैं। अर्थात् ये प्रत्येक चतुर्युगीमें अपने-अपने समयपर सर्वदा प्रकट होते रहते हैं। स्मरण रखना चाहिये कि मुख्यावतारोंमें पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्रकी गणना नहीं होती। वहाँ बलरामजी माने जाते हैं। कृष्णावतार तो स्वेच्छावतार है और कुछ निश्चित नही रहता कि कब होगा।

इनके अतिरिक्त एक प्रकारके अवतार सदा रहते हैं, जैसे सृष्टि संचालन के लिये कारक देवताओं में होते हैं, वैसे ही अपनी शक्तिसे दिव्य शक्तियों को नियन्त्रित रखनेके लिये विश्व के प्रत्येक नगर या एक निश्चित भूखण्डके भीतर एक कारक पुरुष होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि वह मनुष्य शरीर में ही हों। वे प्रायः अपने को बहुत गुप्त रखते हैं और बाह्य दृष्टिसे उनमें कोई विशेषता नहीं होती। सब देशों में सब कहीं वे होते हैं। इनका शरीर साधारण लोगोंकी भाँति ही छूटता है और वैसे ही वे पचास-पचीस वर्ष रहते हैं। एक शरीरके छूटने के तुरन्त पश्चात् दूसरे शरीरमें वे प्रकट हो जाते हैं। फ़ारसी में ऐसे लोगोंको साहिब-ए-कदम कहते हैं।

अवतारोंमें से जो आविर्भूत होते हैं, बिना किसी बाह्य उपकरणका बहाना बनाये नृसिंह, वराह या करुणावतारोंके समान प्रकट होते हैं, वे अपने कार्यको झटपट समाप्त करके तिरोभूत हो जाते हैं। पर जो मनुष्यों की भाँति जन्मका नाट्य करके प्रकट होते हैं, वे पूरी मनुष्य-लीला करते हैं। व्यास कपिल प्रभृति तो कल्पान्त तक रहते हैं।

मुख्यावतारों तथा चौबीस कलावतारोंके लिये तो शास्त्रों में समय बताया गया है कि वे अमुक युगमें अमुक समय प्रकट होते हैं। उनके अतिरिक्त कोई नियम नहीं। प्रभु तो प्रेमाधीन हैं, जब कोई प्रेमी चाहे प्रकट कर ले। भक्तोंके तो वे नित्य संग रहते हैं। इस प्रकारके अवतार चाहे जब और जहाँ हो सकते हैं।

नृसिंह, वाराह आदि अवतारोंकी भाँति जो अवतार प्रकट होते हैं और फिर कार्य समाप्त करके तिरोहित हो जाते हैं, उनकी दिव्यतामें किसी को सन्देह होना ही नहीं चाहिये। किन्तु राम, कृष्णकी भाँति जो जन्मादिक मनुष्य लीला करते हैं, उनकी दिव्यताका अनुमान अत्यन्त कठिन हुआ करता है। गोस्वामीजीके शब्दों में-

**सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनिमन भ्रम होय।**

कारागार में बन्दी और जेलर दोनों जाते हैं। जेलर तो प्रायः जाया ही करता है और बन्दी तो छूटनेके पश्चात् फिर नहीं जाता। दोनों जाते एक ही द्वारसे हैं और एक ही स्थान पर। बन्दीको काम सिखलाने के लिये उदार जेलर कभी स्वयं भी थोड़ा काम करके उसे दिखला देता है। इतना सब होनेपर भी जेलर और बन्दीमें महान अन्तर है। जेलरको हम बन्दी नहीं कह सकते। वह स्वेच्छा से जेलमें आया है और जब चाहे तब जा सकता है। वह स्वाधीन है। किन्तु बन्दी तो बन्दी है। उसे तो न जानेकी स्वतन्त्रता है और न कार्य करने की। उसे जो कुछ कहा जायगा करना होगा। अपने पास आये जेलरको प्रसन्न करके वह छूट भी सकता है। जेल में होनेपर भी जेलर उसे छोड़ देने में समर्थ है।

अवतार के लिये उपरोक्त उदाहरण पर्याप्त है। जीव संसार में बन्दी हैं; मायाके पराधीन है। उसे अपने कर्मोंके अनुसार प्राप्त फलको भोगना होगा। प्रभु अवतार लेकर जीवकी भाँति संसारमें आते अवश्य हैं, पर वे आते हैं अपनी इच्छासे। वे मायाके अधीश्वर हैं, परतन्त्र नहीं। कर्मोंका बन्धन उनके लिये नहीं है। जीवोंको कैसे कार्य करना चाहिये? अपने कर्मोंसे वे इसका आदर्श उपस्थित करते हैं, या अपनी लीलासे कुछ करते हैं। वे कर्म करनेके लिये बाध्य नहीं होते। जीव उनकी आराधना करके, उनकी कृपा से इस मायाके बन्धनसे मुक्त हो सकता है।

हम मुखसे निर्गुण और निराकारका वर्णन कर सकते हैं, तर्कके द्वारा बुद्धिको दौड़ा भी सकते हैं, पर उसे पा भी सकते हैं - यह संदिग्ध है। प्राप्ति सदा समानकी होती है। जो सर्वथा विपरीत है, उसे पाया नहीं जा सकता। हमारे पास किसी भी वस्तुकी प्राप्ति-साक्षात्कारका एकमात्र साधन मन है। इन्द्रियाँ भी मनके संयोगसे ही कुछ उपलब्ध करती हैं, अन्यथा नहीं। मन सगुण है और 'बालाग्र शतभागस्य' कह कर शास्त्रोंने उसका आकार भी बतलाया है। अतः हम ऐसी ही वस्तुको उपलब्धकर सकते हैं, जिसमें सगुणता और आकृतिका कुछ न कुछ आभास हो।

मन सदा स्थूलके आधारपर सूक्ष्मका ग्रहण करता है। निराधार सूक्ष्मका ग्रहण असम्भव हे। पुष्पके आधार पर सुगन्धि, गुड़के आधार पर रस, पिताके स्थूल आकृति की सेवामें उनकी सेवा, यह नियम है। स्थूल को छोड़ दें तो सूक्ष्मको हम उपलब्ध नहीं कर सकते।

सच्ची प्राप्ति है हृदयमें दृढ़तासे उस वस्तुका रूप या गुण जम जाना। उसे हृदयकी वस्तु बना लेना। निर्गुण और निराकारकी कल्पना भी हृदय में नहीं आ सकती, उसका चिन्तन, ध्यान या प्राप्ति कैसे होगी ? उपासना या ध्यान सगुणका ही हो सकता है। आकृतिके बिना मन ठहरेगा नहीं। यह दूसरी बात है कि आकृति ज्योति, बिन्दु या मानव की रहे।

निर्गुण और निराकार तत्व जीवको उपलब्ध नहीं हो सकता। वह उसकी उपासनाका साधन नहीं, फिर जीव बन्धन से छूटे कैसे ? कृपा करके वही विभुसच्चिदानन्द-तत्व अवतारोंके रूपमें मूर्तिमान हो जाता है। वह सगुण और साकार इसलिये हो जाता है कि जीवमात्र अपने बन्धन से त्राण के लिये उसे उपलब्ध कर सकें। इस रूपमें हम उसकी उपासना, ध्यान, चिन्तन और प्राप्ति सब कुछ कर सकते हैं।

मूर्ति होकर भी तो वह आनन्दघन होता है। मनका सुखकी ओर प्राकृत आकर्षण है, अतएव मन उस मूर्तरूपकी ओर आकृष्ट भी होता है। यदि कहीं उसे उस आनन्द सिन्धुकी एक झाँकी मिल गयी, तब तो भूलकर भी वह इन संसारके तुच्छ विषय-भोगोंकी ओर देखना नहीं चाहता।

भगवान् सर्वसमर्थ हैं वे अवतार लिये बिना भी अपनी इच्छा मात्रसे धर्मकी रक्षा और असुर-नाश कर सकते हैं, किन्तु जो भाव भक्त उन्हें साक्षात् पिता, स्वामी, पुत्र, सखा आदि रूपमें पाना चाहते हैं उनकी भावनाको अवतार लिये बिना सर्व सम्पूर्ण भगवान् तुष्ट नहीं कर सकते। अतः मुख्य रूपसे ऐसे भक्तोंके लिये ही प्रभुको अवतार लेना पड़ता है।

भगवानका अवतार शरीर और जीवका शरीर बहुत अन्तर रखता है। जीवका शरीर मायाका कार्य है - मायिक है। उसका अणु-अणु मायिक होता है। त्रिगुण और पंचभूतोंसे निर्मित होने के कारण, उसमें कारण, सूक्ष्म और स्थूल

शरीरका भेद होता है तथा उसमें विकार होते रहते हैं। जन्म, वृद्धि, स्थिति, परिवर्तन, ह्रास और मृत्यु ये छः भाव विकार उसके साथ लगे रहते हैं। रोग, शोक, मोह तथा द्वन्दोंसे वह अभिभूत रहता है।

अवतार शरीर मायिक नहीं होता। वह व्यापक सच्चिदानन्द तत्वका घनीभाव होता है। वह मायिक नहीं, माया निर्मित नहीं। यह एक भ्रम है जो अवतारको माया विच्छिन्न समझा जाता है। वह शरीर न तो पाँच भौतिक होता और न त्रिगुणमय। इसीसे उसमें सूक्ष्म, स्थूल और कारण शरीरका भेद नहीं होता और न उसमें भाव विकार होते। द्वन्द और शोकादिसे वह परे होता है।

जैसे अग्नि कोयले में प्रकट होता है। यहाँ कोयला कारण होता है। अग्निको कोयले से पृथक नहीं किया जा सकता। जीवका शरीर ठीक इसी प्रकार माया समन्वित है। अग्निका दूसरा प्राकट्य है दीपककी ज्योति। यहाँ अग्नि दीपक बत्ती आदि को तटस्थ उपादान कारण बनाकर प्रकट हुई है। ज्योति बत्तीके अनुसार पतली या मोटी अवश्य होगी, पर ज्योतिमें बत्ती या तेल नहीं। वह विशुद्ध अग्नि है। प्रभु इसी प्रकार मायाको तटस्थ उपादान बनाकर प्रकट होते हैं। अवश्य ही जिस भाव या जिस गुणको वे तटस्थ उपादान बनाते हैं, उसके अनुसार अवतार सौम्य, रौद्र, घोरादि आकृतिका होता है, पर वह आकृति होती है विशुद्ध सच्चिदानन्दघन, उसमें माया या किसी गुणका लेश भी नहीं।

नाटक और कार्य एक नहीं होता। रावणका नाट्य करनेवाला पात्र रावण नहीं कहा जा सकता और न उसमें वे गुण ही आते। प्रभु प्रकट होकर स्वेच्छासे जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति आदि तीनों शरीरोंके कार्योंका, जन्म, वृद्धि आदि विकारोंका, शोकादिका तथा द्वन्दोंका भी नाट्य करते हैं। वे वैसा न करें तो मानव-लीलापूर्ण कैसे हो? पर यह सब उनमें होते नहीं।

जैसे वामन भगवान देखते-देखते उसी शरीरसे विराट् हो गये, वैसे ही प्रभुके शरीर में जन्म, वृद्धि, ह्रास प्रभृति उनकी इच्छासे प्रदर्शित होते हैं। हमारी भाँति वे विकारी नहीं होते। इस प्रकार यदि वे मायाको तटस्थ उपादान बनाकर न प्रकट हों तो हमारे मायिक नेत्र और हृदय उन अमायिकको पावें कैसे। मायिक हृदय तो उसीको ग्रहणकर सकेगा जो कुछ-न-कुछ मायाके सम्पर्क में

हो। अतः दया करके प्रभु हमारे लिये मायाके सम्पर्क में आते हैं और तब भी उससे अलिप्त रहते हैं।

अवतार क्या और कैसे ? के विषय में इतना और कहना है कि नित्य प्रभुके सब अवतार और उनके सब रूप नित्य हैं। साकेत, वैकुण्ठादि नित्य-लोकोंमें जो कि ब्रह्मकी त्रिपाद्-विभूति में हैं और जिनके विषय में श्रुति कहती है -

**पादोस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।**

एक पाद (अंश) में तो समस्त ब्रह्माण्ड हैं और शेष तीन पादमें दिव्य अमरधाम। इन्हीं धामोंमें नित्य लीलाएँ हुआ करती हैं। प्रभुकी इच्छासे उन्हीं लीलाओं का कभी-कभी जगती में आविर्भाव हो जाया करता है।

दिव्य धाम कितने हैं ? इनकी कोई संख्या नहीं। जितने भी प्राणी हैं और उनके अंतःकरण में जितने भी भाव आ सकते हैं, उतने दिव्य-धाम होने चाहिये। क्योंकि कोई भी प्राणी, अपनी किसी भी भावनाको दृढ़ता से अवलम्बन करके उसी भावना के अनुसार रूप में प्रभुको प्राप्तकर सकता है और उसी प्रकारके लोककी उसे प्राप्ति होगी। प्रभुकी प्रत्येक लीला, प्रत्येक रूप और प्रत्येक धाम नित्य हैं। अतः प्रत्येक भावके अनुसार धाम होने ही चाहिये।

मैं इसे यों सोचता हूँ - जीवके उद्धारके लिये ही उसे भावोंकी सम्पत्ति मिली है। जितने दिव्य धाम हैं, उतने ही भाव। उससे अधिक भाव किसी भी अन्तःकरण में नहीं आ सकते। हम भावोंका दुरुपयोग न करके किसी भी एक को पकड़ लें तो वह हमें मायासे पार करने में समर्थ है। दिव्य धामोंकी कोई लीला या मूर्ति जब विश्वमें प्रकट होती है तो उसे अवतार कहते हैं।

***

# त्रिपाद् विभूति

**पादोस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।**

ब्रह्माके एकांश में तो यह निखिल ब्रह्माण्ड प्रकृतिका समस्त विस्तार है और शेष तीन पादमें अमृत-अनश्वर दिव्यलोक हैं। भगवती श्रुति इस मन्त्र के द्वारा स्पष्टत: नित्य धामोंकी ओर संकेत करती है। ये नित्य-धाम गोलोक, साकेत, शिवलोक, वैकुण्ठ प्रभृति हैं। गोपाल-तापनी, राम-तापनी प्रभृति उपनिषदों में इनका वर्णन है। दुर्भाग्य से ग्यारह सहस्त्र से भी अधिक उपनिषदों में से आजकल केवल सौ के लगभग पाये जाते हैं। यदि शेष सब उपनिषद मिलते तो सम्भव था कि हमें उन दिव्यलोकों में से और भी बहुतों का पता मिलता।

श्रुति, उपनिषद और पुराण सब एक स्वरसे कहते हैं कि वे लोक अमायिक हैं। माया उन्हें स्पर्श भी नहीं कर सकती। वे नित्य हैं, महाप्रलय में भी उनका नाश नहीं होता। वे निर्विकार हैं उनमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। निर्गुण ब्रह्म ही वहाँ लोकों और उनके अधीश्वरों के रूपमें घनीभूत होकर सगुण हो गया है। वहाँ का सब कुछ चिन्मय और नित्य है। भक्तोंकी भावनाकी सफलता के लिये ही उनकी स्थिति है।

विश्वमें जितनी भावनाएँ हो सकती हैं, उतने नित्य-धाम हैं। मनुष्यको अनन्त भावनाएँ नहीं मिली हैं। हम चाहे भावनाओंकी संख्या न जान सकें, पर उनकी सीमा है। संसारके सब प्राणी उसी सीमा में रहकर कोई-न-कोई भावना करते रहते हैं। यद्यपि प्रतिक्षण ऐसा लगता है कि नवीन नवीन भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, किन्तु वे उत्पन्न नहीं होती। वे प्रकृतिमें हैं और मन जब उस भावनाके स्तर में पहुँचता है, वह मन में आ जाती है। जो भावना पहले से प्रकृतिमें न

हो, मनमें नहीं आ सकती। जो नहीं है, वह उत्पन्न नहीं हुआ करता, यह भगवानने गीता में बताया है।

प्रकृतिके कुछ मानसिक स्तर हैं, दिव्य धामोंके प्रतिबिम्ब इन्हें कह सकते हैं। एक स्तरमें वही भाव हैं, वैसी ही कल्पना है जैसा कि उस भावके अनुसार त्रिपाद विभूतिका नित्य-धाम। कोई मन जिस क्षण जिस स्तर में होता है, उसी भावनाको ग्रहण करने लगता है। यह कार्य ठीक उस प्रकार होता है, जैसे रेडियोका ग्राहक यन्त्र जिस स्तरमें कर दिया जाता है, वहीं से आते शब्दको ग्रहण करके बोलने लगता है। इन स्तरोंकी संख्याकी यद्यपि हम कल्पना नहीं कर सकते, पर हैं वे सीमित। वे उतनी हैं जितनी भावनाएं सब प्राणियोंके मनमें आतीं या आ सकती।

योगी या परिचित विज्ञानी (टेलीपैथ) इस सिद्धान्तके आधारपर दूसरे के चित्तकी बातें बताते हैं कि एक स्थितिमें जितने व्यक्तियोंके मन होंगे, उनमें एक ही भावना उठेगी। वे किसी व्यक्तिके चित्तकी बात बतलाने के लिये अपने मनको उस स्तर में पहुँचाते हैं, जिसमें उसका मन है। फिर वे अपने मनकी भावनाओंको कह देते हैं। दूरस्थ व्यक्तिके उपयोग में लाये वस्त्रको हाथमें लेकर उसके स्वभावका वर्णनकर देनेवाले भी मिलते हैं। वस्त्रमें उसके मानसिक परमाणु होते हैं। बताने वाले अपने मनको उन परमाणुओंके स्तर में पहुँचाकर देखते हैं कि उस स्थिति में रहने वाले मनकी गति स्वत: कहाँ होती है। उसीके अनुसार वे उस व्यक्तिका स्वभाव बतलाते हैं।

यदि मनमें भावनाओं की उत्पत्ति होती तो कोई भी किसी के मनकी बात ना जान सकता। किन्तु दूसरेके मनकी स्थितिमें अपना मन पहुँचाते ही अपने मनमें वही बातें उठती हैं जो दूसरेके मनमें। यह बात बतलाती है कि वह भावना मन नहीं, वह तो उस मानसिक स्तर में ही है और जो मन वहाँ पहुँचेगा उसे वही भावना प्राप्त होगी। इस प्रकार जितनी भी भावनाएँ जगतमें आ सकती हैं, उतने ही प्रकृतिमें मानसिक स्तर मानने होंगे।

साम्यावस्थाके समय में प्रकृति में कोई स्तर तो होता नहीं। महाप्रलय हो जानेपर प्रकृति शान्त, अचंचल हो जाती है तब फिर ये स्तर उसमें चंचल

होनेपर कहाँसे आते हैं? विश्व तो क्या यह एक ईश्वरीय नियम है कि जो सब कहीं है, वह एक स्थानपर भी। जो व्यष्टिमें है वही विस्तृत रूपसे समष्टि में। इसी प्रकार यह एक पादका मायिक विश्व त्रिपाद विभूतिका व्यष्टि है। यही मूल तत्व और प्रकृति जड़ तो किसी भी प्रकार इस सगुण-साकार संसारकी अभिव्यक्ति सम्भव नहीं। अरूप और निर्गुणसे सरूपकी सृष्टि नहीं हो सकती। सर्वथा विजातीयसे न तो संयोग होता और न उसकी उत्पत्ति। वस्तुतः तो त्रिपाद विभूतिकी समष्टि प्रकृतिकी व्यक्तिमें अभिव्यक्त होती है। यद्यपि यह स्थिर और नित्यकी अभिव्यक्ति है, पर प्रकृतिकी चंचलताके कारण उसमें चांचल्य प्रतीत होता है। चंचल जलमें पड़ा सूर्यका प्रतिबिम्ब चंचल ज्ञात होता ही है।

दिव्यधामोंका स्वरूप प्रकृतिमें सूक्ष्मरूपसे आता है। इसे प्रतिबिम्बित होना कहना ठीक रहेगा। इसीको मानसिक स्तर कहते हैं, जो धामों के अनुसार और उतना ही होता है। यही मानसिक स्तर फिर स्थूल रूपोंमें प्रकट होता है। क्योंकि संसार लोगोंके मानसिक भावोंका परिणाम है, हम वही करते या बनाते हैं जो हमारी इच्छा होती है। हमारी अपनी आकृति भी माता-पिताके विचार तथा संस्कारोंसे बनी है। अतः यह कहा जा सकता है कि विश्वका स्थूल रूप उन्हीं सूक्ष्म भावोंका परिणाम है।

दिव्यलोक भावनाओंके अनुसार ही हैं या दिव्य लोकोंके अनुसार ही भावनाएं हैं, इसे दूसरे प्रकारसे देखें। शास्त्र दो सिद्धान्त बतलाते हैं, पहला तो यह कि किसी भी भावनापर स्थिर हो जाने से, उस भावनाको दृढ़ बनाकर उसपर अनन्य होकर निर्भर होने से भगवत्प्राप्ति हो जाती है। दूसरा यह कि भगवानकी सभी लीलाएं नित्य हैं। इन दोनों बातोंपर मनन करनेसे लोकों के अनुसार ही भावना, यह सिद्धान्त समझ में आ जावेगा।

किसी भी भावनापर कोई भी दृढ़ हो जाय तो उसे भगवत्प्राप्ति होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि जितनी भी भावनाएँ मनमें आती हैं, उनमें से प्रत्येक प्रभु तक पहुँचा देने में समर्थ है। इसका यह भी अर्थ होगा कि प्रत्येकका प्रभुसे सम्बन्ध है। यदि ऐसा न होता तो वह पहुँचाती कैसे? कोई भावना उग्र होती है और कोई सौम्य। उग्र भावनाका सम्बन्ध अपने विरोधी सौम्य रूपसे तो हो नहीं

सकता, अतः मानना पड़ेगा कि ऐसा भी प्रभुका रूप है जो उससे सम्बन्ध रखता है। जब सभी भावनाएँ प्रभुको प्राप्त करा सकती हैं तो सबके अनुसार उनसे सम्बन्ध रखने वाले प्रभुके रूप होने चाहिये।

प्रत्येक भावना एक दिव्यधाम से सम्बन्ध रखती है। भावनाएँ जीवके लिये प्रभुकी ओरसे एक ऐसा सहारा दिया गया है, जैसे किसी यात्रीको गन्तव्य और मार्गका नक्शा दे दिया जावे। हम किसी भी भावपर दृढ़ होकर प्रभु तक पहुँच सकते हैं। पर अज्ञान एवं बाह्य प्रवृत्तिके कारण हमारी दशा उस यात्री की भाँति हो रही है जो एक मार्ग से न चलकर केवल मार्गोंको बदलने में ही लगा है।

भगवान् की सभी लीलाएँ नित्य हैं। अवतारोंके बाल चरितसे लेकर तिरोभाव तककी एक-एक क्रियाएँ नित्य हैं। नित्यका अर्थ होता है जो पहले भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा। कोई लीला नित्य है, इसका अर्थ होता है कि वह लीला सदा होती रहती है। भगवान की बाललीला, रासलीला, पार्थका रथ हाँकना प्रभृति सदा होती रहती है। पर वे संसारकी दृष्टि में परिवर्तित होती रहती हैं। क्योंकि वह क्रमशः आविर्भूत और तिरोभूत होती रहती हैं। जो भक्त जिस लीलाको चाहता है, वह लीला उसके लिये नित्य रहती है। वह उसे सदा देखता है। माता को प्रभुका सदा बालरूप दृष्टि पड़ता और गोपियोंको बालपनमें भी किशोर रूप।

सिनेमामें एक दृश्यकी एक फिल्म होती है। दृश्यों के साथ फिल्में बदलती रहती हैं। दर्शक समझते हैं वही आदमी जो हँस रहा था, अब रोने लगा। पर हँसने वाली फिल्म और थी तथा रोनेवाली और। दोनोंकी आकृति में इतना सादृश्य था और एक के हटने के पश्चात् दूसरी इतनी शीघ्रता से आई कि दर्शकोंने एकके हटने और दूसरेके आनेका अनुभव ही नहीं किया। पर हँसता फिल्म न तो बदला और न नया आया। रोना फिल्म भी पहले से था। यदि कोई चाहे तो सदा हँसता फिल्म देख सकता है और उसी समय दूसरे रोते फिल्म भी। क्योंकि वे दोनों सर्वथा पृथक हैं, एक दूसरेका रूपान्तर नहीं।

प्रभुकी सभी लीलाएँ नित्य हैं, जैसे सभी फिल्में स्थायी हैं। बाल-लीलाकी एक चेष्टा जो नित्य होनेपर तिरोहित थी, प्रकट हुई और उसके पश्चात् वह तिरोहित तथा दूसरी प्रकट। पूरी अवतार लीला इसी प्रकार पूर्ण होती है। बालकृष्ण ही बढ़कर पार्थ-सारथि नहीं बनते। वह तो प्रत्येक रूप नित्य हैं, पृथक हैं और उनके दिव्यधाम में वे सर्वदा रहते हैं। भक्त जैसी भावना करे वैसे रूपमें उसके सामने सर्वदा रहते हैं।

भगवानका दर्शन उसी रूपमें होगा, जिसमें भक्त चाहे। यह बात सभी मानते हैं और यह भी मानते हैं कि प्रभुका प्रत्येक रूप नित्य है। जो रूप नित्य है, वह भक्तकी भावनाके समय तो प्रभुने धारण न किया होगा, वह तो पहले से था और फिर भी रहेगा। दर्शनके समय केवल भक्तके सम्मुख अभिव्यक्त होता है। जब भक्त जैसी भावना करे वैसे रूपमें दर्शन होना माना जाता है और यह भी माना जाता है कि प्रत्येक रूप नित्य होता है तो यह मानना पड़ेगा कि समस्त प्राणीमात्र भक्त बन सकते हैं, अतः कोई भी - सब लोग जितनी भावनाएँ कर सकते हैं, लोगों के मनमें जितनी भावना आ सकती हैं, प्रभुके उतने रूप हैं। अथवा प्रभुके जितने रूप हैं उतनी ही भावनाएँ प्राणियों में आ सकती हैं। धाम तो एक रूपकी दिव्य क्रीड़ा भूमि है। अतः उतने ही धाम मानने ही पड़ेंगे।

शास्त्रोंमें कुछ धामोंका वर्णन आता है। लोग उसे देखकर चौंकते हैं कि एक शास्त्रमें एक धामको प्रधान बताया गया तो दूसरे में दूसरेको। एकमें एक धामका विस्तार कुछ है तो दूसरेमें कुछ। इस विरोधका कारण वे समझ नहीं पाते तथा शास्त्रोंपर आक्षेप करते हैं। सच्ची बात तो यह है कि एक शास्त्रमें एक ही दिव्य धामका वर्णन होता है। दूसरे धामों का या तो होता ही नहीं, यदि कहीं थोड़ी बहुत चर्चा करनी पड़ी तो दूसरे धाम या उसके अधिष्ठाताका वर्णन अभिन्न बताकर या समान बताकर किया जाता है। शिव पुराणमें केवल कैलाशका वर्णन और विष्णुपुराण में केवल वैकुण्ठका वर्णन है। एकमें दूसरेका वर्णन नहीं।

सृष्टि एकाकी कहीं नहीं रहती। प्रधान अप्रधानके भेदसे सबमें सब रहते हैं। जैसे पृथ्वी में पंच तत्व हैं, पर वहाँ पृथ्वी प्रधान है। जलमें पृथ्वी गौण

तथा जल प्रधान है। दूसरे तत्वोंका तारतम्य भी दोनोंमें समान नहीं। मनुष्य शरीरमें पूरा ब्रह्माण्ड है - सूक्ष्म रूपसे मनुष्य शरीरका वर्णन करने के लिये पूरे ब्रह्माण्डका वर्णन करना होगा, किन्तु वहाँ पशु और देवता सब गौण रहेंगे। पशु शरीरका वर्णन करने लगें तो वहाँ मनुष्यका गौण रूपसे वर्णन होगा।

दिव्य धामोंकी भी यही दशा है। एक धामके भीतर दूसरे सब धाम और उनके अधिष्ठाता गौणरूपसे रहते हैं। इन लोकान्तर्गत लोकों का भी प्रधानता- अप्रधानताकी दृष्टिसे एक तारतम्य होता है। दूसरे धाममें यह धाम भी गौणरूपसे होगा। वहाँ लोकान्तर्गत लोकों की प्रधानता-अप्रधानताका क्रम भी दूसरा मिलेगा।

शास्त्र जिस दिव्यलोकका वर्णन करते हैं, उसके प्रधान-प्रधान अन्तर्गत लोकों तथा उनके अधिष्ठाताओंका वर्णन भी उनमें आता है। वह वर्णन वहाँ प्रमुख बताकर आवेगा ही। वहाँ तो प्रधान लोक तथा उसके अधिष्ठाता ही प्रधान हैं। दूसरे लोकमें यह लोक अप्रधान होता है, इसके अधिष्ठाताका रूप वहाँ लोकान्तर्गत लोकके अधिष्ठाता के वेशमें है। अतएव जब दूसरे लोकका कोई शास्त्र वर्णन करने लगेगा तो वह पहले शास्त्रके प्रधान लोकका वर्णन क्यों करने लगा। वह तो अपने वर्णनीय लोकमें जो उसका प्रधान रूप है, उसीका वर्णन करेगा।

शास्त्रोंको एक ही लोकका वर्णन करनेवाला मान लेनेसे यह भ्रम होता है कि उनमें परस्पर वैषम्य है। हमें समझना चाहिये कि वे पृथक-पृथक लोकोंका वर्णन करने के लिये प्रवृत्त हुए हैं और अपने उदिष्ट लोकके अन्तर्गत लोकोंका वर्णन उनमें अप्रधान रूपेण होता है। जहाँ किसी दूसरे प्रधान लोककी चर्चा आती है, वे उसे अपने प्रधान लोकके बराबर या परस्पर अभिन्न बतलाते हैं।

दिव्यलोक क्या है? यह विषय बुद्धिके बाहरका है। बुद्धि मायाका कार्य है और मायाकी वहाँ पहुँच नहीं, मनुष्यके पास ऐसा कोई साधन नहीं कि वह उनका विश्लेषण कर सके। शास्त्रोंमें सर्वज्ञ महर्षियोंने जो कुछ बताया है, उसे सत्य मानकर तब कुछ सोचा जा सकता है। केवल हिन्दूशास्त्र ही नहीं, संसारके प्रायः सभी आध्यात्मिक धर्मोंके प्रवर्तकों ने कोई न कोई दिव्यलोक माना है।

और उनका वर्णन उनके धर्मग्रन्थों में मिलता है। विश्वके सब धर्मप्रवर्तक झूठे रहे होंगे, ऐसा सोचने वाला या तो पागल होगा या फिर घोर नास्तिक।

दिव्यलोक हैं, इसका प्रमाण हमारा यह विश्व है। 'सृष्टि' प्रकरण में यह चेष्टा करूँगा कि सृष्टिका दिव्य लोकोंसे सम्बन्ध बताया जा सके। यहाँ तो इतना बता देना है कि पूर्णतः निर्गुण ब्रह्म और जड़ प्रकृतिका न तो संयोग हो सकता और न इतने बड़े जगतकी उत्पत्ति। जड़में कोई गुण या आकृति तभी आती है जब वह प्रेरक चेतनमें पहलेसे हो। लकड़ी से मेज या कुर्सी तभी बनेगी जब पहलेसे उनकी आकृति बढ़ईके मस्तिष्क में आ जाये, मकानका नक्शा मनमें न हो तो मकान कैसे बनेगा?

कुछ लोग विश्वको संयोगज बतलाते हैं। जैसे गीली मिट्टीपर पत्थर गिरनेसे कुछ बन जावे। नदीकी रेतमें लहरोंके प्रहारसे कोई चित्र बन जाय। पर ऐसी संयोगज वस्तुएँ स्थायी नहीं होती। उनमें व्यवस्था नहीं होती। सृष्टिमें जो नियम और व्यवस्था है, जिसे देखकर बड़े-बड़े वैज्ञानिक चकरा उठते हैं, वह सब संयोग नहीं कही जा सकती।

ये भावनाएं, ये आकृतियाँ, यह ज्ञान और प्रकृतिके आश्चर्यजनक कार्य एवं नियम जड़ प्रकृतिमें कहांसे आये? साम्यावस्थासे क्षुब्ध होकर प्रकृतिने यह सब कैसे पा लिया? प्रकृतिके प्रेरकमें यह सब होना चाहिये। शास्त्र यही कहता है। पुराणोंके अनुसार बार-बार भगवानने भक्तोंको अपने भीतर समस्त विश्व दिखलाया है। सृष्टिके समय ब्रह्माने अपने भीतर ही सब कुछ देखा था।

दिव्यधाम परस्पर अभिन्न हैं। भेद व्यापदेशक मायाकी वहाँ पहुँच नहीं। एक ही चिन्मय तत्व जो सर्वत्र विभु है कहीं किसी रूपसे घनीभूत हो गया है और कहीं किसी रूपसे। दो नित्य धामोंका अन्तर भी वही तत्व है और धामोंके स्थान, भवन, भूमि, वृक्षादि, वाहन तथा अधिष्ठाताके रूपमें भी वही घनीभूत हुआ। आकृतियाँ अनेक अवश्य हैं, पर वे बनी एक ही तत्वसे हैं।

धाम उतने हैं जितनी भावनाएँ। भावनाएँ शान्त, क्रूर, उग्र, ऐश्वर्य तथा मिश्रित प्रकारकी सहस्त्रों होती हैं, अतएव धामोंकी आकृति भी वैसी ही है। कोई घोर, कोई सौम्य, कोई सुन्दर, कोई भयंकर इस प्रकार अनेक प्रकारके धाम हैं।

उनकी आकृति चाहे जो हो पर हैं वे एक तत्वके। चीनीके खिलौनोंमें जैसे शेर और आममें कोई भेद नहीं। दोनों चीनी हैं, आकृति मात्र दो हैं, वैसे ही सब धाम चिन्मयतत्वके घनीभाव हैं। केवल बाह्य रूपका अन्तर है।

भावना सृष्टिके जिस स्तरमें अवतरित होती है उस स्तर में जिस का मन पहुँचता है, उसमें वैसी भावना उठती है। वह पुरुष उसके अनुसार कार्य करता है। फलतः उस भावना के अनुसार स्थूल जगत बनता है। प्रायः मन एक स्तर में अधिक देर ठहरता नहीं। वह किसी भावनाको पूर्णतः नहीं ग्रहण कर पाता। उसके कार्य अधूरी ग्रहण की गयी कई भावनाओंके फल होते हैं। विश्व में इसीसे किसी व्यक्तिका कार्य प्रायः पूर्णतः विशुद्ध नहीं मिलता।

जब कोई भावुक एक भावनाकी उपासना करने लगता है तो उसका मन एक स्तर में स्थिरप्राय रहता है। उस स्तर में जिस दिव्य धामकी भावना अवतरित होती है, उससे उसके मनका सम्बन्ध हो जाता है। शरीर छूटनेके पश्चात् भी उसी सम्बन्धके द्वारा वह आकर्षित होकर उस नित्यधाममें पहुँच जाता है। वहाँ माया नहीं है, अतः वहाँ से पुनः विश्वमें लौटना नहीं पड़ता।

***

# मूर्तिपूजा

यह ठीक है कि मूर्ति पूजा के नामपर समाजमें कुछ लोगोंने अपने स्वार्थका साधन किया है, कहीं-कहीं भोली जनता ठगी गयी है, किन्तु ऐसा केवल इसी साधनका दुरुपयोग हुआ हो, यह बात नहीं। सभी जानते हैं कि मुसलमान और ईसाई मूर्तिपूजक नहीं हैं। पर मौलवियों और पादरियोंने धर्मकी आड़ में जो कुछ किया वह हमारे पुजारी त्रिकालमें नहीं कर सकते। करना चाहें तो उन्हें ऐसा करने कौन देगा?

एक समय यूरोप में पादरी शासन सत्ता अपने हाथमें रखते थे। शासन उनके हाथकी कठपुतली होता था। बड़े-बड़े डाकुओंसे रुपया लेकर उन्हें सर्टिफिकेट दे दिया जाता "तुम्हारे पिछले और आगे सब पाप क्षमा किये।" शासक उसे दण्ड नहीं दे सकते थे। यद्यपि आज वह युग नहीं रहा, किन्तु रोमके पोपकी आज्ञाओंकी सर्वथा उपेक्षा मुसोलिनी भी नहीं कर पाता था। स्पेनमें पादरियोंने कई बार खुल्लमखुल्ला देशद्रोहियोंका साथ दिया। रूसमें तो उनकी यह नीति हो गयी थी कि जारके सभी अनुचित कार्योंको धर्मसंमत बताया जावे।

टर्कीमें कमालपाशाको मुल्लाओंके विरुद्ध इसीलिये खड़ा होना पड़ा कि वे देशोन्नतिके रोड़े थे। भारतमें मुसलमानी शासनकालमें काजी केवल मौलवियोंकी आज्ञाका वाहक मात्र था। ये लोग धर्म के नामपर अपनी कुत्सित वासनाको कहाँ तक ले जाते थे, यह वीभत्स प्रसंग हम नहीं उठायेंगे।

धर्म बुरा नहीं होता। किन्तु धार्मिक अधिकार जब स्वार्थी एवं विषयी लोगोंके हाथमें चले जाते हैं तो वे लोग साधारण जनताकी उस श्रद्धासे, जो धर्माध्यक्षों के प्रति होती है, लाभ उठाकर धर्मके नामपर अपने घृणित स्वार्थकी पूर्ति करते हैं। यह सिद्धांत धर्मके ही लिये हो सो भी नहीं। राजनीति, विज्ञान,

कला सबमें यही होता है। स्वार्थी एवं विलासी व्यक्ति कोई भी अधिकार पाकर उसका दुरुपयोग करता है।

हम मानते हैं कि मूर्तिपूजा के नामपर कुछ लोगोंने अपने स्वार्थकी पूर्ति की और कुछ सीमा तक अनाचार भी फैलाया, पर क्या देश-भक्तिके नामपर ऐसा नहीं हुआ? चन्देके पैसे खानेवाले देशभक्त नहीं हैं? विधवा आश्रम और पुनर्विवाह के नामपर क्या स्त्रियोंका व्यापार नहीं होता? यदि जनताका रुपया व्यर्थ उड़ाने और अनाचार फैलानेका दोष किसी भी देश में किसी भी समय सबसे अधिक रहा है तो वह रहा शासक वर्ग में। क्या इसीलिये सब प्रकारका शासन नष्ट करके अराजकताका प्रसार कर देना समाजको अभीष्ट है?

किसी वस्तु या रीतिका दुरुपयोग हुआ या होता है, इसलिये उसे नष्ट कर देनेकी कल्पना मूर्खता है। विश्वमें ऐसी कोई शक्ति नहीं जिसका दुरुपयोग न हुआ हो। जहाँ तक मूर्ति पूजाका सम्बन्ध है हिन्दूशास्त्रोंने मन्दिरोंके अधिकार इतने व्यवस्थित रखे हैं कि उनका दुरुपयोग भी अपनी सीमा तक हो सकता है। मन्दिरका अध्यक्ष पोपकी भाँति शासन में हाथ नहीं डाल सकता। यदि वह दुरुपयोग भी करेगा तो उसी पैसेका जो स्वेच्छा से जनता वहाँ चढ़ा आवे। जनताको अधिकार भी है कि वह चाहे तो उस अध्यक्षको हटा दे।

किसी नियमका दुरुपयोग होता हो तो उसमें सुधार की आवश्यकता होती है। यदि उसे नष्ट करने योग्य मान लिया जावे तो फिर कोई व्यवस्था, कोई नियम चलने योग्य नहीं। सबका दुरुपयोग होता है और हो सकता है। अवश्य व्यवस्थाकी विकृतियोंका सुधार होना चाहिये। सुधार की भी एक सीमा है। सुधार होगा व्यवस्थाको रखते हुए, उसके दोषोंको दूर कर देनेके लिये। जो सुधार मूल व्यवस्थापर आघात करे वह सुधार नहीं।

कोई बुद्धिमान यह नहीं कहेगा कि मन्दिरोंमें जहाँ कुछ गड़बड़ी आ गयी हो उसका सुधार न हो, यह सुधार तो सदासे होता आ रहा है और होगा। आचारहीन लोग तो सदासे वहाँसे हटाये जाते रहे हैं। किन्तु ऐसा कोई सुधार हिन्दू जनता नहीं सह सकेगी जो मूर्ति पूजापर ही प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष आघात हो।

मूर्ति पूजाकी आवश्यकता क्या? आज ऐसा प्रश्न करनेवालोंका बाहुल्य हो रहा है। सच्ची बात तो यह है कि मनुष्यके मनकी कुछ रचना ऐसी हुई है कि वह मूर्तिकी उपासना किये बिना रह नहीं सकता। साकार प्रतीकोपासनाका खण्डन करनेवाले या तो मनोविज्ञानसे शून्य होते हैं या जान बूझकर लोगोंको भ्रान्त करते हैं। यह दूसरी बात है कि प्रतीकोपासनाकी एक प्रणाली नष्ट कर दी जावे, किन्तु उसी समय वह दूसरा रूप रखकर समाज में प्रचलित हो जायेगी।

सबसे बड़ा मूर्ति पूजाका विरोधी है इस्लाम धर्म। आपने कभी सोचा हैं कि पश्चिम ही मुख करके नमाज क्यों पढ़ी जावे? काबा पश्चिममें है। तब काबेका वह पत्थर मूर्ति नहीं है? मक्का शहर क्या अमूर्त है। हमने एक छोटी मूर्तिकी पूजा की, और किसीने बड़े शहर या देशकी मूर्ति की। ईसाइयोंके सम्प्रदाय में तो ईसाकी मूर्तिकी पूजा होती है, पर जो ऐसा नहीं करते वे भी किसी न किसी रूपमें मूर्तिकी शरण लेते हैं।

मुसलमान कुरानकी पूजा करते हैं यह कहना अनुचित न होगा। फूल चढ़ाना मात्र पूजा नहीं होता यह झूठी बात होगी, यदि हम कहें कि वे कुरानकी आयतोंकी उपासना करते हैं। वे पुस्तककी उपासना करते हैं, विश्वास न हो तो किसी मुसलमानके सम्मुख कुरानका अपमान करके देखो। पर ऐसा करते समय उनके छुरेसे सावधान ! हिन्दू वेदोंकी, ईसाई बाइबलकी, इस प्रकार सभी ग्रन्थ पूजा करते हैं। यह मूर्तिपूजा का एक रूपमात्र है।

राष्ट्रीय झण्डेका आदर आज नास्तिक भी करता है। झण्डेकी सलामी, झण्डेका अपमान और उसपर होनेवाले विवाद तथा कभी-कभी घोर द्वन्द्व क्या बताते हैं? झण्डेमें क्या मानापमान के अनुभवकी शक्ति है? वह नन्हा सा वस्त्र-खण्ड क्या राष्ट्र है? पर हमने उसे राष्ट्रका प्रतीक मान लिया है, अतः उसका अपमान राष्ट्रका अपमान है। यह है प्रतीकोपासना। राजदूतका अपमान राष्ट्रका अपमान माना जाता है, इसीलिये कि वह उस राष्ट्रका उस समय प्रतीक है।

बिना प्रतीकके विश्वका कार्य चल नहीं सकता। झण्डेके बदले भूमि की उपासना भले हो, पर वह भी प्रतीक होगी। राष्ट्रका अर्थ उसमें रहने वाला जन-समूह, पर पूरे समूहकी कभी उपासना नहीं हो सकती। सन्धि और विग्रह

सब समाज प्रतिनिधिके द्वारा करता है, यह प्रतिनिधि उस समाजका प्रतीक होता है।

सब जानते हैं कि प्रतीक या प्रतिनिधि जब तक प्रतीक के रूपमें है, उसका अपना कोई व्यक्तित्व नहीं होता। उसे उस दृष्टि से ग्रहण किया जाता है जिसका वह प्रतिनिधि है। एक समाज या राज्यका प्रतिनिधि अपनी विद्या-बुद्धिके अनुसार सम्मानित नहीं होता, उसका सम्मान वह जिसका प्रतिनिधि है उस दृष्टिसे करना पड़ता है। धर्म ग्रन्थोंकी पूजा कागज या स्याहीकी दृष्टिसे नहीं होती, धर्मके प्रतीकके दृष्टिसे होती है। झण्डेको प्रणाम करते समय राष्ट्रको प्रणाम किया जाता है, न कि कपड़े और डंडे को।

प्रतीक स्वतः वह होता नहीं, उसमें कल्पना की जाती है। मूल वस्तुके ग्रहणकी जब सुविधा नहीं होती तो किसीमें उसकी भावना करते हैं। जिसमें उसकी भावना करते हैं वह उस मूल वस्तुका प्रतीक होता है। प्रतीकके प्रति किसी भाव या क्रियाका प्रदर्शन प्रतीककी अपनी न होकर मूल वस्तुके प्रति मानी जाती है।

नित्यके व्यवहारमें हम इसे देखते हैं कि झण्डे में पूरा राष्ट्र घुसा या बैठा नहीं है; बोर्ड या काउंसिल में जो लोग जिस समाजके प्रतिनिधि हैं उनके पेटमें वह समाज नहीं समा गया है। फिर भी केवल भावनाके द्वारा प्रतिनिधियोंसे समाजके प्रति और झण्डेसे राष्ट्रके प्रति हम अपनी भावना प्रदर्शित करते हैं। इतना होनेपर भी मूर्ति पूजाको पत्थर पूजा कहने वालों की बुद्धिपर पत्थर पड़ा न कहा जावे तो और क्या कहा जावे ?

हमें देवता और ईश्वरकी पूजा करनी है। मूर्तिको प्रतीक मानकर हम वहाँ पूजा करते हैं। यह पूजा मूर्तिकी नहीं, उसकी पूजा है जिसके प्रतीककी भावना मूर्ति में की गयी है। ऐसी प्रतीकोपासना मनुष्यका स्वभाव है। यह सदासे रहा और रहेगा। कोई समाज इससे पृथक रह नहीं सकता।

मूर्ति जिसकी प्रतीक है उसका स्मरण मूर्तिके दर्शन मात्र से होता है। हमारे मनमें उसके गुणों और कार्योंका स्फुरण होता है। आजकल सभी देशों में सड़कों तथा पार्कोंमें बड़े-बड़े लोगों की मूर्ति रखनेका प्रचलन है। उद्देश्य यह

होता है कि उस मूर्तिसे लोगों में वैसे भाव हों और वे स्वयं वैसा बनने के लिये प्रेरणा प्राप्त करें।

सड़कों के नाम, सभा स्थलोंमें चित्र या मूर्ति इसीलिये रखी जाती है कि वह हमें किसी महापुरुषका स्मरण करावे। जिसके प्रति हममें श्रद्धा है उसके चित्रका आदर हमारे लिये स्वाभाविक है। लोगोंने कुछ मूर्तियाँ चोरीसे तोड़ दी या खराब कर दीं, क्यों? क्या इसलिये कि उन पत्थरोंसे उनसे शत्रुता थी? केवल इसलिये कि वे उस महापुरुषसे घृणा या द्वेष करते हैं जिसकी वह मूर्ति है। हम जिस महापुरुषसे श्रद्धा करते हैं, उसके मूर्ति या चित्रका अपमान अपने सम्मुख नहीं देख सकते। यह भी एक प्रकारकी मूर्ति-पूजा है।

जिस महापुरुषके प्रति हमारी अगाध श्रद्धा हो, उसके चित्रके सम्मुख स्वतः मस्तक झुक जाता है। आज लैनिन जैसे अनीश्वरवादीकी प्रतिमा के दर्शन करने नास्तिक साम्यवादी विभिन्न देशों से मास्को जाते हैं और वहां उसके सम्मुख सिर झुकाते हैं, उसे पुष्पोंसे सजाने में उन्हें आनन्द आता है। (अब यह मूर्ति हटा दी गई है लैनिन मानकर ही)।

कोई भी यह नहीं देख सकता कि जिसपर वह श्रद्धा करता है, उसकी मूर्ति गन्दे स्थानपर विरोधी डाल दें या उसे खराब कर दें। उसे स्वच्छ रखने और सजानेका वह यथासम्भव प्रयत्न करता है। उसे नष्ट या अपमानित करनेकी चेष्टा करनेवालेको वह दण्ड देना चाहता है। यह मानव स्वभाव है इस स्वभावसे जो युद्ध करना चाहते हैं वे भ्रम में हैं। इससे हानिके बदले लाभ अधिक है। यह पत्थर, कागज प्रभृतिकी उपासना न होकर भावोंकी उपासना है जो उपासकको एक ओर बढ़नेके लिये प्रेरणा देती है।

मानव स्वभावका जितना ज्ञान प्राचीन महर्षियोंको था, आज तक भी वैज्ञानिक वहाँ तक नहीं पहुँच सके। महर्षियोंने मनुष्योंके स्वभावको पहचाना और उससे लाभ उठानेका उन्हें साधन दिया। मूर्तिपूजा उन्हीं साधनों में से एक साधन है। मूर्ति ईश्वरकी प्रतीक है, और प्रतीकके प्रति सम्मान प्रदर्शन मनुष्यका स्वभाव है। यह स्वभाव मूर्तिपूजाका आधार है। वस्तुतः मूर्तिकी उपासना एक विशाल विज्ञान है जो इस स्वभाव के आधारसे समाजको लाभ पहुँचाता है।

हिन्दूशास्त्रों में कर्मके दो भाग हैं, एक तो भाव प्रधान कर्म, जिसे उपासनामें सम्मिलित करते हैं, और दूसरे मीमांसा-प्राकृतिक-विज्ञान प्रधान कर्म। उपासना प्रधान कर्म भावोंकी प्रधानतासे होते हैं। मीमांसा शास्त्र के कर्म भौतिक विज्ञानके अनुसार कार्य-कारण देखकर होते हैं। किसी दूसरे प्रकरणमें बतायेंगे कि ये दो विभाग क्यों? प्रकृति भाव और कर्म कैसे ये दो शक्तियाँ कार्य करती हैं।

प्रचलित मूर्ति-पूजा दो प्रकारकी है। एक तो मीमांसा शास्त्रके अनुसार जिन मूर्तियों की प्राण-प्रतिष्ठा होती है और जिनकी पूजाका विधि-विधान है, वे प्राय: इसी प्रकार की हैं। दूसरी मूर्ति पूजाका प्रकार उपासना-शास्त्र के अनुसार है। कोई भी चित्रपट या मूर्ति लेकर अपनी शक्ति या श्रद्धा अनुसार उसकी पूजा की जाती है। प्राण प्रतिष्ठा की गई मीमांसा-शास्त्र के अनुसार स्थापित मूर्तियोंकी पूजा कोई भावनाके अनुसार करें तो आपत्ति नहीं। उपासनाको ग्रहण की गई चाहे जिस मूर्तिकी प्राण प्रतिष्ठा भी करायी जा सकती है। प्रायः आजकल यह मिश्रित पद्धति ही प्रचलित है। यह ध्यान रखना चाहिये कि जिस मूर्तिकी पूजाका शास्त्रमें जो पृथक-पृथक फल वर्णित है, वह प्राप्त करनेके लिये ठीक शास्त्र निर्दिष्ट ढंगसे मूर्तिकी प्रतिष्ठा एवं पूजादि होना चाहिये। जब विधि छोड़कर भावके अनुसार पूजा होती है तो फल निष्ठाके अनुसार होगा, क्रियाके अनुसार नहीं।

प्रकृत्ति केवल जड़ नहीं है। शरीर में जीवकी भाँति समस्त वस्तुओं में चेतना है। जो उसका अधिष्ठाता देवता है वह देवता प्रसन्न होकर शुभ फल और अप्रसन्न होकर अशुभ फल दे सकता है। सामान्यतः यह भाव प्रधान उपासनाका सिद्धान्त है।

एक अंग्रेजी पत्र में एक समाचार छपा था - अमेरिका में पुरातत्व-विभागको पृथ्वीसे एक पाषाण मूर्ति मिली जिसमें सूर्यका चित्र और उसके सामने दण्डवत प्रणाम करते हुए एक व्यक्तिका चित्र बना था। कुछ पुष्प चढ़ाये हुए और धूप जलती हुई दिखायी गयी थी। उससे यह अनुमान किया जाता है कि अवश्य कभी अमेरिकामें आर्यों की सूर्योपासना प्रचलित थी। पुरातत्व विभागके

वैज्ञानिक अध्यक्षने सोचा "आर्य समझते थे कि सूर्य प्रसन्न और अप्रसन्न हो सकता है।" उसके मन में आया कि देखना चाहिये ऐसा हो सकता है या नहीं। परीक्षाकी एक विधि उसने निकाली। गर्मीकी दुपहरीके एक दिन नंगे बदन केवल हाफ पेन्ट पहनकर वह पांच मिनट धूपमें खड़ा रहा। थर्मामीटर लगाकर देखनेपर ज्ञात हुआ कि उसके शरीरकी गर्मी चार डिग्री बढ़ गई है। दूसरे दिन उसी समय वैसे ही नंगा होकर वह फिर धूपमें गया। आज वह फूल और फलोंकी डलिया लेकर, उसने फूल सूर्यको दिखाकर पृथ्वीपर डाल दिये, फल चाकूसे काट-काटकर चढ़ा दिये और धूप जलाकर चढ़ायी। फिर हाथ जोड़कर प्रणाम किया। इन कार्यों में उसे धूपमें पन्द्रह मिनट लग गये। उसे थर्मामीटर लगानेपर आश्चर्य हुआ कि शरीरकी गर्मी बढ़नेके बदले स्वाभाविकसे भी एक डिग्री कम अर्थात् पहिले दिनसे पाँच डिग्री कम हो गयी थी।

मनोविज्ञान बतलाता है कि मनुष्य जैसी भावना करता है, वैसा हो जाता है। अपनेको रोगी समझने वाला रोगी, और स्वस्थ समझनेवाला स्वस्थ हो जाता है। दृढ़ विश्वाससे की गयी भावना बाह्य जगतको भी प्रभावित करती है। योगकी सिद्धियाँ दृढ़-भावना शक्तिकी परिणाम भूता हैं। जो देवताओंको नहीं मानते उन्हें यह मानना होगा कि दृढ़भाव मूर्ति में अपना प्रभाव प्रकट करता है। सामान्यजन अपने में विश्वास नहीं कर सकते। दृढ़ आत्मविश्वास तो महापुरुषोंकी वस्तु है। साधारण जनताको ऐसा उपाय चाहिये जहाँ वह अपनी भावना-शक्तिको प्रतिफलित कर सके। देव-मूर्ति में वह अपनी श्रद्धा के द्वारा फल पा सकते हैं, इसमें किसीको आपत्ति नहीं होना चाहिये।

वस्तुतः तो देव-शक्ति है और वह भावोंके अनुसार फल देती है। यह शक्ति क्या है, यह बात "देव और दानव" अध्यायमें मिलेगी। अभी तो हमें यह बताना है कि मूर्तिका उपयोग भौतिक वस्तुओंके ही नहीं, आत्मोन्नतिके लिये महान है। आत्मोन्नतिका मूलमन्त्र है मनोनिरोध। "योगश्चित्त वृत्ति निरोधः।" मन निराधार तो रह नहीं सकता, उसे कोई न कोई आधार चाहिये। ध्यान प्रधान साधन सभी मतोंने माना है। पर ध्यान किसी वस्तुका होगा। निर्गुण निराकारका ध्यान नहीं हो सकता। ज्योति का ध्यान भी मूर्ति ध्यान है। ध्यानका उद्देश्य होता है एक वस्तु या ध्येय पर मनको एकाग्र करना। जिसे हमने देखा है, उसका

ध्यान अदृश्यकी अपेक्षा सुलभ है। दृश्य यदि हमारी रुचिके अनुकूल है तो ध्यान और अच्छा होगा।

चाहे जिसका ध्यान नहीं हो सकता, यदि ध्येय वस्तु तामस, राजस या भौतिक पदार्थोंसे सम्बन्ध रहनेवाली है तो उसके ध्यानसे मनमें सात्विकता नहीं आवेगी। भौतिक वस्तुओंके गुण दोष चिंतनमें मन लगा रहेगा। मूर्तिका ध्यान इन सब दृष्टियोंसे श्रेष्ठ है। मूर्तिको हम देख सकते हैं और वह हमारी रुचि के अनुकूल प्रिय भी हो सकती है, अतः उसके ध्यानमें मन लगेगा। मूर्ति परमात्माकी प्रतीक होती है और मनका स्वभाव है कि प्रतीक को देखकर वह मूल वस्तुका स्मरण करता है, अतः मूर्तिके ध्यानसे परमात्माका स्मरण होगा। मन सात्विक होगा।

मूर्ति पूजाको भाव प्रधान रीतिका यह विज्ञान है। पर अधिकांश मूर्ति पूजाका शास्त्रीय विधान मीमांसाकी पद्धतिसे है। "यज्ञ" के वर्णनमें हम इसका विज्ञान विस्तार करेंगे। मीमांसाशास्त्र कर्मको ही फलदाता मानता है। मूर्ति पूजा एक कर्म है - एक वैज्ञानिक कर्म। कम्पन विज्ञान के अनुसार उससे परिणाम होता है। इस पद्धतिसे मूर्ति - पूजाका खण्डन कोई अर्थ नहीं रखता। जैसे वैज्ञानिक यन्त्रोंका खण्डन या उनके परिणामको अस्वीकार नहीं किया जा सकता, वैसे ही यह भी एक वैज्ञानिक कार्य है।

***

# यज्ञ

जब भी कोई कार्य किया जाता है, वह एक कम्पन उत्पन्न करता है। आज बड़े-बड़े जलीय जहाज और रेलें वाष्पसे चलती हैं। इंजन में जल से वाष्प उत्पन्न की जाती है। वाष्प एक यन्त्रको धक्का देकर घुमाती रहती है। वहाँ वाष्पका वेग बहुत प्रबल नहीं होता। इतनी बड़ी गाड़ी तो क्या वह एक पत्थर भी उड़ा सके इतना नहीं। पर वह जिस यन्त्रको घुमाता है, उसका सम्बन्ध दूसरेसे होता है और वह वेग एक यन्त्रसे दूसरे यन्त्र में बढ़ता जाता है। फलतः वह इतना कार्यकारी होता है।

साइकलको ले लीजिये। क्या जितने वेगसे साइकिल जा रही है पैर उतने वेगसे चलता है? यदि ऐसा होता तो साइकिलकी गति पैदल चलने वालेके बराबर होती। पर पैर जिस छोटे पहियेको घुमाते हैं, उसका सम्बन्ध बड़े पहियोंसे होता है। छोटे पहियेके एकबार घूमनेपर बड़ेको भी एकबार घूमना होगा। छोटेका घेरा तो कम है, उसे घुमानेमें कम वेग और शक्ति लगती है, पर बड़ा उससे सम्बन्धित होनेके कारण उतनी देर में एक चक्कर कर लेता है और अपनी परिधिकी दूरी पारकर लेता है। यदि बड़े पहिये से और किसी छोटे पहियेका सम्बन्ध किया जावे तो वह छोटा पहिया बड़े वेग से घूमेगा। बड़ा पहिया जितनी परिधि एक चक्करमें पार करता है, उतनी ही देर में उसे भी उतनी परिधि पार करना पड़ेगा। पर उसकी परिधि कम है, अतः वह एकाधिक चक्कर लगावेगा। किसी कारखाने में जाकर देखा जा सकता है कि साधारण गति से घूमता हुआ बड़ा पहिया अपने से सम्बन्धित छोटे पहिये को कितना तीव्रगामी बना देता है।

यह प्रमाण इसलिये दिये गये कि इतनी बात पहले समझमें आजाये कि यह आवश्यक नहीं कि किसी कार्यको करनेवाला मूल कम्पन बहुत प्रबल हो। वह सूक्ष्म होते हुए भी दूसरे संयोगोंके अनुकूल मिलनेपर बहुत प्रबल परिणाम प्रकट कर सकता है।

किसी कम्पनसे जब कोई कार्य लेना होता है तो केवल कम्पन्न उत्पन्न कर देना मात्र पर्याप्त नहीं। उस कम्पनको उस दिशा में गतिशील करनेका प्रबन्ध करना पड़ता है, जिधर वह कार्य कर सके। दूसरी दिशा में गति होनेसे वह मन्द न हो जावे इसके लिये उसे दूसरी ओर से रोकना पड़ता है। कार्य करनेके लिये उसकी गतिको जितना बढ़ाना है, उसका भी प्रबन्ध करना पड़ता है। कम्पनके मूल में जो ऐसी गति है कि कार्यको नष्ट या विशृंखल भी कर सकती है, उसे रोकना पड़ता है।

बारूद खुले स्थानपर जला दी जावे तो केवल कुछ चिनगारियाँ मात्र उड़ेंगी। बन्दूकमें ठीक प्रकारसे उसके कम्पनका नियन्त्रण होनेसे वह मीलों तक गोली फेंकती है। विद्युतकी एक प्रकारकी करेन्ट जिसकी गति सर्पाकार होती है, जब पंखे चलाने में ली जाती है तो पंखे में ऐसी व्यवस्था करनी पड़ती है जिससे करेन्टका धक्का यन्त्रको जला न दे।

यज्ञ एक प्रकार का कार्य है। मन्त्रोंका उच्चारण, सामग्रियोंका संकलन, अंगोंका संचालन, द्रव्योंका हवन और सभी प्रकार की क्रियाएँ उसमें अपना-अपना कम्पन उत्पन्न करती हैं। ये कम्पन प्रकृतिको प्रभावित करके यजमानके अभीष्ट फलको प्रकट करते हैं।

महर्षि इस बातका विपुल ज्ञान रखते थे कि किस वस्तुके अणु किस प्रकारका कम्पन उत्पन्न करते हैं और उनका क्या प्रभाव पड़ता है। शब्दों के उच्चार तथा अंगों के संचालनसे जो कम्पन होता है उसका भी उन्हें पूर्ण ज्ञान था। मन्त्र जप, मीमांसा पद्धतिसे मूर्ति-पूजा और यज्ञ-कर्म इन तीनोंका मूल यही कम्पन-विज्ञान है। कम्पनसे कार्य लेनेकी तीन पद्धतियाँ हैं। प्रायः तीनों सम्मिलित रहती हैं। मन्त्रमें पूजा और हवन, मूर्ति-पूजा में जप और यज्ञ तथा यज्ञमें पूजा और जप सब मिले रहते हैं। प्रयोजनके अनुसार कहीं एक प्रधान होता है, कहीं दूसरा।

यज्ञमें अमुक वस्तुको अमुक स्थानपर अमुक प्रकारसे रखो, अमुक व्यक्ति अमुक स्थानपर अमुक दिशामें मुख करके बैठे। इस प्रकार वस्तुके रूप, गुण, परिणाम, आकृति, संख्या, उसके रखनेका स्थान और रखनेका ढंग तथा

उसे उठानेका ढंग भी निर्दिष्ट होता है। यज्ञकर्ताओंके लिये भी निर्देश होता है कि विशेष रंग या विशेष आकृति तथा गुणके लोग यज्ञ नहीं करा सकते। आहुति देने, मन्त्रोच्चारण तथा किसी वस्तुके उठाने में अंगोंका कैसे संचालन हो और कितना समय लगे यह भी निर्दिष्ट होता है। मन्त्र के किसी भागको धीरे और किसीको जोरसे बोलना पड़ता है। यज्ञमें चाहे जैसे और जितने पत्र, पुष्प, फल, जल, घृत, अन्न नहीं आ सकते। सब गिना या नपा आवेगा और किस प्रकार के पुष्पादि हों, यह भी बताया होगा। चाहे जो व्यक्ति न तो यज्ञमें आ सकता और न उसे देख सकता है। निश्चित स्थानके भीतर तो निश्चित क्रिया होगी।

विचार पूर्वक देखें तो यज्ञ एक कारखाना है। मशीनके सब यन्त्र ठीक स्थानपर रहें और ठीक कार्य करें तभी वह उपयुक्त कार्य करेगी। एक भी छोटा-सा यन्त्र भी कार्य न करे, वह दूसरे प्रकारका लग जावे तो या तो मशीन रुक जावेगी या उसकी गति कोई हानिकर परिणाम प्रकट करेगी। प्रत्येक वस्तु और क्रियासे कम्पन्न होता है। यज्ञमें वस्तुओंका निर्वाचन, स्थान एवं क्रियाओंका निर्देश इसी कम्पन को दृष्टिमें रखकर होता है। किसी क्रिया या वस्तुका कम्पन मूल मन्त्र के कम्पन को प्रबल करता है, कोई उसे दूसरी दिशाओंमें बिखरने से बचाता है, कोई उसे अभीष्ट दिशाकी ओर प्रवृत्त करता है और कोई उसके उस भागको जो अभीष्ट नहीं शान्त करता है। इस प्रकार सहस्त्रों क्रियाएँ उन कम्पनोंसे होती हैं। जैसे यन्त्र के प्रत्येक पुर्जे अनेक प्रकारके कार्य करके यन्त्रको कार्यक्षम बनाते हैं।

जैसे यन्त्र के एक पुर्जे में भी व्यतिक्रम होनेसे यन्त्र कार्य नहीं कर पाता और भयंकर दुर्घटना हो सकती है, वैसे ही यज्ञ या मन्त्र में किसी विधिमें कोई भी व्यतिक्रम होनेसे अभीष्ट फल नहीं प्राप्त होता। अनर्थ की सम्भावना बनी रहती है। महर्षियोंने स्पष्ट कहा है-

**मन्त्रोहीनो स्वप्तोवर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाहुः।**
**स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रोः स्वातोऽपराधात् ।।**

स्वर (उच्चारण) से, अक्षरसे या भूलसे मन्त्र में कोई दोष होनेपर वह अभीष्टदाता नहीं होता। वह वाणीरूपी वज्र यज्ञकर्त्ताका उसी प्रकार नाश करता है जैसे वृत्र स्वर-दोष होनेके कारण मारा गया।

यह विधान स्पष्ट बतलाता है कि यज्ञ तथा मन्त्रमें विधिकी कितनी प्रधानता है। विधिकी प्रधानताका मूल कारण यही है कि वह एक वैज्ञानिक कार्य है। भौतिक नियमोंके अनुसार उसकी व्यवस्था हुई है। जब यज्ञ भाव प्रधान होता है तो वहाँ विधि की प्रधानता नहीं रह जाती। वहाँ उसी प्रकार भावकी मुख्यता फलका कारण होती है, जैसे 'मूर्ति पूजा' में पहले निर्देश कर आये हैं।

यज्ञ या मन्त्र-जप या मूर्ति-पूजा जब मीमांसाकी पद्धतिसे होती है तो उसका उद्देश्य होता है प्रकृतिमें एक विशेष प्रकारका कम्पन उत्पन्न करके प्रकृतिके किसी विशेष केन्द्रको प्रभावित करना। एक कम्पन दूसरे कम्पनसे ठीक मिल जाय तो पहला कम्पन दूसरेके उद्‌गमको दूरस्थ होनेपर भी प्रभावित कर सकता है। रेडियोका यन्त्र इसी नियमके आधारपर बना है। एक सतहपर दो ढोलक रखी जावें और उनके बीच में कोई वस्तु न हो तो पहली ढोलकपर थाप मारनेसे दूसरीमें भी कम्पन होगा। दूसरीके चर्मपर कोई राई रख दी जावे तो पहली ढोलकके बजानेपर वह उछलती रहेगी। थाप जितनी तीव्र होगी राईकी गति भी उतनी तीव्र हो जायगी।

यज्ञ या पूजाका कम्पन जब प्रकृतिके अभीष्ट कम्पनसे सम्बद्ध हो जाता है तो वह उस तत्वको अपनी ओर आकर्षण करता है। जैसे शरीर में पित्त, कफ, वात प्रभृतिके व्यापक रहनेपर भी उनका एक-एक केन्द्र माना जाता है। केन्द्रको प्रभावित करनेसे वह तत्व शरीर में बढ़ जाता है, ऐसे ही प्रकृतिमें भी एक-एक तत्वोंके पृथक-पृथक केन्द्र हैं। जिस केन्द्रको हम अपने कम्पनके द्वारा प्रभावित करेंगे वह हममें प्रकट होगा।

प्रत्येक कम्पन एक सूक्ष्म आकृति बनाता है। चाहे हम वह आकृति भले न देख सकें, किन्तु आकृति बनती अवश्य है। एक फ्रान्सीसी महिलाने एक ऐसा यन्त्र बनाया है जिसके सामने गानेसे संगीतके कम्पन द्वारा उत्पन्न आकृति यन्त्र

के पर्देपर बन जाती है। यों भी कहा जा सकता है कि हमारा शरीर या विश्वकी प्रत्येक आकृति कम्पनसे बनी है। शरीरके परमाणु सदा वैसे ही निकलते रहते हैं जैसे दीपककी ज्योति या सरिताका जल। उन परमाणुओंके स्थानपर दूसरे आते रहते हैं। इस प्रकार एक निश्चित परमाणु-धारा आकृति निर्माणका कारण है।

प्रकृतिमें जितने तत्व हैं, जितने गुण हैं, जितनी क्रियाएँ एवं परिवर्तन हैं, सबमें कम्पन है। सब कम्पनसे उत्पन्न होते हैं। उनके कम्पन एक सूक्ष्म आकृति बनाते हैं। यही आकृति उस क्रियाके अधिदेवताकी होती है। महर्षियोंने अधिदेवताओंके रूपका इतना सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त किया था कि अपने शास्त्रोंमें दिन, वर्ष, ऋतु, राग, तत्व एवं भावोंके सब अधिदेवताओंका वर्णन मिलता है। बसन्तका देवता काम, जलका वरुण, सोमवारका चन्द्र, इस प्रकार सबका वर्णन है। उनकी आकृति, प्रकृति प्रभृति का वर्णन भी है। "देव और दानव" अध्यायमें हम और स्पष्ट करेंगे कि देवता कैसे कार्य करते हैं।

यज्ञ या मन्त्रमें मूर्ति अथवा यन्त्रकी पूजा होती है, उसका ध्यान होता है। इसका मूल उद्देश्य यह है कि हमारा कम्पन अभीष्ट तत्वके कम्पनसे सम्बन्धित हो जावे। एक कम्पन जो प्रकृति में हो रहा है, उससे तभी सम्बन्ध होगा जब हमारा कम्पन भी वैसा ही हो। पर मन्त्रोंका उच्चारण जिस स्थान से और जैसा होना चाहिये वैसा व्यवहारमें सरल नहीं होता। एक व्यक्तिका उच्चारण एक प्रकारका और दूसरेका उससे भिन्न होता है। अभीष्ट कम्पनमें यह बड़ी बाधा है। आधार लेते हैं मूर्ति या यन्त्र का। प्रकृतिके कम्पनने जैसी सूक्ष्म आकृति बनाई है, वैसी ही आकृतिकी मूर्ति या रेखाचित्र (यन्त्र) लेनेका विधान होता है। उस मूर्तिका ध्यान करनेसे प्रकृतिके मूल-कम्पन जैसा कम्पन होता है। अपना मन्त्रोच्चारण ध्यानसे समन्वित होकर शुद्ध हो जाता है। वह ठीक कम्पन उत्पन्न करने लगता है।

मूर्तिकी आवश्यकता जहाँ कम्पन परिशोधनके लिये है, वहीं मूल शक्तिके आकर्षणके लिये भी। किसी व्यापक या दूरस्थ शक्तिके आकर्षण का एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है। उस शक्तिका उद्‌गम जिस आकृतिसे जितनी लहरें

उत्पन्न कर रहा हो, वैसा ही केन्द्र बनाकर उसी प्रकारके कम्पनसे मिलानेपर वह शक्ति आकर्षित होती है। टी. वी. को ले लीजिये। आपको यदि दिल्ली केन्द्र चाहिए है तो ऐन्टीनाकी स्थिति उस प्रकार करनी होगी जिधर दिल्लीका प्रसारण यन्त्र है। यन्त्रकी उतनी सतहोंको विद्युतसे बुष्टरसे गति देनी होगी। प्रकृतिकी सूक्ष्म शक्तियों को आकर्षित करनेके लिये मूर्ति भी इसी प्रकारका यन्त्र है। पूजा प्रभृतिसे मूर्तिकी आकृतिसे उत्पन्न कम्पन को अभीष्ट कम्पनके रूपमें नियन्त्रित रखते हैं।

स्मरण रहे कि मीमांसाशास्त्र के अनुसार प्रत्येक यज्ञ या पूजाकी पूर्ति अथवा यन्त्र भिन्न प्रकार का होता है। उसकी रंग, आकृति, ऊँचाई, अंगोंकी बनावट तथा पूजा पद्धति, यहाँ तक कि पुष्पोंकी जाति, अक्षतकी संख्या, पूजन विधिके साथ किस वस्तुको कितनी-कितनी बार और कितनी देर में कैसे चढ़ाया जावे, यह भी विधिमें वर्णित होता है। छोटी से छोटी बात नियन्त्रित रहती है।

मूर्ति या यज्ञमें बने यन्त्र, रेडियो या टी० वी० के यन्त्रकी भाँति प्रकृतिकी विभिन्न शक्तियोंके अवतरणके केन्द्र होते हैं। शास्त्रोंने मूर्ति तथा यन्त्रोंको पीठ कहा है। पीठका अर्थ होता है आसन। बिना उपयुक्त आसन हुए कोई शक्ति प्रकट नहीं होती। सूर्यकी किरणों में निहित अग्निको प्रकट करनेके लिये विशाल शीशा चाहिए। यज्ञकी सारी क्रियाओंका कम्पन एक मूल शक्तिको आकर्षित कर तो लेता है, पर वह प्रकट हो कहां। वह यज्ञका कम्पन एक वस्तुका तो होता नहीं, जिसके आधारपर आकर्षित कम्पन प्रभाव प्रकट कर सके। अत: उस आकर्षित शक्तिके प्रभावको व्यक्त करने योग्य एक उपयुक्त पात्र चाहिये। पीठ ठीक ऐसा ही होता है जो इस क्रियाका सम्पादन कर सके।

वह भी एक युग था जब यज्ञमें देवता प्रत्यक्ष होकर अपना भाग ग्रहण करते थे और यज्ञेश भगवान् विष्णु यजमानको दर्शन देकर परितुष्ट करते थे। यज्ञमें वह शक्ति अब भी है। मन्त्र एवं विधिका पालन हो तो वह शक्ति आज भी प्रकट हो सकती है। पर जिन्हें यज्ञकी महत्ताका बोध नहीं, जिन्हें शास्त्रोंके रहस्यका पता नहीं, अक्षर ज्ञान प्राप्त करके जो उच्छृंखल तर्क प्रवाहमें बह चुके हैं, वे क्या यज्ञ कर सकेंगे? नियमोंका इतना कठोर पालन उनका काम है? यह

दूसरी बात है कि वेदोंके नाम पर वे यज्ञकी विडम्बना करें। ऐसा कर वे वायु शुद्धिके अतिरिक्त और बता भी क्या सकते हैं? वे इतनेसे अधिकके अधिकारी नहीं तो पावें कहां से?

आज ठीक यज्ञकी विधि जाननेवाला कोई ऋषि नहीं। यजमानके पास न तो पर्याप्त द्रव्य है और न समय। ढूँढनेपर भी शुद्ध धृत, शुद्ध शहद प्रभृतिका मिलना असम्भवप्राय हो रहा है। जब एक भी उपकरण नहीं तो यज्ञ कहाँसे हो, करे कौन? जो होता भी है वह अधूरा, विधिहीन और उससे ठीक परिणामकी आशा नहीं की जा सकती।

यज्ञका कम्पन जब ठीक होता था, पीठ जब उपयुक्त और पवित्र होता था, विधियोंका ठीक पालन होता था, तो कम्पनके द्वारा प्रकृतिका मूल तत्व आकर्षित होता था। पीठ उपयुक्त पाकर वह स्थित होता और उसका अधिदेवता साकार व्यक्त हो जाता था। देवताके व्यक्त होनेका यह अर्थ नहीं कि वह यहाँ व्यक्त हुआ तो उसका लोक सूना हो गया या विश्वमें उस समय उसका कार्य कौन करेगा। केवल बुद्धि शून्य व्यक्ति ऐसी शंका देवता या अवतारके विषयमें करते हैं। शास्त्रोंने स्पष्ट कहा है कि देवता एक साथ चाहे जितने रूपोंमें, चाहे जितने स्थानोंपर प्रकट होकर कार्य कर सकते हैं।

व्यापक तत्वकी एक स्थानपर अभिव्यक्ति उसकी व्यापकताकी विरोधी नहीं होती। अग्नि व्यापक है, पर जहाँ चाहे वहाँ प्रकट करली जाती है। एक साथ करोड़ों स्थानपर अग्नि प्रकट है और की जा सकती है। सभी स्थानोंपर वह प्रकाश एवं दाहमें समर्थ है, किन्तु व्यापक भी उसी समय सब वस्तुओं में है। रेडियोसे किया हुआ ब्रॉडकास्ट एक ही समय विश्वके उन समस्त यन्त्रों में सुना जा सकता है जो उसे सुननेकी स्थिति में हों। देवताओंका प्राकट्य भी इसी प्रकार एक साथ असंख्य स्थानोंपर हो सकता है और उसी समय वे अपने लोकके अधिष्ठाता एवं व्यापक भी रह सकते हैं।

सीधी-सी बात है कि एक व्यापक शक्तिको साकार या गुणशील करनेके उपकरण जहाँ-जहाँ होंगे, वह व्यक्त हो जाया करेगी। यज्ञका कम्पन जहाँ जिस मूलतत्वके कम्पनको आकर्षित करता है, वहीं उपयुक्त पीठमें उस मूलतत्वका

अधिष्ठाता व्यक्त हो जाता है। अधिष्ठाताका लोक है अवश्य, पर शरीर में वातका स्थान नाभि कहनेका अर्थ यदि यह होता हो कि वात नाभिसे अतिरिक्त कहीं नहीं होता, तो अधिष्ठाताके विषय में भी यह कहा जा सकेगा। ऋषियोंका ज्ञान कोरा तर्क नहीं, अनुभव था। तर्क के द्वारा उसे निर्मूल बताना अपना उपहास करना है।

***

# देव और दानव

प्रकृति त्रिगुणात्मिका है उसमें सत्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। वैसे प्रायः गुणमिश्रित रहते हैं, क्योंकि एक गुण कहीं कोई अभिव्यक्ति प्रकट करनेमें सफल नहीं होता, पर जहाँ या जिस अभिव्यक्ति में जो गुण प्रधान होता है उसे उसी गुणकी अभिव्यक्ति कहते हैं, केवल प्रधानता मात्र की दृष्टिसे।

प्रकृति में सत्वगुण प्रधान सृष्टिको देव सृष्टि कहते हैं। रजः एवं तमः प्रधान सृष्टिको दानव सृष्टि कहते हैं। जहाँ किसी गुणकी बहुत प्रधानता नहीं वह, यह पृथ्वीपर स्थूल जगतकी सृष्टि है। देव सृष्टिसे मेरा तात्पर्य देवयोनिके अन्तर्गत देव, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, पितर, ऋषि प्रभृति सभी सतोगुण प्रधान दिव्ययोनिवर्ग से है। इसी प्रकार दानव सृष्टिके अन्तर्गत रजः एवं तमः प्रधान दैत्य राक्षस, नाग, प्रभृति सब योनियाँ समझना चाहिये। इनके अतिरिक्त कुछ प्रेतादि वायवीय योनियाँ हैं, उनका वर्णन पृथक होगा।

देव-वर्ग पृथ्वीसे ऊपरके लोकोंमें माना गया है और राक्षस वर्ग पृथ्वी के नीचेके सात लोकोंमें। कभी प्रबल होकर दानव पृथ्वी तो क्या, स्वर्ग तकके अधिपति एवं शासक हो जाते हैं। ऐसा प्रायः तब होता है जब देवता अपने सत्वगुणसे च्युत होकर कोई पाप कर बैठते हैं। दैत्योंके प्रबल होनेपर भगवान्‌की कोई न कोई विभूति प्रकट होकर उनका शमन करती है।

देव और दानव वर्गकी वैज्ञानिक मीमांसासे पूर्व उनकी शास्त्रीय स्थिति जान लेना चाहिये। देवता ऊपरके लोकोंमें रहते हैं। इन्द्रके अतिरिक्त लोकपाल एवं अधिष्ठाता देवता जीव श्रेणीके नहीं। शास्त्र उन्हें कारक-पुरुष कहता है। कारक-पुरुषका अर्थ यह होता है कि चेतन तत्वकी वह जीव रूपमें एक ऐसी अभिव्यक्ति है जो कर्म-बन्धनसे पराधीन नहीं। सृष्टिके किसी विशेष कार्यके संचालनके लिये वह प्रत्येक कल्पमें प्रकट होते हैं और कल्पपर्यन्त रहते हैं।

यमादि लोकपाल अर्यमा प्रभृति देवता सब इसी कोटिके हैं। उनका स्थान कर्मके द्वारा जीवको नहीं मिलता।

इन्द्र-पद भोगयोनिका है और एक सौ अश्वमेध यज्ञ करनेवाला नृपति किसी न किसी कल्पमें इन्द्र होता है। शेष लोग जो देवलोक में देव रूपमें रहते हैं, उनका सृष्टिके कार्योंसे कोई सम्बन्ध नहीं। मृत्युलोकमें किये हुए पुण्य कर्मका फलमात्र भोगनेके लिये वे वहाँ जाते हैं और वहाँ सुख भोगना ही उनका कार्य है। वे वहाँ कर्म करने में स्वतन्त्र नहीं होते। देवताओंके उपास्य भगवान् विष्णु हैं। वे आपत्ति पड़नेपर ब्रह्माके द्वारा उन्हीं की शरण ग्रहण करते हैं।

दानव-वर्ग पृथ्वीके नीचेके सात लोकोंमें रहता है। ये लोक भी भोगलोक हैं। वहाँके भोगोंमें रजोगुण तथा तमोगुणकी प्रधानता रहती है। नीचे के लोकोंमें स्वर्गसे भी अधिक ऐश्वर्य है। वहाँ रहनेवाले मरते नहीं, उन्हें रोग, बुढ़ापा, पसीना, झुर्रियां, दुर्गन्धि प्रभृति कोई विकार आक्रान्त नहीं करते। वे नित्य तरुण, महाकाय, महाशक्तिशाली और विलासी होते हैं।

भोग-लोक होनेपर भी नीचेके लोकों में सामान्यतया जीव नहीं जाता। वहाँ जानेवाला आकल्प वहीं रहता है। स्वर्गमें जब सत्वगुण क्षीण होने लगता है तो दानव नीचेके लोकोंसे आक्रमण करके उसपर अधिकार कर लेते हैं। ऐसा होनेपर सृष्टिमें व्यतिक्रम होने के कारण भगवान् को अवतार लेकर उनका शमन करना पड़ता है। युद्ध में पराजित होकर या तो वे अपने लोकों को भाग जाते हैं या निहत होकर पृथ्वीपर जन्म लेते अथवा अपनी योनिसे मुक्त हो जाते हैं। यदि वे पृथ्वीपर जन्म लेते हैं तो भी इतनी अव्यवस्था उत्पन्न कर देते हैं कि प्रभुको किसी प्रकार उनका निग्रह करना ही पड़ता है। जब तक वे पुनः अपने लोकों को न चले जावें या उस योनि से मुक्त न हो जावें, इस प्रकार की परम्परा चलती रहती है।

नीचे के लोक भी कर्म-लोक नहीं है। कर्म लोकमें जिन लोगोंने घोर राजस या तामस तपस्या की है, जिन्होंने विशाल राजस या तामस दान प्रभृति पुण्य कर्म किये हैं, वे उसका फल भोगनेके लिये नीचेके लोकों में आकल्पवास करते हैं। प्रायः सात्विक पुण्य लोग स्वभावतः करते हैं, पर वह दीर्घ या विशाल

के साथ थोड़ा भी होता है। अतः सतोगुणी लोग देवलोकों में अपने पुण्यकी अवधि तक फल भोगते हैं। राजस और तामस तपस्यादि सब नहीं कर सकते। उसके लिए अपार शक्ति और साहस चाहिये। वह दीर्घ काल तक करनेपर फलदायी होती है। उसके साधकमें एक अटल हठ होता है। ऐसे लोग यहाँ उस तपस्यासे जो चाहते हैं, पाते हैं। कल्पान्त में उन्हें पुनः सृष्टि होनेपर नीचेके भोग-लोक प्राप्त होते हैं। दानव, यदि भू पर सत्वगुण क्षीण हो, तो आ सकते हैं। यहाँ आनेपर कर्म कर सकते हैं। उनके उपास्य भगवान् शंकर और शेषजी हैं, कभी-कभी वे ब्रह्माजीकी आराधना भी करते हैं।

मृत्युलोक में मानव जो कुछ यज्ञादि कार्य करते हैं, उसका भाग देव और दानव दोनोंको मिलता है। जो कर्म सविधि होता है उसका भाग देवताओंको और जिसमें विधि भंग हो जाती है, उसका भाग दानवोंको मिलता है। यज्ञकी प्रथम पंचाहुतियाँ जो मन्त्रहीन दी जाती है, नीचेके लोकोंके निवासियोंको प्राप्त होती हैं। उद्देश्य यह होता है कि वे उसी समय नीचेके लोकोंसे भूपर आने में समर्थ हों तो भी कृपा कर यज्ञमें विघ्न न करें।

सत्वगुण सूक्ष्म होता है और रजोगुण स्थूल। तमोगुण तो उससे भी स्थूल होता है। अतः सत्वगुण प्रधान देवता सूक्ष्माकृति हैं। वे स्वतः न चाहें तो उनके सम्मुख आनेपर भी हमारी स्थूल दृष्टि उन्हें नहीं देख सकेगी। सूक्ष्म स्थूल से प्रबल होता है। देवता सूक्ष्म होनेके कारण स्थूलके अधिपति हैं। वे चाहें तो स्थूल रूप का आश्रय ले सकते हैं। जब वे कृपा करके ऐसा करते हैं तो हम उनके दर्शन पाते हैं, उनका यह स्थूल रूप सूक्ष्म रूपके अनुरूप होता है। सूक्ष्म रूप ही कुछ स्थूलताका आधार लेकर व्यक्त हो जाता है। इच्छा करते ही वह स्थूलतासे पृथक हो जाता है और हम कहते हैं कि देवता तिरोहित हो गये।

रजोगुण और तमोगुण प्रधान दानव स्थूल पर्वताकार होते हैं। वे अपनी आकृति घटा-बढ़ा भी सकते हैं। ऐसा इसलिये होता है कि उनमें एक गुण प्रधान होता है। उस गुणसे सम्बन्ध रखनेवाली सभी सिद्धियाँ उनमें स्वाभाविक होती हैं। मनुष्य भी साधनके द्वारा अणिमादि सहस्त्रों सिद्धियाँ पा सकता है। श्मशान-जागरण एवं सात्विकोंके राजस एवं तामस साधनोंसे भी सिद्धि तो होती ही है।

सिद्धिका अर्थ है किसी एक गुणपर प्रभुत्व पा लेना। मनुष्यमें कोई गुण बहुत प्रधान नहीं, अतः उसे साधनके द्वारा प्रधान करना पड़ता है। दानव-वर्ग में स्वत: कोई गुण प्रधान होता है, अत: जन्मसे उनमें सिद्धि होती है। शास्त्रों में असुरोंकी सिद्धि और मायाका बहुत अधिक वर्णन उपलब्ध है।

देवता सत्वगुण प्रधान होते हैं, अतः जब तक उनमें सत्वगुणकी प्रधानता है, वे कर्म में प्रवृत्त नहीं हो सकते। सत्वगुण निष्क्रिय एवं आनन्दमय है। आनन्दकी स्थिति में कार्यकी इच्छा नहीं होती। किसीके विशेष प्रेमसे या किसी आकर्षणसे देव-वर्ग मृत्युलोकमें आता भी है तो यथाशीघ्र जाना चाहता है। यहाँ आकर भी कर्ममें प्रवृत्त नहीं होता।

रजोगुण में चांचल्य है, वह सर्वदा कर्म करना चाहता है। तमोगुण में भी प्रमादके अतिरिक्त शान्ति नहीं। आनन्दकी अभिलाषा सभीको होती है। रजोगुण तथा तमोगुण प्रधान दानव वर्ग इसीसे सदा स्वर्गपर अधिकार करने या पृथ्वीपर आनेको सचेष्ट रहता है। अवसर मिलते ही आक्रमण करता है। सत्वगुणकी शान्तिके लोभसे नीचेके अपार भोगको छोड़कर वह पृथ्वीपर आना पसन्द करता है। यहाँ आनेपर स्वभाव के अनुसार कर्म करता है। जब तक स्वर्ग में सत्वगुण पूर्ण प्रधान रहता है, दानव वर्ग अपने लोकसे आगे आने का साहस नहीं करता। देवताओंसे प्रताड़ित होनेका भय होता है।

प्रकृति आश्चर्यमय है। विज्ञानने बताया है कि हमारी इन्द्रियाँ केवल मध्यम विषयोंको ग्रहण करती हैं। अत्यन्त सूक्ष्म और तीव्रतम प्रकाश नेत्रों को केवल कालिमाके रूपमें अवगत होता है। यही दशा दूसरी इन्द्रियोंकी अपने-अपने विषयोंमें भी है। यही कारण है कि हम ज्योतिर्मय देवताओंका साक्षातकार नहीं कर पाते।

प्रत्येक कार्य में कम्पन होता है और प्रत्येक कम्पन एक आकृति बनाता है। प्रत्येक आकृति कम्पन की एक नियमित धारासे बनी है। जैसे नदी का जल निरन्तर गतिशील रहता है, पर प्रवाहके एक सदृश बने रहने के कारण नदीकी आकृति एक-सी रहती है, वैसे ही परमाणुओंका प्रवाह आकृतियोंका निर्माता है।

हमारे शरीरमें से सहस्त्रों परमाणु प्रतिपल निकलते और लाखों प्रतिपल उसमें आते हैं। लगभग ढाई वर्षमें पूरा शरीर बदल जाता है।

जब कोई कार्य होता है तो वह होता है कम्पनके द्वारा। वह कम्पन एक आकृतिका निर्माण करता है, कम्पनके अनुसार आकृति स्थूल भी हो सकती है और सूक्ष्म भी। प्रकृतिके प्रत्येक पदार्थ या भावका मूल जो कम्पन है, उसके द्वारा जिन सूक्ष्म आकृतियोंका निर्माण होता है, उन्हें देवता कहते हैं। इसी प्रकार अनिष्ट का रजः-तम प्रधान भावों एवं कर्मोंके मूल कम्पन जो आकृति बनाते हैं वह दानवके नामसे सम्बोधित होती हैं।

सत्वगुण सूक्ष्म है अतः उससे सम्बन्ध रखनेवाले कम्पन भी सूक्ष्म होंगे। देवताओंका शरीर सूक्ष्म माना जाता है और उनका निवास ऊर्ध्व लोकों में बताया गया है। सूक्ष्मता लघु होती है और सदा वह ऊपरी सतह में रहा करती है। सत्वगुण के अनुसार देवता शान्ति एवं आनन्दमय हैं। वे विश्व में शान्ति और सुखका विस्तार करते हैं। सृष्टिका सुव्यवस्थित संचालन उनके द्वारा होता है।

हम मृत्युलोकके निवासियोंमें कोई विशेष गुण प्रधान नहीं, फिर भी हमारी आकृति स्थूल है। तो जो रजोगुण और तमोगुणसे सम्बन्ध रखने वाले कम्पनोंसे आकृतियाँ बनी हैं, जिसमें यही गुण प्रधान हैं, वे अति स्थूल हों, इसमें क्या आपत्ति। स्थूलता भारी होती है और वह सदैव निम्न भागमें रहती है। दैत्योंके निवास पातालादि अधः लोक इसीसे माने गये हैं। रजोगुण एवं तमोगुणके अनुसार वे चंचल, अशान्त, क्रोधी एवं उपद्रवी होते हैं। सृष्टिमें अशान्ति तथा बाधा उपस्थित करना उनका स्वभाव होता है।

कम्पन जन्य आकृति उस कम्पनके कार्यकी अधिष्ठाता और चेतन क्यों मानी जाती है? यह एक प्रश्न रह गया। हम कह चुके हैं कि आकृति तो सब कम्पन जन्य होती हैं। हमारे शरीरको उत्पन्न करनेके लिये जो कम्पन हो रहा है, उससे शरीर बना है। पर यह शरीर चेतनायुक्त तथा उस कम्पनका अधिष्ठाता है। शरीरको चाहे जैसे घुमा-फिरा कर हम उस कम्पनमें एक सीमा तक परिवर्तन करते रह सकते हैं। अतः हमें पहले चेतनताका रहस्य अवगत करना है।

परमात्मा सच्चिदानन्दघन और सर्वव्यापी है तथा जीव उनका अंश है। सर्वव्यापी जो अंशी है, उससे उसका अंश पृथक नहीं माना जा सकता। हम दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि चेतना समस्त स्थानोंमें एक-सी व्याप्त है। केवल व्याप्त होनेसे कोई शक्ति कार्यकारी नहीं होती, जब तक ग्रहण करनेमें समर्थ वस्तु उसे ग्रहण करके अभिव्यक्त न करे। अग्नि व्यापक अवश्य है, किन्तु वह उष्णता और प्रकाश तभी दे सकती है जब वह काष्ठादिमें प्रकट की जावे। इसी प्रकार व्यापक चेतना भी कारण और सूक्ष्म शरीरसे ग्रहण होकर कार्यकारी होती है।

जैसे सूर्यकी किरणें सब खुले स्थानोंपर पड़ती हैं, किन्तु प्रतिबिम्ब जल या दर्पण ही ग्रहण करता है। दर्पण के प्रतिबिम्बकी गति दर्पण के अनुसार होगी। जहाँ दर्पण जावेगा, वह प्रतिबिम्ब उसके संग जावेगा। दर्पणकी हिलने आदिकी क्रियाओंका उस प्रतिबिम्बमें आभास होगा। ठीक इसी प्रकार संस्कारोंसे उत्पन्न कम्पन सूक्ष्म शरीरका निर्माण करते हैं और वह व्यापक चेतनाको प्रतिबिम्बकी भाँति ग्रहण कर लेता है। इसी ग्रहण की हुई चेतनाको जीव संज्ञा दी जाती है। सूक्ष्म एवं कारण शरीरकी कब सृष्टि हुई सो पता नहीं। उसे अनादि कहते हैं। जब तक सूक्ष्म शरीर रहेगा, जीव परमात्मासे भिन्न प्रतीत होगा। अपने प्रबल संस्कारोंके द्वारा सूक्ष्म शरीर बार-बार स्थूल शरीर पाता रहता है। उन संस्कारोंके समाप्त होनेपर वह एक शरीर छोड़ देता है और फिर कोई दूसरा शरीर पाता है। ज्ञानके द्वारा साधनसे विशुद्ध हृदयके जब समस्त संस्कार नष्ट हो जाते हैं, तो सूक्ष्म और कारण शरीरोंकी इति हो जाती है। जीव अपने अंशीसे एकीभूत हो जाता है। इसीको मोक्ष कहते हैं।

अब मूल प्रकरणपर आवें। शरीर तो सब कम्पनसे बने हैं, पर वे कम्पन भी तो किसी विशेष शक्तिसे होते हैं। कम्पन जो स्थूल शरीरको बनाता है, सूक्ष्म शरीरके संस्कारोंसे उत्पन्न किया गया है, सूक्ष्म शरीर एवं कारण शरीरका निर्माता कम्पन उनमें प्रतिबिम्बित जीवकी चेतनाके सानिध्यसे होता है। अतः सृष्टिके जितने भी पदार्थ या भाव हैं, उनके निर्माता कम्पनका संचालन वहाँसे होता है जहाँ उनके द्वारा निर्मित सूक्ष्माकृति में चेतना सूक्ष्म शरीरमें गृहीत है। क्रम इस प्रकार चलता है - जीवके सानिध्यसे एक कम्पन हुआ जिसने कारण

शरीर बनाया और उस कारणने सूक्ष्म शरीर। ये दोनों अनादि हैं। सूक्ष्म शरीर एक कम्पन उत्पन्न करता है जो स्थूल शरीर बनाता है। सूक्ष्म शरीरके कम्पनके द्वारा जो शरीर बना उसका अधिष्ठाता वही सूक्ष्म शरीर है। देवता जिस कार्य या पदार्थ के अधिष्ठाता कहे जाते हैं, वह कार्य या पदार्थ उनका स्थूल शरीर है। उस स्थूल शरीरके निर्माण के लिये जो कम्पन होता है, वह जिस आकृतिसे होता है, वह सूक्ष्म शरीर है। इसी सूक्ष्म शरीरका शास्त्रोंमें वर्णन है। सिद्धान्त यह है कि कम्पन सूक्ष्माकृति कम्पन का कारण है।

एक दीपक है, उसमें ज्योति-कलिका है और कमरे में प्रकाश। प्रकाश एक कम्पनका परिणाम है और वह कम्पन होता है दीपकलिका से। प्रकाशका उत्पादक कम्पन जिस आकृति से सम्बन्ध रखता है वह आकृति ज्योति कलिकाकी आकृति है। पृथ्वी कार्य है, प्रकाशकी भाँति, उसका निर्माण पृथ्वीकी अधिष्ठाता गौरूपिणी देवीसे हुआ है। इसी प्रकार दूसरे कार्यो के विषय में समझना चाहिये।

चेतन एक-सा होता है, किन्तु जैसे सूक्ष्म शरीरने ग्रहण किया उसीके अनुसार उसकी अभिव्यक्ति होती है। प्रतिबिम्ब जिस रंगके दर्पण में पड़ेगा, उसी रंगकी किरणें बाहर फेंकेगा। सूक्ष्म शरीर में जिस गुणकी प्रधानता होती है, उसीके अनुसार वह कार्य करता है। यहाँ एक बात यह भी समझ लेना चाहिये कि प्रत्येक आकृति चेतन नहीं होती। कोई सूक्ष्म शरीर जब कोई आकृति उत्पन्न करता है तो वह उसमें होता है और वह चेतन होता है। किसी स्थूल शरीर के कार्योंसे जब कोई आकृति उत्पन्न होती है तो वह कार्य होती है, जड़ होती है। कहा जा सकता है कि प्राकृतिक उत्पन्न वस्तुएँ चेतन होती हैं और किसी चेतन जीवके द्वारा निर्मित जड़। यहाँ देव, दैत्य, मानव आदि समस्त प्राणियोंसे निर्मित की गई वस्तुओंको जड़ कहा गया है। हम जिन मेज, कुर्सी प्रभृतिका निर्माण करते हैं, वह चेतन नहीं होती।

प्राकृत वस्तुएँ चेतन हैं। वृक्षोंकी चेतनता विज्ञानने स्वीकार कर ली है। समय आवेगा जब उसे नदी, समुद्र प्रभृति सबकी चेतनताका पता लगेगा। सब प्राकृत वस्तुओं, अवस्थाओं, गुणोंमें चेतना है। उनके अधिष्ठाता देवता हैं। वे

चेतन हैं, साकार हैं। हम भले उनका आकार न देख सकें पर आकार है अवश्य, वे सन्तुष्ट और असन्तुष्ट भी हो सकते हैं। यज्ञादि कर्मोंमें उनका आह्वान विधिपूर्वक करनेपर वे आ सकते हैं। जो बातें देवताओंके विषय में बतायी गयी वे ही दानवोंके लिये भी समझना चाहिये।

***

# देवताओंकी आकृति और उनके वाहन

शास्त्रों में विशेषकर पुराणों में देवताओंकी विचित्र-विचित्र आकृतियों का वर्णन है। उनके वाहन भी आश्चर्यजनक हैं। आकृतियाँ तो दैत्योंकी भी अद्‌भुत बतायी गयी हैं, किन्तु देवताओंकी अद्‌भुत आकृतियोंका विवेचन हो जानेपर पुनः पृथक दानवोंकी आकृतिका विवेचन आवश्यक नहीं रहता। केवल गुणोंका भेद होता है कारण एक जैसे ही हैं। किसीके दो मुख, किसीके चार, किसीके सहस्त्र हाथ पर एक मुख और दो चरण किसी के सहस्त्र नेत्र, गणेशजी का हाथीका मुख, यह सब आश्चर्य जनक वर्णन हैं। वाहनोंकी भी यही दशा है। किसीका वाहन भैंसा, किसीका बैल, किसीका खरगोश, किसीका गधा, किसीका गिरगिट और भारी भरकम गणेशजी का वाहन चूहा।

हमें भूलना न चाहिए कि प्रकृतिमें कोई वस्तु, भाव, आकृति या गुण अपना नहीं आया। जड़ प्रकृति और निर्गुण ब्रह्म कुछ बना नहीं सकते। जो कुछ यहाँ है, हुआ या होगा, वह नित्य जगतसे आया है। 'त्रिपाद्-विभूति' में हम इसका विवेचन कर चुके हैं। समस्त आकृतियाँ चाहे वे स्थूल हों या सूक्ष्म, देवताकी हों या दैत्य की, उसी नित्य जगतके किसी आकृतिकी छाया है। उनके गुण, वाहन कार्य प्रभृति सबका मूल रूप वहाँ है। वहाँ आकृति, गुण, वाहन, कार्य करनेका स्थान, उपकरण यह सब केवल दृश्यके भेद होते हैं। वस्तुतः सब एक ही तत्वके घनीभाव हैं। सगुण और निर्गुण, वाहन और अधिरूढ, कार्य और कर्ता - सब उसी एक तत्वके शुद्ध रूप हैं। मिट्टीके खिलौनेके दृश्य भेदकी भाँति उनमें दृश्य भेद है। आश्चर्यजनक आकृतियोंका मूल वहाँ है। मनुष्यमें जितनी भावना आती है, यदि वह वहाँ मूर्त न होती तो हममें आ नहीं सकती थी। भावना नवीन नहीं उत्पन्न होती। उसका स्त्रोत वहाँसे आता है। हम उस जगतको बुद्धिसे समझ नहीं सकते, अत: हमें इसी जगतमें कार्य-कारण ढूँढ़ना चाहिये।

देवताओंकी आकृतियोंका कारण देखनेके पूर्व यह समझ लेना चाहिए कि पुराणोंकी व्याख्या तीन प्रकारसे होती है - आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। जो भी कथा पुराणमें आवेगी वह अपने उसी रूप में सत्य होगी। यदि वह कथा मर्त्यलोकसे सम्बन्ध रखती है तो उस रूप में वह ऐतिहासिक सत्य होगी। उसका वह आधिभौतिक अर्थ होगा। आधिदैविक रूपमें वह देव जगतमें सत्य होगी। उस अर्थका उपयोग योगियोंके कामका होगा। आध्यात्मिक रूपमें वह प्रकृति या शरीर के किसी तत्व या गुणकी क्रियादिका वर्णन होगी। यदि कथा देवलोक से सम्बन्ध रखती है तो उसका आधिभौतिक रूप और आध्यात्मिक रूप दूसरे होंगे।

हम कह चुके हैं कि कोई क्रिया नवीन नहीं होती, कोई भाव नवीन नहीं उठते। नित्य जगतसे एक भाव सूक्ष्म आध्यात्मिक जगत में आता है, वही आधिदैविक जगतमें मूर्त होता है और भौतिक जगतमें स्थूल हो जाया करता है। पुराणोंका वर्णन मात्र नहीं, प्रत्येक शब्द, प्रत्येक आकृति और प्रत्येक वाक्य अपने तीन अर्थ रखता है। वह दो स्तरोंसे होकर स्थूल हुआ है, अत: उसके द्वारा उसके उन दोनों रूपोंका भी संकेत होता है। अंतर इतना ही है कि ऋषियोंने शास्त्रोंमें उन्हीं घटनाओं या वर्णनोंको लिया जिनके आधिदैविक और आध्यात्मिक रूपसे भी हमें कुछ ज्ञान प्राप्त हो, अपनी आध्यात्मिक उन्नतिमें हमें सहारा मिले।

उदाहरण के लिये गणेशजीको ले लीजिये। गणेशजी आधिभौतिक जगत् में अपने रूपमें विराजते हैं। शरीर में आपका स्थान मूलाधार चक्र है। उस चक्रका भेदन करके कुण्डलिनीको ऊपर पहुँचानेके लिये ऐसे कम्पनकी आवश्यकता होती है जो गणेशजी की आकृति के ध्यानसे ही उत्पन्न होता है। अतः वहां गणेशजीका ध्यान किया जाता है। गणेशजी बुद्धिके देवता हैं और उनका सिर हाथीका तथा पेट बड़ा एवं नेत्र छोटे हैं। भौतिक जगतमें इसका अर्थ होगा कि हाथी बुद्धिमान जानवर है, पर वह निरीक्षण नहीं कर सकता और भोजन बहुत करता है। आध्यात्मिक अर्थ में बुद्धिमानका मस्तिष्क विशाल होता है। बुद्धिका पेट बहुत भारी है। वह दुनिया भर के तर्क अपने भीतर रख सकती है। पर वह देख कम सकती है। बुद्धिमान बाह्य संसारके व्यवहारमें बहुत प्रवीण

नहीं होता। बड़े दार्शनिक संसार में भोले-भाले होते हैं। गणेशजी बहुत बलवान बतलाये गये हैं। कौन नहीं जानता कि हाथी महान बलशाली है और बुद्धि-बल सबसे बड़ा बल है।

आध्यात्मिक अर्थों में तो पुराणोंकी कथाएँ अपूर्व शिक्षा रखती हैं। योगियोंके लिये उनका महान् उपयोग है। आजकल लोगोंमें यह एक लहर चल पड़ी है कि वे कथाओंका आध्यात्मिक अर्थ मानते और उसे प्रधानता देते हैं, योग में भी किसी प्रकार उसकी उपयोगिता मान लेते हैं, किन्तु भौतिक जगतमें उसे माननेको तत्पर नहीं होते। उसे एक कल्पित रूपक मानते हैं जो कि योगकी प्रक्रिया और आध्यात्मिक मीमांसा समझानेके लिए है।

हमें यह समझना चाहिये कि जो आध्यात्मिक जगत में है, जो आधिदैविक जगत तक आता है, वह भौतिक जगतमें आये बिना रह नहीं सकता। उसका रूप कभी न कभी भौतिक जगतमें अवश्य आया होगा और आवेगा। भौतिक जगत कहींसे टपक नहीं पड़ता। वह आधिदैविक जगतका व्यक्त रूप होता है। अवश्य वह व्यक्त जगतके स्थूल विकारोंमें आकर अस्थायी और कुछ विकृत भी हो जाता है, किन्तु उसका मूल रूप प्रकृतिमें पहलेसे होता है।

असम्भव और आश्चर्यजनक कोई वस्तु नहीं होती। हम जिन वस्तुओंको सदा देखते रहते हैं और जिनमें जिस प्रकार कार्य-कारण भाव की हमने कल्पना कर रखी है, उसके संस्कार हममें इतने दृढ़ होते हैं कि हम उसके विपरीत सोच नहीं सकते। उससे भिन्न वस्तु हममें आश्चर्य उत्पन्न करती है। यदि वह सम्मुख न हो तो हम उसे आश्चर्यजनक कह देंगे। यदि हाथीका मुख शेर जैसा प्रकृतिमें होता तो हमारे लिये वही स्वाभाविक होता। पर आज वह आश्चर्यजनक है, असम्भव है।

समुद्री घोड़ा, मनुष्यके समान छातीसे ऊपर आकृति रखनेवाली मछली तथा पशु-पक्षी खा जानेवाले पेड़ आज संसार में पाये जाते हैं और हम इन बातोंपर विश्वास करते हैं। कुछ समय पहले इन बातोंको तो क्या, पुष्पक विमानकी बातको भी गप्प कहते थे। यह बातें बताती हैं कि हमारा सम्भव-असम्भव कोई मूल्य नहीं रखता, प्रकृतिमें सब सम्भव है। अभी युरोपमें दो

विचित्र पुरुष मिले हैं। एकका कलेजा दाहिनी ओर और यकृत बायीं ओर है। एक के शरीरका निर्माण प्रकृतिने ऐसा किया है कि हाथ-पैर बांधकर जल में फेंक देने पर भी वह डूबता नहीं। तीन-चार पुत्र उत्पन्न करके स्त्री-पुरुष हो जाय और पुरुष स्त्री हो जाय यह अब कोई बड़ी बात नहीं रही। कौन कह सकता है कि और दूसरे आश्चर्य प्रकृतिमें नहीं हो सकते।

यह सब कुछ संयोगवश होनेवाली विचित्रताएँ नहीं हैं। ये नित्य प्रकृतिमें हैं और कईबार पहले भी प्रकट हो चुकी होंगी। जब कई शताब्दियों तक कोई प्राकृतिक कार्य नहीं प्रकट होता तो लोग उसे असम्भव और आश्चर्यजनक समझने लगते हैं। पुराणोंमें इला से सुद्युम्न और सुद्युम्नसे फिर इला तथा उससे पुनः सुद्युम्न हो जानेका इतिहास वर्णित है। उधर दृष्टि जाय तो हम प्रकृतिके और भी उन आश्चर्योंको पा सकेंगे जो अभी प्रकट नहीं। मुख, कर, नेत्रादि की बहुलता और आकृतियोंकी विचित्रता प्रकृति में कुछ असम्भव नहीं।

बहुतेरे प्राच्य और पाश्चात्य दार्शनिकोंने ईश्वरके अस्तित्वमें एक युक्ति दी है, हम हैं अतः ईश्वर भी है। 'वेदान्तका मूल सिद्धान्त है ' मनुष्य आनन्द चाहता है, अत: वह आनन्द रूप है। इन तर्कोंमें एक सिद्धान्त निहित है - इच्छा या भावना निराधार नहीं होती, प्रकृति या दिव्य जगतमें उसका आधार होता है। हम कह चुके हैं और 'त्रिपाद्-विभूति' में समझा भी चुके हैं कि भावना करने में मन स्वतन्त्र नहीं। वह केवल व्याप्त भावनाओं को अपनी स्थिति के अनुसार ग्रहण करता है। उन भावनाओंको श्रोत नित्य जगतसे आता है, जहाँ वे मूर्तिमान हैं। आप जितनी असम्भव या आश्चर्यजनक कल्पनाएँ करते या कर सकते हैं, सब सचमुच हैं। स्वप्नके सब विचित्र दृश्य भी हैं। जो नहीं हैं, मन उसे सोच भी नहीं सकता।

बालक सोचता है 'पेड़ में मिठाई, रुपये, कपड़े फलते ! शास्त्रोंने कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणिका वर्णन करके बताया 'यह भी है।' लोग दूध-दधिका सागर चाहते हैं और मरना नहीं चाहते। क्षीरसिंधु और अमृत की सत्ता पुराण घोषित करते हैं। यह कोई आवश्यक नहीं कि सब विचित्र बातोंका वर्णन

हो ही। ऐसा तो कभी सम्भव नहीं। पुराणोंमें कुछका वर्णन प्रसंगवश आ गया है।

देवताओंकी आकृति समझने के पहले उनका साधनमें उपयोग समझ लें। शरीर में एक तत्वको प्रधान करना और दूसरेका शमन करना है, किसी चक्रको जागृत करना है, किसी नाड़ीमें गति करनी है, इन सबके लिये उस चक्र, नाड़ी या अभीष्ट तत्वके केन्द्रमें ऐसा अनुकूल कम्पन उत्पन्न करना होगा जो हमारा इष्ट साधन कर सके। प्राणपर अधिकार हुए बिना प्राणका संयम चाहे जहाँ नहीं कर सकते। मन्त्रका ठीक स्थानसे उच्चारण किसी विशेषज्ञका ही कार्य है। केवल मनके द्वारा उस स्थान पर कम्पन किया जा सकता है। मन जैसी आकृति और रंगका ध्यान करेगा, वैसा वहाँ कम्पन होगा। रंगोंमें शीत-उष्ण शक्ति होती है। लाल रंग उष्ण, और नील लोहित अत्यन्त उष्ण और नील शीत होता है। सूर्य- रश्मि चिकित्सामें रंगों के गुणोंका विवेचन है। यही कारण है कि एक देवताके भी अनेक रंग और आकृति मिलती हैं। जिस स्थान पर जैसा कम्पन उत्पन्न करना है वहाँ उस आकृतिके देवता और उसी रूप रंग, पद्म प्रभृतिका ध्यान करना होगा। योग तथा तन्त्र ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक बताया गया है कि किस देवताका ध्यान कहाँ होना चाहिये और उससे क्या प्रभाव प्रकट होगा।

एक कम्पन एक आकृति भी सूक्ष्म जगतमें बनाता है। एक आकृति एक कम्पनको उत्पन्न करती है। दोनों ठीक और अन्योन्याश्रित बातें हैं। प्रकृति में जितने कार्य हो रहे हैं, जितने गुण, भाव, अवस्था प्रभृति हैं, सबके सब कम्पनके परिणाम हैं। कोई दो कम्पन एक प्रकारका नहीं, क्यों? उनके परिणामकी भिन्नता यही बताती है। दो भिन्न प्रकारके कामोंके कम्पन दो प्रकारके होने ही चाहिये। जब कम्पनों में भिन्नता हुई तो उनके द्वारा निर्मित या उनको उत्पन्न करनेवाली मूर्ति में समानता कैसे होगी? देवताओंके वाहन पृथक और उनकी आकृति पृथक होनेका यही कारण है।

आकृति विज्ञान बतलाता है कि दो मनुष्यकी आकृति पूर्णतः नहीं मिलती। दो व्यक्तियोंके हाथकी रेखाओंके चिह्न एक प्रकारके नहीं होते। दो के

हस्ताक्षरोंमें अन्तर होता है, यह तो एक जातिके भीतरी भेद हैं। मनुष्यका पशुसे तो महान अन्तर है। अब सोचिये कि पृथ्वी, समुद्र, अग्नि, पर्वत, वृक्ष, ॠतु, गुण इन सबमें कितनी विभिन्नता है। इनकी विभिन्नताका कारण हैं इनके कम्पन। कम्पनोंके निर्माता अधिष्ठाता देवताओंकी आकृति में भिन्नता तथा अत्यधिक विषमता स्वाभाविक हो जाती है।

हम कह चुके हैं कि ये भौतिक कार्य शरीर है और अधिष्ठाता देवता उनके संचालक। सूक्ष्म शरीरकी आकृति स्थूल के अनुसार नहीं हुआ करती, किन्तु दो प्रकार के स्थूल शरीरोंके सूक्ष्म शरीर में भेद अवश्य होगा। जैसे समानताका अधिकांश देखकर हम किसी वर्णको मनुष्य तथा किसीको गौ कह देते हैं, और आगे जाकर पशु-पक्षी आदि भाग कर देते हैं, ऐसे ही एक प्रकार की आकृतियोंको जिनमें रंग या कुछ अंगोंका अंतर था, एक देवताका रूप बताया गया। जैसे भौतिक जगतके पदार्थोंकी आकृति में विशेषता रहते हुए भी पाँच- भौतिक दृष्टिसे एक सबमें समानता व्याप्त है, वैसे ही देवताओंकी आकृति में भी एक समानता है। वे मनुष्यसे मिलती आकृति के हैं।

"प्रकृति में क्यों ?" का कोई मूल्य नहीं। जो है, उसकी सत्ता माननी पड़ेगी। महर्षियोंने अपनी तप-शक्ति एवं योगबल से इन सारे गुप्त रहस्यों का पता लगाया। उनमें से जो उन्होंने जगत के लिये उपयोगी समझा प्रकट किया। ऐसे और देवता तथा अद्‌भुत बातें प्रकृति में असंख्यों हैं जिन्हें हम नहीं जानते। हमें तो उतनेका ज्ञान होता है जो हमारे पूर्व पुरुषोंने व्यक्त किया है। उतनेको भी ठीक प्रकार से अवगत कर लेना सरल नहीं।

प्रत्येक शक्ति एक आधारपर अवतरित होती है। निराधार कोई नहीं रहता। शब्दके वहनके लिये भी आधार चाहिये। पृथ्वी न हो तो हम ठहर नहीं सकते। अतः प्रत्येक शक्तिका एक वाहन होता है। वाहन उस शक्ति के अनुसार होता है, उसके कार्यके अनुरूप भी। देवताओंके वाहन इसीलिये भिन्न-भिन्न हैं और उनमें अंतर भी विचित्र है।

वाहनोंका आध्यात्मिक अर्थ बहुत सुगम है। गणेशजी का वाहन चूहा है। चूहेका दूसरा नाम खु: है जो अहंकारका भी नाम है। गणेशजी बुद्धिके देवता

हैं। अहंकारपर अंकुश रखना बुद्धिका ही काम है। शंकरजी का वाहन वृषभ है। वृषभ धर्मका रूप है और शंकरका अर्थ है कल्याणकारी। धर्म कल्याणको द्योता है। धर्मसे कल्याण होता है। ऐसे ही सब वाहनोंकी व्याख्या हो जायगी।

भौतिक जगत में आइये। एक अमेरिकन वैज्ञानिकने बताया है कि चूहा सबसे अहंकारी जीव है। चूहेको बुद्धिकौशल से भले पकड़ लें, पर बल वहां काम न देगा। वह स्वयं बड़ा चतुर जीव है। लक्ष्मीकी सवारी हाथी और उल्लू। कौन नहीं जानता कि पूंजीपति प्रायः मदान्ध और विद्वान होते हुए भी मूर्ख होते हैं। परिस्थिति के अनुसार चलना उन्हें नहीं आता। हाथी या उल्लूको कभी अभाव नहीं सताता। हाथी सम्मानित प्राणी है और उल्लू रात्रि में तब निकलता है जबकि उसके मार्ग में कोई बाधा नहीं होती। तान्त्रिक मतके अनुसार वह अनेक प्रकारकी सिद्धियोंको देने वाला है। उसके पर, रक्त, रोम प्रभृति सबसे कोई न कोई सिद्धयोग बनता है।

आध्यात्मिक जगत ही आधिदैविक रूप लेता है और वहाँसे भौतिक जगतमें मूर्त होता है। हम देखते हैं कि देवताओंके वाहनकी सांगता उधर आध्यात्मिक जगत में है और इधर भौतिक जगतमें भी। योग में कम्पनकी दृष्टिसे देवताओंके साथ उनके वाहनोंका ध्यान भी आवश्यक है। आधिदैविक जगतमें फिर उनकी उपस्थिति माननेको हम बाध्य हैं।

इतने भारी भरकम गणेशजी चूहे पर कैसे बैठते होंगे? इस प्रश्नके मूलमें एक भ्रांति है। वाहनका अर्थ वैसी सवारी किया गया जैसी स्थूल जगतमें होती है। किन्तु वाहनका अर्थ है वहां आधारभूमि। बड़ा सा घड़ा थोड़ी सी भूमिपर मजे में रखा जाता है, इतना बड़ा मनुष्य केवल दो बालिश्त भूमिपर खड़ा रहता है, फिर आधार-आधेयके बराबर या उससे बड़ा हो यह तर्क क्या आधार रखता है?

जैसा आधेय होगा वैसा ही आधार भी। देवता सूक्ष्म हैं अतः आधार भी सूक्ष्म और उन्हींकी भांति चेतन। सूक्ष्मता में मोटाई, लम्बाई, चौड़ाई केवल एक कल्पना होती है। वह कोई बाधा नहीं देती। स्वप्नमें आप बड़ा भारी पहाड़ देखते हैं। वह सूक्ष्म और मनोमय होता है, अतः आपके नन्हें सिरमें आ जाता

है। स्वप्न में पहाड़ घड़ेपर रखा दृष्टि हो तो असम्भव नहीं। वहां दोनों मनोमय और सूक्ष्म हैं, अतः ऐसा संम्भव है। इसी प्रकार देवता सूक्ष्म हैं, उनकी आकृति सूक्ष्म है, उनके वाहन सूक्ष्म हैं, अतः वहाँ कोई अव्यवस्थाकी सम्भावना नहीं। रहा यह कि ऐसा ही वाहन क्यों? इसके लिए इतना कहना पर्याप्त है कि देवताकी प्रकृति और उसके कार्योंके अनुरूप वाहन होगा, जो उसमें आध्यात्मिक जगतसे मूर्त हुआ हो और भौतिक जगतमें व्यक्त होकर कार्यकारी हो सके।

***

# मनुष्येतर प्राणियोंसे वैवाहिक सम्बन्ध

मनुष्य जब केवल अपने अनुभव और तर्क को प्रमाण मानकर कुछ सोचना चाहता है तो सर्वदा धोखा खाता है। कोई भी व्यक्ति चाहे कितना बड़ा विद्वान क्यों न हो, प्रत्येक विषयको नहीं जान सकता। तर्ककी कोई स्थिति नहीं, वह झूठको सत्य और सत्यको झूठ बता सकता है। संसारका व्यवहार प्रायः विश्वास पर चलता है। हम किसी वैज्ञानिककी खोजपर विश्वास ही करते हैं, यदि हम उसे तर्कसे पाना चाहें तो उसी वैज्ञानिक की भाँति हमें भी खोज करनी होगी, जो प्रत्येक व्यक्तिके लिये सम्भव नहीं।

कुछ ऐसा अन्धविश्वास चल पड़ा है कि पाश्चात्य वैज्ञानिकोंकी बातें तो लोग चुपचाप अन्धश्रद्धासे स्वीकार कर लेते हैं और अपने शास्त्रोंकी बातों पर सन्देह और अविश्वास करते हैं। ठीक उलटी परिस्थिति है। भ्रान्त वैज्ञानिक सिद्धान्तोंको तो चुपचाप मान लिया जाता है और अपने सर्वज्ञ महर्षियोंकी बातोंके लिये प्रमाण माँगा जाता है। प्रत्येक मनुष्य सोचता है कि "पुराणोंकी बातोंको तभी मानूँगा जब ठीक समझ लूँ। मेरी समझ में न आये तो झूठ।" इन पागलोंको यह पता नहीं कि गम्भीर वैज्ञानिक रहस्य सर्वसाधारण नहीं समझ सकते। एक वैज्ञानिक भी दूसरे विषयको नहीं समझ पाता। रसायन विज्ञान कोई वैद्य ही समझेगा, कोई ज्योतिषी नहीं। पुराणोंके समस्त विज्ञानोंको समझ लेनेका दुराग्रह हमें उनके महान उपयोगसे वंचित रखता है। यदि हम कहें कि हम दवाका गुण, प्रभाव, रहस्य प्रभृति समझकर उसे खायेंगे तो वैद्य सम्भवतः दो चार रोगीकी भी चिकित्सा न कर सकें। फिर जीवनमें हम जितनी बातोंको करते हैं, उनका कहाँ तक ज्ञान प्राप्त करेंगे। दवाके लिये वैद्यक, वस्त्रके लिये जुलाहागिरी, अस्त्रके लिये भू-विज्ञान, फलके लिये वनस्पतिशास्त्र प्रभृति हमें सहस्त्रों बातें जाननी होंगी।

जिन पाश्चात्य वैज्ञानिकोंकी बातोंपर लोग आँख मूंदकर विश्वास करते हैं, उनके सिद्धान्तोंकी स्थिरता या सत्यता क्या? कल डार्विनने विकासवाद चलाया तो दूसरेने आज अकस्मात संयोगवाद, तीसरा दोनोंको मानता है? वैज्ञानिक सिद्धान्तोंकी अनिश्चितता सब ओर है। किसी विषयका कोई सिद्धान्त स्थिर नहीं, अटल नहीं। उसका कारण यह है कि वैज्ञानिक केवल अनुमानसे सिद्धान्त बनाते हैं। कहीं कोई लक्षण मिला तो उसके आधारपर कुछ अनुमान करेंगे। अनुमान सत्यको नहीं बताता। कल विरोधी लक्षण मिलने पर सिद्धान्त बदल जायगा। उसी लक्षणसे दूसरे प्रकारका अनुमान भी हो सकता है। हमें जो लक्षण मिलते हैं वे पूर्ण तो होते नहीं, एक नन्हें-से भागपर अनुमान करना पड़ता है।

महर्षियोंको अनुमान नहीं करना था और न तुच्छ बाह्य लक्षणोंको लेकर कुछ सोचना था। अपने कठोर साधन तथा प्रबल तपस्यासे उन्होंने वह दिव्य दृष्टि प्राप्त कर ली थी जो विश्वके प्रकट और गुप्त रहस्यों को साक्षात कर सकती थी। उन्होंने देखा और प्रत्यक्ष करके तब लिखा। आज हम देख रहे हैं कि शिशु विज्ञान भी उन्हीं की बातोंका समर्थन करनेवाला है। यद्यपि वह अभी वहाँ पहुँच नहीं सका, परन्तु बहुत कुछ उसकी प्रगति दिशा महर्षियों के दृढ़ सत्यकी सूचक है।

साधारण लोगोंके लिये तो एक सिद्धान्त होना चाहिए कि वे कारण की उलझनमें न पड़ें। विष खानेसे मृत्यु हो जायगी, बस उनके लिये इतना जानना पर्याप्त है। कौन-सा विष किस प्रकार मृत्युका कारण होता है, यह डाक्टरोंका विषय है। साधारण लोगोंको शास्त्रकी बातोंको मानकर उनपर चलना चाहिये। उन्हें विश्वास करना चाहिये। जो लोग अन्वेषण करना चाहते हैं, उनके लिये सबसे अच्छा मार्ग तो यह है कि जैसे ऋषियोंने उन्हें जाना था, उसी पथका अनुसरण करें। ठीक विधिसे धैर्यपूर्वक साधन करके उस दिव्य दृष्टिको पानेका प्रयत्न करें।

जो लोग इस मार्ग पर चलनेमें असमर्थ हैं और वैज्ञानिक रीतिसे खोज करना चाहते हैं, उन्हें शास्त्रोंके एक विषयको चुन लेना चाहिये। सबको लेकर

उलझना नहीं चाहिये। केवल एक विषय पर अन्वेषण करना चाहिये और यह मानकर कि यह सत्य है, पर हमें इसका कारण जानना है। श्रीजगदीशचन्द्र बोस केवल एक शास्त्रीय सिद्धान्त वृक्षोंमें जीव है को लेकर खोज करनेमें प्रवृत्त हुए थे। ऐसे अन्वेषकके पास साधनकी प्रचुरता होनी चाहिये। अन्वेषणके साधन होने चाहिये। उसकी खोज सफल ही होगी यह कुछ ठीक नहीं। हम देखते हैं कि एक वैज्ञानिक सिद्धान्त जाने कितने लोगों के बलिदानसे निर्धारित हुआ है। बहुतेरे विफल हुए, कोई एक सफल हुआ। शास्त्रीय सिद्धान्तोंके अन्वेषण में भी यही होगा। कुछ सफल अवश्य होंगे, पर अपने बहुतेरे पूर्ववर्तियोंकी विफलतासे लाभ उठाकर।

शास्त्रों में बहुत-सी बातें ऐसी अवश्य हैं कि सहसा उनपर विश्वास करना कठिन होता है। बुद्धि उन विषयोंमें कुछ भी काम नहीं करती। पर फिर भी हमें विश्वास करना चाहिये। हमारे भीतर जो दृढ़ संस्कार हैं, उनके विरुद्ध हम कुछ ग्रहण करते हिचकते हैं। हम जो बातें नित्य देखते हैं और जैसी घटनाओंकी कल्पना करते हैं, उससे उद्‌भूत या उसके विरोध की बातपर सहसा विश्वास नहीं कर सकते। वह हमारी बुद्धिमें नही आती। हम किसी बात को समझ न सके, इसलिये वह असत्य नहीं हो सकती। हमारी बुद्धि या हमारा विश्वास सत्यको प्रभावित नहीं कर सकते। सत्य हमें प्रभावित करेगा और एक दिन हमें उसके आगे अवश्य मस्तक झुकाना होगा।

पहले जिस वैज्ञानिकने पृथ्वीको घूमती और गोल बताया, उसपर अविश्वास ही नहीं किया गया, ईसाई समाजने अपने अन्धविश्वास के कारण उसे बुरी तरह मार डाला। इस प्रकार कई वैज्ञानिक और दार्शनिक यूरोप में अपने सिद्धान्तोंके लिये मारे गये। पर आज संसार उनकी बातोंको सर्वथा सत्य मानता है। दो-तीन सौ वर्ष पूर्व कौन यह विश्वास करता कि भापकी गाड़ी सहस्त्रों मन भार लेकर मिनटों में पचासों मील दौड़ सकती है। ऐसा कहनेवाले को लोग पागल कहते। वायुयानकी कल्पना कभी बच्चों का प्रलाप समझा जाता था।

आज मैं किसी देहात में कहूँ कि तुम्हारे घरकी छिपकलीके पूर्वज कभी सौ हाथसे भी बड़े होते थे और शेरको जीता निगल जाते थे, तो लोग मुझे पागल कहेंगे। यद्यपि पृथ्वी से मिली ठठरियोंके आधारपर प्राणि शास्त्र, अन्वेषक, वैज्ञानिकोंने इसकी घोषणा की है। आज वैसे हड्डी के ढाँचे उपलब्ध हो चुके हैं। प्रकृति के अतीत गर्भ में कितनी विचित्रताएँ थीं और आगे और कितना परिवर्तन होगा, इसे कोई भी नहीं सोच सकता। भूतल से मिले प्राचीनताके यत्किंचित भागको देखकर हमें स्तम्भित होना पड़ता है। पता नहीं उस समय संसार कैसा होगा। आज जो हड्डियाँ मिलती हैं वे तो किसी प्रकार बची-बचाई हैं। वह भी बहुत प्राचीन नहीं। कुछ सौ या हजार दो हजार वर्ष की। अतीत भूतकालका पता पानेके लिये कोई साधन नहीं।

मुझे अपने विषयपर आना चाहिये। पुराणों में वानर, ऋक्ष, नाग प्रभृति का वर्णन है। आज-कल इन नामों के पशुओं में जो विशेषता है, वहीं उनमें भी बतायी गयी है। जैसे बन्दरोंके पूँछ, नागों का विषैलापन। आकृति और स्वभाव के चित्रणको देखें तो वे पौराणिक पशु आजकल जैसे होंगे ऐसा लगता है। किन्तु उनका मनुष्योंके समान व्यवहारका वर्णन है। मनुष्योंके समान उनके घर, वाहन, वस्त्र, सेवक, पूजा प्रभृतिका विवरण मिलता है। रहन-सहनके अतिरिक्त उनकी लड़कियोंका ब्याह मनुष्योंसे हुआ, यहाँ तक कहा गया है।

यदि हम प्रकृतिकी ओर देखें तो यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं। कोई साधारण व्यक्ति इस पर भले अविश्वास और आश्चर्य करे, किन्तु कोई भी प्राणी-शास्त्रका जाननेवाला इसे सत्य माननेमें हिचकेगा नहीं। पृथ्वीसे मिली ठठरियों और अफ्रीकाके घने वनके पशुओंने इसे सत्य मानने को विवश कर दिया है।

अफ्रीकामें कई ठीक बन्दरकी आकृतिके ऐसे गुरिल्ले होते हैं जो मांसाहार करते हैं। कुछ फलाहारी भी होते हैं। एक जातिके गुरिल्ले समूह बनाकर रहते हैं और जब किसी बड़े शत्रु को मारते हैं तो उत्सव करते हैं। ये एक प्रकारका नगाड़ा किसी लताओंसे घिरे मैदानमें बना रखते हैं। यह मैदान

इनकी उत्सव भूमि होती है। स्त्री वर्ग में से कुछ, लकड़ियोंसे नगाड़े को बजाती हैं और सब उसके चारों ओर घूमते हुए नाचते हैं।

एक विशेष प्रकारके वनमानुषको यूरोपमें पालने लगे हैं। सिखलानेपर यह मनुष्यों की भाषा समझने लगता है। यह अग्रेजोंकी भाँति कपड़े भी पहनने लगता है और भोजन भी मेजपर करता है। घरके सब काम - झाड़ू देना, कपड़े धोना, किसी वस्तुको उठाना और भोजन तक बनाना यह सीख सकता है। यह बहुत शक्तिशाली पर आलसी होता है। मनुष्यकी भाषा धीरे-धीरे समझ लेता है, बोलने का प्रयत्न भी करता है। स्वामीके द्वारा डांटे जानेपर रोता और भीत हो जाता है। संकोच बहुत करता है। अबतक के पाले गये वनमानुष प्रायः भोजनकी वस्तु और साबुन के चोर निकले हैं। इनके पालने में एक बड़ी आपत्ति यह है कि ये मनुष्य-स्त्रियोंका सहवास बहुत पसन्द करते हैं और यदि उन्हें कभी ऐसा अवसर एक बार भी मिला तो बलात्कार करने में हिचकते नहीं। गृहपति बाधा दे तो उसे अपने प्राणसे हाथ धोना पड़ता है। ये प्रायः पैरोंसे चलते और पृथ्वी पर सोते हैं।

समुद्र में ऐसे प्राणी दक्षिणी ध्रुवके पास बहुत पाये जाते हैं जिनका कमरसे नीचेका शरीर मछलीका और ऊपरका स्त्रीका होता है। यह प्राणी बहुत सीधा होता है और अपने बच्चोंके पकड़े जानेपर स्वयं अपनेको भी मछुओंके हाथों सौंप देता है। शान्त समुद्र में जलसे ऊपर मुख निकालकर यह बड़े मधुर स्वरसे कुछ गाता है। दक्षिणी अमेरिकाके मछुए प्रायः इसका शिकार करते हैं। इसके लिये उन्हें बहुत दूर समुद्री यात्रा करनी पड़ती है।

पृथ्वीसे ऐसी बहुत-सी विचित्र ठठरियां और वस्तुएँ निकली हैं जिनके आधारपर डार्विनने अपने विकासवादकी कल्पना की थी। ऐसी वस्तुएँ ऐसी ठठरियोंके मध्य में निकली है, जिससे अब प्राणीशास्त्र-वेत्ताओं को यह मानना पड़ता है कि "आजसे कई सहस्त्र वर्ष पूर्व ऐसे प्राणी थे जो आकृतिमें बन्दरोंसे मिलते थे। उनके पूछें थीं और वे बहुत दृढ तथा लम्बी थीं। वे समूह बना कर रहते थे। निश्चय वे अग्नि बनाना जानते थे और उनके घर भी होते थे।"

अब इन बातोंको देखते हुए पुराणोंकी ओर आइये। एक ऐसा प्राणी होता था जो सपुच्छ था। जिसके शरीर में बन्दरकी भाँति रोम थे और जिसकी आकृति भी बन्दरकी भाँति थी। किन्तु वह वनमानुषका पूर्ण विकास था। वह मनुष्योंकी भाँति घर बनाकर रहता था। मनुष्योंकी भाँति उसका समाज, संगठन और शासन था। शेष सब बातों में वह मनुष्य था। पूजा-पाठ तथा अधिकांश शास्त्रीय विधियोंका उस समाजमें पालन होता था। यद्यपि वह फलाहारी था और बन्दरोंकी भाँति वृक्षोंपर उछल-कूद सकता था, पर वह मनुष्योंकी भाँति रहता था। उनके बच्चे वनमें रहने वाले आर्य ऋषियोंके यहाँ पढ़ते थे।

वस्तुतः वह एक ऐसी मनुष्य जाति थी जो आकृतिमात्रसे बन्दर थी। पूँछ, रोम, और थोड़े स्वभाव उसमें बन्दर के थे। वह वस्त्रका उपयोग करते और प्रायः सभी व्यवहार मनुष्यकी भाँति करते थे। उनमें मादा स्त्री वर्ग पूर्णतः मनुष्य था। स्त्रियोंके रोम और पूँछ नहीं होती थी। उनकी आकृति ठीक मनुष्याकृति थी। उनका रहन-सहन तो मनुष्यों का था ही, इन स्त्रियोंमें कुछ अत्यधिक सुन्दरी भी होती थीं। हमें यह आश्चर्य नहीं करना चाहिये कि पुरुषकी आकृति बन्दर और स्त्रीकी मनुष्य कैसे होगी। प्रकृतिमें हम देखें तो यह सामान्य नियम है कि पुरुष और स्त्रीकी आकृति में कुछ अन्तर होता है। यह अन्तर कभी-कभी बहुत अधिक भी हो जाया करता है। ऊपर आजकल पाये जाने वाले जिस समुद्री जीव का वर्णन कर आये हैं, उसमें केवल स्त्री-वर्गका कमरसे ऊपरका शरीर मनुष्यका होता है। उस जीवका पुरुष वर्ग पूरा एक मत्स्याकृति प्राणी है।

बन्दराकृति यह मनुष्य वर्ग सुसंगठित होता था। इसके राजाओंके लड़के ऋषियोंसे शिक्षा पाते थे, अतः इनका समाज बहुत कुछ व्यवस्थाकी दृष्टिसे मनुष्यों जैसा था। इनकी भाषा प्रायः मनुष्योंसे मिलती-जुलती थी। बाल्मीकीय रामायणमें इनकी समाज व्यवस्था और रहन-सहन का अच्छा वर्णन है। मनुष्य कभी-कभी इनकी लड़कियोंसे विवाह कर लेते थे और कभी ये मनुष्योंकी लड़कियाँ भी लाते थे। इनकी स्त्रियोंकी आकृति ठीक मनुष्योंकी भाँति थी, अतः इसमें कोई बाधा नहीं पड़ती थी। ये योग और तपस्या जैसे आध्यात्मिक साधन भी ऋषियोंके सानिध्यसे करते थे। प्रायः यह जाति घने वनोंमें थी, अतः

ऋषियोंसे इनका सम्पर्क था। साधन के द्वारा सिद्धि प्राप्त करनेकी इनमें इच्छा ऋषियोंसे प्राप्त होती थी और इसमें ये सफल भी होते थे।

जैसे उपरोक्त बन्दर-जातिको बता आये हैं, वैसे ही वनों में एक दूसरी जाति और थी। उसके पुरुषोंकी आकृति रीछ जैसी होती थी। यह जाति घर न बनाकर पर्वतकी गुफाओंमें रहती थी। इसकी सामाजिक व्यवस्था और शिक्षा भी बन्दरों जैसी थी। उपरोक्त बन्दर जाति से इनका घनिष्ट सम्बन्ध था। रामायण के अनुसार बन्दर जातिका राजा बालि इस जाति का भी शासक था। आकृतिके अतिरिक्त रहन-सहन प्रभृतिमें कोई भेद न होनेके कारण, भाषा एक होनेके कारण और वनोंमें समीप होनेके कारण ये दोनों जातियाँ सम्बद्ध थीं। रीछ-जातिका स्त्री-वर्ग भी मनुष्यों जैसा था और मनुष्य कभी-कभी इस जातिकी स्त्रियोंसे भी विवाह कर लेते थे। ये दोनों जातियाँ हथियार और उसका उपयोग नहीं जानती थीं। युद्ध में ये वृक्षोंकी डालियाँ, पत्थर तथा नख और दाँतका उपयोग करते थे।

इस प्रकार की एक तीसरी जाति और थी। वह जलके नीचेके स्थानों में, पृथ्वी में गुफा बना कर रहती थीं। उस जातिके पुरुषोंकी आकृति सर्पोंसे मिलती जुलती थी और उनमें विष भी होता था। उनकी भाषा और समाज-व्यवस्था भी मनुष्योंसे मिलती थी। इस वर्गकी स्त्रियां बहुत सुन्दरी और मनुष्योंके समान होती थीं। जलमें निवास करनेके कारण और नागों के बलवान होनेके कारण मनुष्य इनकी कन्याएँ नहीं प्राप्त कर सकते थे। नागों के बल और विषका भय होता था और जलसे रक्षित स्थानमें जाना सरल न था। सम्भवतः नाग अपनी सुन्दरी स्त्रियोंकी सुरक्षा के लिए ऐसे स्थानों में रहते होंगे। ये स्थान आजकलके वाटरटाइट भूगर्भ- शास्त्रागारोंकी भांति थे। कोई बलवान राजा फिर भी नाग कन्याएँ छीन लाता था। कभी-कभी इनकी लड़कियाँ स्वयं किसी मनुष्यपर प्रेमासक्त होकर उससे विवाह कर लेती थीं। ऐसी एक-दो जातियोंका पुराणोंमें वर्णन है। पुरुषोंकी आकृति और स्वभाव जिस पशुके समान थे, उनकी जातिका वही नाम दिया गया। समयके परिवर्तनके साथ ये जातियां संसार से नष्ट हो गईं।

***

# श्राद्ध

विषय बहुत गूढ़ और विवादास्पद है। लोगोंने यह स्वीकार करके भी कि वेदोंमें श्राद्ध-प्रकरण है, उसका अर्थ तोड़-मरोड़ दिया। कुछ लोग उसका अर्थ श्रद्धासे भोजन कराना, और कुछ सेवा-सत्कार करते हैं। पुराण और स्मृतियोंमें यद्यपि इसका विस्तृत विवेचन है, किन्तु उनकी दृष्टिसे वह भाग प्रक्षिप्त है। देखना यह है कि प्रायः समस्त स्मृतियों और सभी पुराणों में, यहाँ तक कि उपनिषदों और वेदों में भी एक ही प्रकरण कैसे प्रक्षिप्त सम्मिलित हो गया। मिलावट एक दो ग्रन्थ में सम्भव है, पर एक ही बात सब ग्रन्थों में नहीं मिलायी जा सकती। अवश्य वह सिद्धान्त स्वीकृत होना चाहिये और उसका कुछ रहस्य होना चाहिये।

महाभारत में कथा आती है कि भीष्म पितामहजी जब अपने पिता का श्राद्ध कर रहे थे तो गंगाजी से पिण्ड ग्रहणके लिए उनके पिताका हाथ बाहर आया था। वाल्मीकीय रामायणमें रघुनाथजी के लंका विजय के पश्चात् स्वर्गसे दशरथजी का आकर देखना वर्णित है। महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वरजीके जीवनकी वह घटना बहुत प्रसिद्ध है जब अपने पिताके श्राद्ध में ब्राह्मणोंके भोजन करनेसे अस्वीकार कर देनेपर उन्होंने अपने योगबल से उन्हीं ब्राह्मणोंके दिवंगत पितरोंको आमन्त्रित करके प्रत्यक्ष भोजन कराया।

इस प्रकार की घटनाओंका वर्णन शास्त्रों में बहुत अधिक है। प्रत्येक धर्म में मृतात्माकी तुष्टि के लिए कुछ न कुछ क्रिया की जाती है और लोग विश्वास करते हैं कि उससे मृतात्मा सन्तुष्ट होगी। कोई कब्रपर धूप जलाता है, कोई फूल लगाता है। और कोई कुछ ऐसी दूसरी क्रिया करता है। आज कल बड़े दिवंगत नेताओंके विषयमें प्रायः सभी कहते हैं- "वे अमुक कार्यके लिए अपना बलिदान कर गये हैं। स्वर्ग से उनकी आत्मा तुम्हारे कार्यों को देखती है। उनके अधूरे कार्यको पूर्ण करके उन्हें सन्तुष्ट करो।"

लोग कहते हैं कि शास्त्रोंकी वे घटनाएँ प्रक्षिप्त हैं। दूसरे धर्मोंकी वह कब्र पर फूल चढ़ानेकी भावना केवल मोहका परिणाम है। स्वर्ग की, आत्माकी तुष्टिकी बात प्रोत्साहन देनेके लिये कही जाती है। किन्तु यह कहनेवाले इसका तनिक भी विचार नहीं करते कि लगभग पूरे मानव समाज में यह भावना कहाँ से आयी। निराधार कोई भावना नहीं आती, उसके मूल में अवश्य कुछ सत्य होना चाहिये।

आजकल कई छोटे बच्चे ऐसे हुए हैं जिन्होंने अपने पूर्वजन्मका वर्णन ज्यों-का-त्यों सुनाया। प्रायः ऐसे बच्चे आठ-नौ बरससे छोटी अवस्थाके होते हैं। बड़े होनेपर वे सब बातें भूल जाते हैं। समाचार पत्रोंमें कई का पूरा विवरण छपा। कईके विषयमें तो अच्छे प्रसिद्ध लोगोंने जांच भी की और घटनाकी सत्यता उन्हें स्वीकार करनी पड़ी। प्रायः प्रत्येक लड़के के विषय में एक बात पाई गई कि वह अपने पूर्व जन्म में मृत्युका जो समय बतलाता था और इस जन्ममें उसके गर्भ में आनेका जो समय था, उनमें महीनोंका अन्तर पड़ता था। कभी-कभी यह अन्तर वर्षोंका भी हो जाता है, इससे पता लगता है कि मृत्युके पश्चात् उतने दिन वह कहीं इस प्रकार रहा है, जो उसे स्मरण नहीं। मृत्यु और जन्मके बीच में पर्याप्त समयका व्यवधान रहा है। मृत्युके पश्चात् तुरन्त जीव गर्भमें आवे यह आवश्यक नहीं।

कौन-सा जीव मृत्युके कितने दिन पश्चात् जन्म लेगा, यह पता हमें तो लगनेसे रहा। हम यह भी नहीं जान सकते कि मृतात्मा मुक्त हो गया या कहाँ है। शास्त्रोंने इसीसे सभी पूर्वजोंके श्राद्धकी व्यवस्था की। जब यह पता लग न सके कि कौन जन्म ले चुका और कौन नहीं, तो एक यही उपाय रह जाता है कि हम सभी की तृप्तिका प्रयत्न करें। जो जन्म ले चुका होगा वह अवश्य पिण्ड नहीं पा सकेगा किन्तु जिन्होंने जन्म नहीं लिया है वे वंचित भी नहीं रहेंगे। पिण्ड देनेवालेका पिण्ड कोई ग्रहण न करे तो उसकी कोई हानि तो होती नहीं।

संन्यासी, विरक्त और ऐसे दूसरे लोग जिनके विषयमें यह निश्चित है कि वे मुक्त हो चुके हैं, शास्त्रों में पिण्ड दान उन्हें देनेका विधान नहीं है। यह दूसरी बात है कि कोई साधु होकर अपने धर्मका पालन न करे और मुक्त न

हो। कोई संन्यासीका वेश बनाकर पाखण्ड करे। पर शास्त्र जिन साधु-संन्यासियोंका निर्देश करता है, उसका आचरण करनेवाला अवश्य मुक्त होगा। शास्त्र इसीसे उस वर्गके श्राद्धका निषेध करता है।

एक विकल्प देकर तब तर्ककी ओर बढ़ेंगे। जिन बातोंका पता हम तर्कसे नहीं पाते, जिसका लाभ हमारी समझमें नहीं आता, किन्तु वह परम्परासे कार्य होता आ रहा है, शास्त्र या बड़े लोग उसे ठीक बतलाते हैं, तो कर्त्तव्य यह है कि उसका आचरण किया जावे, यदि उस आचरणसे हमें कोई विशेष हानि न होती हो। उसके लाभको समझनेके लिये प्रयत्न करते रहना चाहिये, पर उसका त्याग नहीं करना चाहिये। प्रत्येक बात हम समझ सकें यह आवश्यक नहीं, यह असम्भव भी है। जिस विषय में शंका हो, वहाँ शंका-निवारण का प्रयत्न करते हुए भी उसका वैसा आचरण करते रहना चाहिये जैसी शास्त्राज्ञा, बड़ोंका आदेश या अपने समाज की मर्यादा हो।

श्राद्ध करनेसे कोई हानि नहीं होती। पिण्डसे मछलियोंकी तृप्ति होती है, कुछ ब्राह्मणोंको भोजन और दान दिया जाता है। सामान्यतया दान भी एक शुभ कर्म है। यदि श्राद्धका फल पितरोंको प्राप्त होता हो और श्राद्ध न किया जाय तो अपने पिता-पितामहादिको कष्ट होगा। हम दूसरेका श्राद्ध न करेंगे तो हमारा कौन करेगा? हमें भी कष्ट फिर स्वयं सिर लेना होगा। यदि श्राद्धका फल पितरोंको न मिलता हो तो श्राद्ध करनेवाले की कोई हानि नहीं हुई। नियम, संयम और दान इन तीनका लाभ तो उसे वैसे भी हुआ।

प्रश्न यही उठता है कि जो क्रिया इस लोकमें हो रही है, उसका फल परलोककी आत्माओंको कैसे मिलेगा? परलोकमें जीवात्मा कहाँ और कैसे रहता है, यह बात "पुनर्जन्म" शीर्षक अगले अध्यायमें बतायी जावेगी। यहाँ केवल श्राद्ध क्रिया का विवेचन अभीष्ट है।

प्रत्येक व्यक्तिका अपने प्रियजनोंसे एक मानसिक सम्बन्ध होता है। प्रायः यह देखा जाता है कि आपका एक मित्र या कुटुम्बी आपसे कई सौ मील दूर रहता है। उतनी दूर उस पर जब कोई विपत्ति आती है तो यहाँ अकारण आपका मन अशान्त हो जाता है। यदि किसी दूरस्थ प्रियजनकी मृत्यु हो जाए

तो मन चञ्चल हो उठता है। अनिष्टकी आशंका उठने लगती है। पतिव्रता पत्नी या माता तो पति या पुत्रपर संकट आनेपर यहाँ तक जान लेती है कि अमुकपर संकट आया है। मानसिक चिकित्सक दूरस्थ किसी रोगीका स्वस्थ मानस-चित्र बनाता है और उसमें स्वास्थ्यकी भावना संचारित करता है, फलतः उस दूरस्थ व्यक्ति पर प्रभाव पड़ता है।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि एक मनका दूसरे मनसे बहुत अधिक सम्बन्ध है। एक मन जब दूसरे मनकी स्थिति में पहुँचता है तो उसमें भी वही कम्पन होते हैं, जो दूसरे में। इस अवस्थामें वह दूसरेके मनकी बातें बता सकता है। दूरी इसमें कोई व्यवधान नहीं बन सकती। परचित-ज्ञान (टेलीपैथी) का यही मूलाधार सिद्धान्त है।

मनके इस पारस्परिक सम्बन्धको ध्यान में रखते हुए हमें एक बात और समझ लेनी चाहिये। प्रत्येक क्रियाका प्रभाव मनपर कुछ न कुछ अवश्य पड़ता है। बाह्य विषयोंसे तृप्ति या असन्तोष न होकर, वह केवल मनसे होता है। बाह्य विषय शरीर के लिये आवश्यक हैं, मन केवल उनमें भावको ग्रहण करके प्रसन्न या अप्रसन्न होता है। कोई स्थूल-क्रिया उसे स्वतः प्रभावित नहीं करती।

पितरोंको श्राद्ध में दी गई वस्तुएँ कैसे प्राप्त होती हैं, इसे समझने के पहले आपको यह समझना चाहिये कि आपके सूक्ष्म शरीरकी तृप्तिका क्या अर्थ। शरीर-त्यागके पश्चात् जीवात्मा सूक्ष्म शरीर से रहता है, अतः जैसे आपके स्थूल शरीरकी तृप्ति होती है, वैसे ही उसके सूक्ष्म शरीरकी तृप्ति भी हो जायगी। स्थूल वस्तुओंका उपयोग केवल स्थूल शरीर के लिये। आपका मन न तो भोजन करता और न कपड़े पहनता। "मैं पा गया", यह भावना मनको तृप्त करती है। एक माता अपने बच्चेकी क्षुधाका अनुभव करती है और उसकी निवृत्ति में तुष्ट हो जाती है। बच्चेसे ममत्वका गाढ़ सम्बन्ध इसका कारण है। आपके किसी पर दो सौ रुपये उधार हैं। वह आपके हाथमें रुपये न देकर आपके भाईके हाथमें देता है और आप मान लेते हैं "मुझे मिल गया।"

तृप्तिका सम्बन्ध मनसे है। स्थूल वस्तुओंको शरीरसे उपलब्ध करने पर, मन उनमें तृप्ति मानता है। "मुझे मिली" यह भावना उसे तृप्त करती है। कोई

अच्छा वस्त्र रात्रिमें ओढ़नेको चाहता हो, उसके निद्रित हो जानेपर वह उसके ऊपर डाल दिया जावे और जगनेसे पहले हटा लिया जावे, तो कभी उसकी तृप्ति नहीं होगी। मन चाहता है दुशाले और मिले कम्बल, यद्यपि उससे स्थूल शरीरकी आवश्यकता पूर्ण हो जायगी, पर मन तृप्त न होगा। अच्छे भोजनको देखकर जो क्षुधा होती है, वह शरीर की नहीं मन की माँग है।

यदि किसी प्रकार मनको यह अनुभव हो जाय कि "वह वस्तु मुझे मिल गई", तो वह तृप्त हो जायगा। मेस्मेरिज़्म के अनुसार सम्मोहित व्यक्तिको कागज देकर कह देते हैं "यह पेड़े हैं", वह बड़े स्वाद से उन कागजोंको खाता और प्रसन्न होता है। मनकी तृप्ति हो, तो स्थूल शरीरकी आवश्यकताकी वह अपेक्षा नहीं करता। एक देहातका व्यक्ति जो रेशमी वस्त्रको लालायित हो, शीतकालमें उसे पाकर बड़ा प्रसन्न होता है। उस समय अपनी प्रसन्नता में उसे शीतका अनुभव नहीं होता। ऐसे उदाहरण और भी दिये जा सकते हैं।

मेरा अभिप्राय यह बतलाना था कि स्थूल वस्तुओंको सूक्ष्म शरीर ग्रहण नहीं करता। वह उनकी प्राप्तिकी भावना मात्रसे परितुष्ट हो जाता है। पितरोंके स्थूल शरीर तो होते नहीं, वह स्थूल वस्तुएँ उन तक जावें या वे उन्हें आकर लें, इसकी कोई आवश्यकता नहीं। उनके पानेकी भावना उनमें हो जावे यही उद्देश्य है। पानेकी भावना केवल कहने से नहीं होती। मैं आपसे कहूँ कि "आप सोच लीजिये कि आपने आम खाया है", तो यह सम्भव नहीं कि आप सोच सकें। यद्यपि आम और कोई दूसरा पदार्थ क्षुधा निवृत्तिके लिये एक-सा है। गलेसे नीचे जानेपर कोई विशेषता उसमें नहीं रहती, किन्तु जब तक आपके मनका सम्बन्ध उसे प्राप्ति-क्रियासे न हो, आप पानेकी भावना करके तृप्त नहीं हो सकते। श्राद्ध एक ऐसी क्रिया है जिससे पितरोंका सम्बन्ध उस क्रियासे होता है और वे उसमें पाने की भावना कर सकते हैं।

श्राद्धका फल केवल उन जीवोंको प्राप्त होता है जो पितर-लोकमें हैं। हम यह तो जान नहीं सकते कि कौन पितर-लोकमें हैं और कौन जन्म ले चुके, अतः सभीके श्राद्धका विधान है। पितर-लोक एक प्रकार की ऐसी स्थिति है जिसका सम्बन्ध इस लोकसे अधिक रहता है। वहां उन जीवों को कोई भोग

प्राप्त नहीं होता, वहाँ उनकी तृप्ति इस लोकके श्राद्धादि से होती है। यहाँ यदि उनका श्राद्ध न हो तो वे अतृप्तिजन्य कष्ट उठाते रहते हैं। मृत्युके पश्चात् अधिकांश लोग कुछ समय तक इस लोकमें रहते हैं। प्रायः एक वर्ष तक उनका सम्बन्ध मोहके कारण यहाँके सम्बन्धियोंसे अधिक रहता है। इस एक वर्ष तक विशेष श्राद्ध होते हैं।

पितृपक्ष के दिनोंमें भूलोक और पितृलोक का सम्बन्ध रहता है। जैसे पूर्णिमाको चन्द्रमाका आकर्षण धरासे अधिक सम्बन्ध रखता है, वैसे ही पितृपक्ष में पितृलोकका यहाँ से सम्बन्ध हो जाता है। उन दिनों पितरोंका आह्वान और श्राद्ध करनेसे उनको वह सुगमतासे प्राप्त होता है। मनका स्वभाव है कि यदि कोई कार्य हम किसी ठीक समयपर करें या कोई विशेष कार्य किसी समय हो जाय, तो दूसरे दिन उस समय मनमें स्वतः उस कार्यकी स्मृति हो आती है। जिस तिथि में किसीने शरीर छोड़ा है, वह तिथि आनेपर उसे अपने कुटुम्बियोंकी स्मृति हो जावे, यह स्वाभाविक है। हमें भी तो उस दिन उसकी विशेष स्मृति होती है। उस दिन उसका ध्यान इधर होनेसे उसके प्रति किये गये श्राद्धमें उसकी तृप्ति होती है। मरण-तिथिको श्राद्धके विधानका यह रहस्य है। जयन्ती मनानेका तात्पर्य भी इससे मिलता जुलता है।

जिन दिनों पितृ-लोकका इस लोकसे सम्बन्ध रहता है या जिस दिन किसी की मरण-तिथि है, पितरोंका आह्वान सुगम है। उस दिन मन्त्रोंके उच्चारण तथा विविध प्रकार की क्रियाओंके कम्पनसे अपने उद्दिष्ट पितरोंसे सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। किसी दूसरे कालमें भी मन्त्र के प्रबल कम्पनसे पितरोंको आकर्षित किया जा सकता है। शास्त्रोंमें ऐसा वर्णन भी है, पर वह विशेष विधि होगी और उसमें श्रम तथा सावधानीकी आवश्यकता होगी। जब श्राद्ध के विशेष दिनों में प्रकृतितः सम्बन्ध पितृलोक से रहता है, तो यह कठिनाई नहीं रहती।

पिण्डदान, तिलांजलि प्रभृति क्रियाएँ पितरोंसे सम्बन्ध करनेके लिये होती हैं। पितर उस समय इस लोकके सम्बन्धियों के प्रति आकर्षित तो होते ही हैं, उनसे इन क्रियाओंके द्वारा हमारा सम्बन्ध हो जाता है। पिण्ड एक प्रकार

की पीठ है जिसपर उन पितरोंको आह्वान किया जाता है। पीठका वर्णन "यज्ञ" के प्रकरण में हो चुका है। पितरोंकी तृप्ति होती है ब्राह्मण भोजन से। सूक्ष्म शरीरका सूक्ष्म शरीरसे सम्बन्ध होना सरल है। पितरोंका सम्बन्ध श्राद्धमें आये ब्राह्मणोंके मनसे होता है और उसके द्वारा ब्राह्मणोंकी तृप्ति से उनकी तृप्ति होती है।

देखा यह गया है कि यदि कोई मेस्मराइजर किसी दूसरे व्यक्तिके किसी अङ्गको अपनी शक्तिसे चेतना शून्य कर दे, तो उस अङ्गमें सुई चुभाने पर उस व्यक्तिको कोई पीड़ा न होगी। पीड़ा मेस्मराइजरको होगी और वह अपने उस अङ्गमें सुई चुभानेका अनुभव करेगा। हमें इतना समझना चाहिये कि स्थूल शरीर पीड़ाका अनुभव नहीं करता, अनुभव करता है उससे सम्बन्धित मन। मेस्माराइजर ने उस अंगसे उस व्यक्ति के मनका सम्बन्ध हटाकर अपने मनका सम्बन्ध कर दिया है, अतः वह कष्ट मेस्मराइजर को प्रतीत होगा। परकाय प्रवेशमें, दूसरेके शरीरके भोगोंका, दूसरा इसी प्रकार अनुभव करता है।

श्राद्धमें पितरोंका सम्बन्ध उन विप्रोंके मनसे हो जाता है, अतः विप्रोंके भोजनसे वे तुष्ट हो जाते हैं। श्राद्ध में बहुत ब्राह्मण भोजन न कराया जावे, भोज्य पदार्थ अमुक ढंगसे बने और उसपर अमुक प्रकारके लोगोंकी दृष्टि न पड़े। भोजन करनेवाले ब्राह्मणमें अमुक शारीरिक और मानसिक दोष न हों, इस प्रकार शास्त्रों में बहुत बड़ा विधान है। इस विधानका तात्पर्य यह है कि कोई ऐसी क्रिया या कम्पन उपस्थित न हो सके जो ब्राह्मणोंके सूक्ष्म शरीर से पितरोंके सूक्ष्म शरीरका सम्बन्ध होने में बाधक हो। श्राद्ध में भोजन करना ब्राह्मण इसीसे अच्छा नहीं समझते। केवल ब्राह्मण-भोजनके लिये इस प्रकारके विधि-विधानकी कोई आवश्यकता न होगी।

अन्तेष्टिसे लेकर श्राद्धपर्यन्त सम्पूर्ण क्रियाओंका यह उद्देश्य होता है कि जीवात्माका इस लोकसे जो सम्बन्ध है, उससे लाभ उठाकर उसे अधिक-से-अधिक सहायता दी जावे। किस समय जीवात्मा किस स्थिति में होता है और किस प्रकार की क्रियासे उसे कुछ मानसिक तृप्ति या शान्ति होगी, इसका ज्ञान अन्त्येष्टि-क्रियाका मूल है। श्राद्ध भी इसी आधारपर होता है। श्राद्ध या अन्त्येष्टि

चाहे जो नहीं कर सकता। उसमें भी विधान है कि अमुक सम्बन्धी न हो तो दूसरा अमुक करे। यह इसलिये कि जीवका किसीसे अधिक सम्बन्ध होता है। एक-एक विधियोंको लेकर विवेचन करनेके लिये एक ग्रन्थ चाहिए। यहाँ इतना पर्याप्त है कि इन क्रियाओं को सविधि करनेपर उनकी भावना और कम्पन दिवंगत जीवको शान्ति, तृप्ति एवं सहायता देते हैं।

***

# स्वर्ग और नरक

पहले के अध्यायों में बता आये हैं कि कल्पना निराधार नहीं होती। प्रकृतिमें जो वस्तु होगी, उसीकी हमारे मनमें कल्पना आवेगी। मन स्वतः कुछ नहीं सोचता, वह अपने स्तर की भावनाओंको ग्रहण करता है। "असम्भव" यह शब्द वीरोंके कोष में चाहे हो, पर प्रकृतिके कोष में नहीं। जो असम्भव होगा, उसकी कल्पना हमारे मन में आना असम्भव है। प्रायः सभी धर्माचार्योंने एक ऐसे स्थानको माना है और मनुष्यमें यह स्वभाविक कल्पना होती है कि कोई ऐसा स्थान होना चाहिये जहां केवल सुख हो तथा कोई ऐसा स्थान भी होना चाहिये जहाँ केवल कष्ट हो। अवश्य इस भावनाका मूल प्रकृतिमें है, चाहे हम उसे बुद्धिसे सोच न सकें।

यह लोक या यह धरातल जिसमें हम रहते हैं, सुख और दुख मिश्रित है। यहाँ प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक अवस्था, प्रत्येक क्रिया, व्यक्ति सुख-दुख के द्वन्दसे युक्त है। किसीमें सुख-प्रधान है तो किसी में दुख। संसार में सुख अधिक है या दुख, इसकी विवेचना हमें यहाँ अभीष्ट नहीं। इतना अवश्य हम देखते हैं कि यहाँ ये दोनों मिश्रित रहते हैं। अकेला सुख या अकेला दुख यहाँ नहीं मिलने का। प्रधानता एक की चाहे जितनी अधिक हो, किन्तु दूसरा भी उसमें कुछ न कुछ संसर्ग अवश्य रखेगा। इन दोनों के मिश्रणका जीवनके हर क्षणमें साक्षात् करते हुए, बुद्धि सम्पन्न मानवके लिये यह स्वाभाविक हो जाता है कि वह इनके केन्द्रोंकी कल्पना करे। अब ये हैं, तो इनके केन्द्र भी होने चाहिये। इस लोकमें इनकी पृथकता उपलब्ध नहीं होती, अतः इनके केन्द्र पृथ्वीके अतिरिक्त मानना पड़ता है। इनके वैपरीत्यको देखते हुए यह अनुमान सरलतासे होता है कि इनके केन्द्रोंकी स्थिति परस्पर विरोधी होगी।

प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। उसकी सामावस्थामें तो कुछ होता नहीं वह प्रलयकी स्थिति है, जब प्रकृति शांत और निश्चेष्ट रहती है। प्रकृतिमें क्षोभ होता

है और यह क्षोभ सृष्टिका कारण है। निरन्तर यह क्षोभ सृष्टि में होता रहता है। गुण अपने केन्द्र बनाते हैं और उनके मिश्रणोंके केन्द्र बनते हैं। यह पृथ्वी और इसके जीव त्रिगुणोंके मिश्रणसे निर्मित हैं। सुख-दुःख और आलस्य, ये गुणोंके तीन धर्म हैं जो तीनों यहाँ पाये जाते हैं।

गुणोंका पृथक मूल केन्द्र न माननेपर यह आपत्ति होती कि उनके तारतम्य में कोई नियम नहीं होगा। जैसे अग्नि कहीं जलती हो और उसका एक मूल केन्द्र हो, तो कहा जा सकता है कि अग्निसे कितनी दूरी पर तापमानका क्या तारतम्य होगा। कोई केन्द्र न हो तो यह नियम सम्भव नहीं। हम देखते हैं कि सुख-दुखादिमें नियमित तारतम्य है। मनुष्य जितना अन्तर्मुखवृत्तिका होता जाता है, उसे उतनी शान्ति मिलती है। हमें मानना पड़ेगा कि गुणोंके केन्द्र भी होने चाहिये।

सत्व गुण सबसे सूक्ष्म है, अतः उसका केन्द्र सूक्ष्म होगा तथा दूसरों के केन्द्रोंसे ऊपर। क्योंकि भारीपन सूक्ष्मतासे नहीं होता, सत्व गुणके केन्द्र में केवल सुख होगा। शास्त्रोंमें उसे स्वर्गादि लोकोंके नामसे कहा गया है। केन्द्रकी ओर जितने ऊपरके लोक हैं, वे नीचेके लोकोंसे अधिक महत्वपूर्ण हैं, जैसे स्व. से महः। उत्तरोत्तर वे दूसरे गुणोंके संसर्गसे रिक्त होते गये हैं। रजोगुण सत्वगुणसे भारी और चंचल तथा दुखमय है, अतः उसका केन्द्र मध्य भाग है जो परिवर्तन शील और कष्टप्रद है। नरक रजोगुणका केन्द्र है। तमोगुण सबसे भारी और स्थिर आलस्य प्रधान है। उसका केन्द्र अधः लोक है। वहाँ सुख या दुखके बदले आलस्य, निद्रा आदिकी प्रधानता रहती है। वे अन्धकार पूर्ण हैं।

कोई भी वस्तु उपयोगमें आनेके पश्चात् विकृत हो जाती है। यदि विकृत वस्तुओंका संशोधन करके उन्हें पुनः उपयोगी न बनाया जाय तो एक निश्चित कोषसे काम न चलेगा। प्रकृतिके पास एक निश्चित कोष है। उसमें न तो कुछ घट सकता और न बढ़ सकता। ऐसी दशामें यह आवश्यक हो जाता है कि प्रकृतिमें उन वस्तुओंके संशोधन का उपकरण भी हो जो उपयोग में आकर विकार संयुक्त हो गई हैं।

जीव एक योनिमें आता है। वह उसे छोड़ते समय, जाने कितने और संस्कार उस योनिके, अपने साथ ले लेता है। इन संस्कारोंका परिमार्जन भी आवश्यक है। यदि उन संस्कारोंसे वह विकसित हुआ है तो उसे अपने विकासका उपयोग करनेका अवसर देना चाहिये और यदि वह कुण्ठित हुआ है तो उसकी अयोग्यताको दूर होना चाहिये। यदि ऐसा प्रकृति में प्रबन्ध न हो तो संसार कुछ दिन भी नहीं चलेगा। स्वर्ग जीवके चरम विकासके उपयोगका स्थान है और नरकमें उसके विकारोंका परिमार्जन होता है। दण्डके द्वारा वह वहाँ शुद्ध होता है।

कार्य-जगतमें सर्वदा विकारोंका शमन और विकासका उपयोग कभी सम्भव नहीं। कार्य-क्षेत्र तो अपनी एक सीमा रखता है। उसमें विकास या शोधनके लिये उस सीमा तक अवकाश है। किसी भी कार्यको ले लीजिये, एक लोहे ढालने वाली मशीनके यन्त्र जितने घिसेंगे, वह कुछ सीमा तक वहाँ ठीक हो सकेंगे। उसके पश्चात् उन्हें गलाकर नवीन रूप देनेके लिए अन्यत्र भेजना होगा। वह मशीन अच्छेसे अच्छा लोहा जो तैयार करेगी, वह उसीमें नहीं लगेगा। उसका उपयोग उससे बहुत बड़ी मशीन के लिये है। इसी प्रकार जगतमें सुख और दुख दोनों हैं। दोनों प्रकार की योनियाँ हैं। किन्तु एक सीमा तक उनमें जीवके विकास और शोधनका अवकाश है, उसके पश्चात् उसे स्वर्ग या नरकमें जाना पड़ता है।

"जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में भी", यह शास्त्रोंका एक प्रमुख नियम है। शरीर समस्त प्रकृतिका एक छोटा नक्शा है। शरीरके द्वारा हम विश्व का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। आजकलकी भांति प्राचीन कालमें दानवाकार यन्त्रोंके द्वारा प्रकृति के रहस्योंका पता नहीं लगाया गया था। इन यन्त्रोंसे ठीक पता पाना बहुत श्रम, समय और बलिदानकी अपेक्षा करता है। इतना करके भी भ्रान्तिकी सम्भावना बनी रहती है। यह पद्धति पहाड़ खोदकर चूहा निकालने की है। महर्षियोंने अपनी साधनशक्तिके द्वारा मन को अन्तर्मुख करके शरीरके सब रहस्योंको देखा और उसके द्वारा प्रकृतिके रहस्योंका ज्ञान प्राप्त किया। स्वर्ग और नरकको ढूंढनेके लिये हमें भी एक बार नक्शे को देख लेना चाहिये।

यकृत, आमाशय, हृदय और तिल्ली प्रभृति उदरभागके शरीरके यन्त्र शोधन करते हैं। गर्दनसे ऊपर बुद्धि प्रधान मज्जातन्तुओंके केन्द्र हैं और भोजनका सर्वोत्तम भाग उनके पोषण में लगता है। वे बहुत रक्षित हैं और उन तक कोई बाधा न पहुँचे, इसमें शरीर के दूसरे यन्त्र सचेष्ट रहते हैं। पैर केवल गति करते हैं। उनके निर्माण अणु बहुत कम काम करते हैं। वे चुपचाप पड़े रहते हैं।

रक्तका एक कीटाणु विकसित हुआ, वह उपयोगी होकर सिरमें पहुँचा। यहाँ वह बहुत समय तक स्थिर और सुखसे रह सकेगा। रातदिन रक्तके वे कीटाणु जो काम में आनेसे विकृत हो गये हैं, धमनियोंके द्वारा हृदयमें पहुँचाये जाते हैं। यहाँ से कोई यन्त्र उन्हें रगड़ता है, कभी जठराग्निमें पचते हैं और इस प्रकारकी क्रियाओंसे जब शुद्ध हो जाते हैं, तो वे पुनः किसी अंग में पहुँचाये जाते हैं। हृदयसे ऊपर स्वर्गदि लोक, हृदय यमलोक जो अच्छे परमाणुको ऊपर और गन्देको उदरमें भेजता है, तथा आमाशय आदि नरक हैं। शरीरमें यह ब्रह्माण्डका प्रतिबिम्ब है।

यदि हम शरीरमें स्वर्ग और नरकको पाते हैं तो उसका स्थान ब्रह्मांडमें भी होना चाहिये। शरीरस्थ जीवोंकी शुद्धि शरीरमें हो जाती है, तो पृथ्वीके इन प्राणियोंकी शुद्धिका उपाय भी अवश्य होगा। ऐसा कोई कारण नहीं जिससे शास्त्र प्रतिपादित इन लोकान्तरोंकी स्थितिको अस्वीकार कर दिया जावे।

स्वर्ग में सुख और नरकमें दुख, ये शब्द भी अपेक्षाकृत हैं। प्रकृतिमें कुछ भी निरपेक्ष नहीं। निरपेक्ष तो एक मात्र परमात्मा हैं। मृत्युलोककी अपेक्षा स्वर्ग में सुखकी बहुलता है और नरकमें दुखकी। स्वर्ग में कभी दुख होगा ही नहीं ऐसी बात नहीं। दैत्योंके आक्रमणसे इन्द्रको भागना पड़ता है, देवता मारे-मारे फिरते हैं। हमारे शरीर में भी मस्तकमें पीड़ा प्रभृति रोग हो जाते हैं। नरकमें भी सुख हो सकता है। अग्निका कीड़ा अग्निमें सुख समझता है।

स्वर्गसे अधिक महर्लोक, उससे जनलोकमें, उससे तपलोकमें और सर्वोपरि सत्यलोक में, इस प्रकार सुखकी मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। नरक में भी इस प्रकार रौरव, महारौरव प्रभृति विभाग हैं और उनकी भयंकरता भी उत्तरोत्तर अधिक है।

न तो स्वर्ग में रहनेकी कोई अवधि है और न नरकमें रहने की। अपने कर्मके अनुसार देही इन लोकोंमें जाता है और वह अपने कर्मके फल-भोग पर्यन्त रहता है। कर्म-फलके अनुसार वह कल्प-कल्प तक उन्हीं में रह सकता है अथवा पल भरमें उनसे पृथक हो सकता है। स्वर्गसे नरकमें, नरकसे स्वर्ग में, नरकके एक विभागसे दूसरेमें, एक लोकसे दूसरे लोकमें, इस प्रकार वह कर्मफल भोगनेके लिये कहीं भी जा सकता है। एक स्थान पर अपने किसी कर्मका निपटारा करके, दूसरे कर्मोंके फलके अनुसार उसे दूसरे किसी भी स्थानपर विवशतः जाना पड़ता है।

कुछ सीमा तक स्वर्ग और नरकका अवतरण संसारमें हुआ है। जो वस्तु सूक्ष्म जगतमें है उसे स्थूल और मानस जगतमें आना ही चाहिये। स्थूल और मानस जगतको देखकर ही यह अनुमान किया जाता है कि इसका स्थान सूक्ष्म जगतमें भी होगा। अधिभूत, अधिदैव और अध्यात्म एक ही सूत्रके तीन रूप हैं। ये पृथक नहीं हो सकते। जब हम आधिदैविक स्वर्ग और नरककी उपलब्धि मानते हैं तो उसके आधिभौतिक और आध्यात्मिक रूपों को भी देखना होगा।

संसारमें सुखदायी योनियाँ भी हैं और दुखदायी भी। दुखदायी कीटादि योनियों में भी बहुत विभाग हैं और उनमें एक दूसरीसे घृणित होती चली गई हैं। सुखप्रद योनियोंमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता और बुद्धि तथा आनन्दका विकास पाया जाता है। भौतिक जगत में यह स्वर्ग और नरकका अवतरण है। मानस जगतमें हम वृत्तियोंके स्पष्ट दो रूप पाते हैं। एक अभीष्ट और दूसरा दुखद। अभीष्ट सात्विक वृत्तियों में भी उत्तरोत्तर सात्विकता बढ़ती जाती है और दुखद राजस, तामस वृत्तियां भी एकसे दूसरी अधिक अनिष्टकारी होती हैं। यही स्वर्ग और नरकका मानस-जगत में रूप है।

"तमोगुणकी प्रधानता नरक है और सत्वगुणका उद्‌भव स्वर्ग", यह शास्त्रीय सिद्धान्त तीनों रूपोंमें स्वर्ग और नरककी स्पष्ट व्याख्या कर देता है। सूक्ष्म, मानस या स्थूल कोई भी रूप हो, जिसमें सत्वगुण अधिक है, वह स्वर्ग और जहाँ तमोगुण प्रधान है वह नरक। सुख सत्वगुणकी वस्तु है, अतः स्वर्ग में सुख स्वाभाविक है। तमोगुण अज्ञान है और जहाँ अज्ञान होगा वहाँ दुखका

होना निश्चित है। प्रकृतिके किसी भी रूपमें हम इन दोनोंकी उपस्थिति पा सकते हैं। दिन और रात्रि, प्रकाश और अन्धकार, जीवन और मृत्यु ये जीवनमें व्याप्त हैं।

ऋषियोंका सिद्धान्त था कि जिस गुण या क्रिया अथवा वस्तुका मूल केन्द्र सूक्ष्म जगतमें न हो, वह भौतिक जगत में नहीं मिल सकती। इसी लिये प्रत्येकके अधिदेवता और उनके निवासका उन्होंने अन्वेषण किया। आज स्थूल जगतको सर्वथा स्वतन्त्र समझा जाता है और मानसिक जगतका उससे कोई सम्बन्ध माना ही नहीं जाता। सूक्ष्म जगतका मानना न मानना आज एकसा है, क्योंकि उसका तो अभी आजके लोगोंको पता भी नहीं लग सका।

प्रकृतिसे महान, महानसे अहंकार और अहंकारके तीन भेदोंसे सृष्टि हुई - यह सांख्यका क्रम है। अहंकार एक गुण है और सूक्ष्म। वह स्वत: एक मानसिक कृति है। उसकी जितनी भी विकृतियां होंगी वह मानसिक होंगी। इन विकृतियोंका सूक्ष्म जगतमें एक सूक्ष्म आकार बना। घनी भाव होकर उन्होंने अपने लोककी सृष्टिकी। यह सूक्ष्म जगतका लोक, भौतिक जगतमें अपना प्रभाव प्रकट करता है और उसके समान अभिव्यक्ति इस जगतमें होती है।

इस उपरोक्त सिद्धान्तको हृदयंगम कर लेनेके पश्चात स्वर्ग और नरककी स्थिति अच्छी प्रकार मनमें आजावेगी। सूक्ष्म जगतके द्वारा जगतके स्थूलरूपकी अभिव्यक्ति है और इसका संचालन भी उसीके द्वारा होता है। देव पूजाके द्वारा अपनी अभीष्ट प्राप्तिका रहस्य भी यही है। हम जो कुछ पाना चाहते हैं, सूक्ष्म जगतमें जो उसका अधिदेवता और संचालक है, उसे पूजाके द्वारा आकर्षित करके अपनी अभीष्ट वस्तुकी प्रार्थना की जाती है और वह उस वस्तुके लिये निमित्त उपस्थितकर देता है।

स्वर्ग और नरकके वर्णनके साथ दो शब्द पुण्य और प्रायश्चित विषयपर कह देने आवश्यक हैं। स्वर्ग शुभकर्मोंका फल है। किस शुभ कर्मका क्या फल होता है और उससे परलोकमें क्या परिणाम होता है, इसका महर्षियोंने वर्णन किया है। विधिपूर्वक उन कर्मोंको करके पुरुष स्वर्गका अधिकारी हो सकता है। अशुभ कर्मोंका परिणाम नरक होता है। यदि किसी प्रकार उस अशुभ कर्मके

फलका परिमार्जन हो जावे तो मरनेपर नरकसे बचा जा सकता है। प्रायश्चित पापोंका परिमार्जन है। किस प्रकार के पापका कितना गम्भीर परिणाम होता है, यह जानकर उसके अनुसार नानाप्रकारके प्रायश्चितोंका शास्त्रने विधान किया है।

जैसे पापकी गम्भीरता जानकर ठीक प्रायश्चित कर देनेसे वह इसी लोकमें नष्ट हो जाता है, वैसे ही पुण्य करके उसका फल यहीं प्राप्तकर लेनेसे पुण्य भी नष्ट हो जाता है। शास्त्रकारोंने पुण्यकर्ताके लिये ऐसे निर्देश किये हैं जिसके पालनसे उसके पुण्यका क्षय नहीं होगा। स्वतः पुण्यका वर्णन करनेसे, यशके लिये या किसी विशेष इहलौकिक स्वार्थको मूलमें उद्देश्य बनाकर पुण्य करनेसे वह परलोकके लिये फलदायी नहीं होता। इसीप्रकार स्वतः अपने पापको लोगों में प्रकट करने तथा पश्चातापसे पाप भी बहुत कुछ नष्ट हो जाता है।

पाप और पुण्य ये मानसिक भावनाओं पर निर्भर करते हैं। भावना प्रधान होती है, क्रिया नहीं। अश्रद्धासे दिया करोड़ों रुपयोंका दान, श्रद्धासे दिये एक पैसेकी क्षमता नहीं कर सकता। भाव सूक्ष्म शरीरपर संस्कार अंकित करता है और उसी संस्कारके अनुसार जीवको स्वर्ग या नरककी प्राप्ति होती है। जिस कर्मका संस्कार हृदयपर न पड़े, वह फल प्रकट करनेमें असमर्थ है। ज्ञानीके कर्म उसे बन्धन नहीं देते और निष्काम कर्मयोगी भी उनके फलसे अस्पृष्ट रहता है।

***

# पुनर्जन्म

जीवकी सत्ता भौतिकवादके अतिरिक्त प्रायः सभी धर्म मानते हैं। जड़-शरीरमें चेतनता जड़का विकार नहीं होना चाहिये। अवश्य वह किसी न किसी चेतनसत्ता की उपस्थितिका परिणाम है। यदि जीवको शरीरके भौतिक मिश्रणका विकार कहें, तो मृत शरीरके पुनः जीवित करनेमें भौतिक विज्ञानको समर्थ होना चाहिये। वही शरीर जो वर्षों तक कार्यशील रहा, सहसा निश्चेष्ट हो जाता है और कुछ घण्टोंमें सड़ने लगता है। कहना होगा कि उसमें एक शक्ति थी जो अब नहीं रही।

प्रलय पर्यन्त जीव कब्र में रहता है, यह कोई बुद्धि संगत कल्पना नहीं दीखती। जीव कोई स्थूल पदार्थ तो है नहीं जो मिट्टी में गड़ा रहेगा, और उसे फरिश्ते खोद कर निकालेंगे। वायुको भी हम मिट्टी में नहीं रोक सकते, रेडियमके अणु शीशे और लोहेकी मोटी चादरों में से भी सरलता से आ-जा सकते हैं, फिर सबसे सूक्ष्म जीव मिट्टी में कैसे गड़ा रहेगा। कब्र में हड्डियां भी तो कालान्तर में गल जाती हैं। वहाँ मिट्टीके अतिरिक्त क्या होता है। यदि कोई कब्र खोद दी जावे और वहां गड्ढा या तालाब अथवा कोई खान खोदी जावे तो कब्र का स्थान रिक्त होनेपर जीव कहां रहेगा?

प्रलय के समय यदि जीवके कर्मोंका निर्णय होता है, ऐसा मानें, तो उससे पहले संसार में सब जीवोंको समान परिस्थिति और कर्म करनेका अवकाश मिलना चाहिये। कोई पशु, कोई पक्षी, कोई कीड़ा, कोई सुखी, कोई दुखी, कोई रोगी, कोई दरिद्र इस प्रकार जीवों में विभिन्नता क्यों? यदि इसे ईश्वरेच्छा कहें तो ईश्वर समदर्शी न होकर पक्षपाती और क्रूर सिद्ध होगा।

यह सृष्टि अनादि है, जीव कर्म करता है और फल भोगनेके लिये पुनः जन्म लेता है। कोई भी जीव कर्म किये बिना किसी क्षण रह नहीं सकता। मन

सदा कुछ न कुछ करता रहता है। शुभ या अशुभ कर्मोंके अनुसार उसे शरीर ग्रहण करना पड़ता है। ज्ञानके द्वारा जब उसके कर्माशयका नाश हो जाता है तो उसके सब पिछले संचित कर्म नष्ट हो जाते हैं और प्रारब्ध प्रेरित जो कर्म वह आगे करता है, उससे लिप्त नहीं होता। इस प्रकार वह मुक्त हो जाता है। "मोक्ष" के प्रकरण में इसकी विवेचना करेंगे कि मुक्ति किस अवस्थाको कहते हैं।

भेद-बुद्धिसे उत्पन्न अहंकार जीवका कारण शरीर है। "मैं" - दूसरोंसे अपनी पृथकताकी यह भावना जीवका जीवत्व है। इसी से प्रेरित होकर वह सब कार्य करता और उनके संस्कारोंसे लिप्त होता है। यह कारण शरीर सूक्ष्म शरीरको साथ रखता है। सूक्ष्म शरीरमें अहंकारके साथ संकल्प-विकल्पात्मक मन, निर्णयात्मिका बुद्धि, अनेक जन्मोंके कर्मोंके संस्कारों का संचय चित्त तथा दश इन्द्रियाँ होती हैं। इन सबको मिलाकर लिंग शरीर कहा जाता है जो मुक्ति पर्यन्त जीवके साथ रहता है।

जीवको बाल की नोकके सहस्र या सौवें हिस्से के बराबर मानते हैं और लिंग शरीरको मध्यम परिणामी। अर्थात् लिंग शरीर घट और बढ़ सकता है, अत: वह जितने बड़े स्थूल शरीरका ग्रहण करता है उसमें व्यापक हो जाता है। यह सूक्ष्म शरीर भी कभी अकेला नहीं रहता। स्थूल शरीरसे पृथक होते समय वह वासना शरीर, नरकमें यातना देह और स्वर्ग में देव शरीर प्राप्त कर लेता है। मरते समय मनुष्य जो अन्तिम इच्छा करता है, अन्तिम वासना जो उसके मनमें उठती है, वह चित्तके संचित संस्कारों में से एक अपने अनुकूल वासनापुञ्ज आकर्षित कर लेती है। यही वासना शरीर लिये सूक्ष्म शरीर यमलोक पहुँचता है। इसीके अनुसार उसका पुनर्जन्म होता है।

केवल मनुष्य योनि कर्म-योनि है। दूसरी सब योनियाँ भोग योनि हैं। दूसरे कोई प्राणी अपने कर्मोंके उत्तरदायी नहीं। उनके कर्मोंके संस्कार उन्हें नहीं भोगने पड़ते। वे केवल प्रारब्ध भोगने के लिये जन्म लेते हैं। कर्म करनेमें वे अपनी प्रकृतिसे परवश हैं। मनुष्य योनि कर्म योनि है। मनुष्य कर्म करने में स्वतंत्र है, अत: उसे अपने कर्मोंका फल भोगना पड़ता है।

मनुष्यकी मृत्यु समयकी अन्तिम वासना, उसके किये कर्मोंके संस्कारों में से अपने अनुकूल बहुत संस्कार एकत्र कर लेती है। इन संस्कार समूहों में यदि ऐसी वासनाएँ हुई कि वे पुण्य प्रधान कर्मोंकी हैं तो वह स्वर्ग में उनका भोग करनेके लिये जाता है। यदि पाप कर्मोंकी हुई तो नरकमें जाता है। मनुष्य जन्मकी वही एक वासना जो अन्तिम होती है, इतने संचित संस्कारोंको श्रृंखलित कर लेती हैं कि वह श्रृंखलाक्रम पुनः मनुष्य जन्म तक आकर समाप्त होता है। इस अन्तिम वासनाकी प्रधानता रखते हुए उन श्रृंखलित कर्मोंके भी बहुत से ऐसे पुञ्ज बन जाते हैं जो परस्पर समन्वित हो सकते हैं। इस प्रकार पुनः मनुष्य जन्म तक के मध्यके सम्पूर्ण जन्मोंके प्रारब्धका निर्माण, उसी वासनाके द्वारा हो जाता है।

भोग-योनिका कोई प्राणी जब शरीर छोड़ता है तो उसके शरीर छोड़ने के साथ दूसरा प्रारब्ध उसके साथ हो जाता है। यदि उसे पुनः पृथ्वी में जन्म ग्रहण करना हुआ तो वह चन्द्रलोकसे वर्षाके द्वारा इस लोकमें लौट आता है। बार-बार निर्णयके लिये यमलोक नहीं जाना पड़ता। मनुष्य यमलोक जाता है और उसके उस अन्तिम वासनाके द्वारा आकर्षित संस्कारों का प्रारब्ध निर्माण वहीं होता है। यम उन संस्कारों को प्रारब्धोंके रूपमें व्यवस्थित कर देते हैं। जो संस्कार प्रारब्ध नहीं बन पाते वे नष्ट नहीं होते। संचितमें उनका कोष रहता है और अवसर पड़नेपर वह पुनः परिणाम प्रकट करते हैं।

"मानस शास्त्र" में यह बता चुके हैं कि जीव मृत्युके उपरान्त किस मार्ग से यमलोक जाता है, अतः इस लेख में उसका विस्तार नहीं करेंगे। इतना अवश्य बता देना है कि जीव या सूक्ष्म शरीर में स्त्री-पुरुषादि लिंग भेद अथवा पशु-पक्षी आदि जाति-भेद नहीं होता। यह एक धारणा है। जीव अपने कर्मके अनुसार इन लिंगों या जातियोंमें जन्म पाता है।

समाचार-पत्रों में बहुतेरे ऐसे समाचार छपे हैं जिनमें छोटे अबोध बच्चों ने अपने पहले जन्मकी बातें बतायी हैं। उन्होंने पहले जन्म के सम्बन्धियों को पहचान भी लिया और अपरिचित स्थानोंका पता भी बताया। ऐसी बातें भी उन्होंने कहीं कि वे किसी दूसरे जन्ममें स्त्री या पशु थे। पुनर्जन्मके प्रमाण के

साथ ये घटनाएं इस सिद्धान्तको पुष्ट करती हैं कि जीव में लिंग या जाति भेद नहीं होता।

प्रत्येक व्यक्तिको पूर्वजन्मकी बातें क्यों स्मरण नहीं रहतीं और ऐसी घटना बहुत कम क्यों होती हैं, इसका उत्तर बहुत सीधा है। पूर्वजन्म तो क्या इस जन्मकी भी अधिकांश बातोंको मनुष्य भूल जाता है। कोई-कोई ही ऐसे विलक्षण स्मृति-सम्पन्न पुरुष मिलते हैं जो किसी एक बात को एक बार सामने देखकर वर्षों तक उसे नहीं भूलते। अधिकांश लोग ऐसी प्रबल स्मृति नहीं रखते। जब हमें इसी जन्मकी बातें भूल जाती हैं तो पूर्व जन्मकी कैसे स्मरण रहेंगी। किसी विलक्षण मस्तिष्ककी बनावटके कारण कुछ दृढ संस्कार प्रकट भी हो जाते हैं। प्रायः ऐसा होता है कि पूर्वजन्मका स्मरण रखनेवाले बच्चे भी बड़े होनेके साथ उन संस्कारोंको भूलने लगते हैं। थोड़े दिनों में मस्तिष्कपर जब नवीन शरीरके संस्कारोंका प्रभाव पड़ने लगता है, वह उन पुराने संस्कारोंको सर्वथा भूल जाता है। जिस पूर्वजन्म के सम्बन्धीको उसने पहले पहचाना था, फिर नहीं पहचान सकता।

जीवमृत्युके समय यदि शुभ कर्मी हुआ तो पितृयान मार्ग स्वर्गादि लोकोंमें जाता है और अशुभ कर्मी हुआ तो उसे यमदूत बहुत क्लेश देते हुए बड़े कष्टप्रद मार्गसे ले जाते हैं। अज्ञान ग्रन्थि जिनकी छिन्न हो चुकी है वे लोग देवयान मार्गसे जाकर मुक्त हो जाते हैं। पूर्ण ज्ञानी जिसने जीवन्मुक्ति प्राप्त कर ली है, शरीरान्त होते ही व्यापक ब्रह्म-तत्व में लीन हो जाता है। भक्त अपने आराध्यके उन दिव्य धामोंमें पहुँचता है जो मायासे परे त्रिपाद्-विभूति में हैं।

जो जीव स्वर्ग या नरकसे अपने कर्मोंका फल भोग चुकता है, वह पुनः जन्म ग्रहण करने के लिये चंद्रलोकमें आता है। चंद्रलोकसे बादल में और वर्षाके जलके साथ पृथ्वीपर आता है। कर्मके अनुसार अदृश्य शक्ति उसका संचालन करती रहती है और इस प्रकार वह वहाँ पहुँचाया जाता है, जहाँ उसे जन्म ग्रहण करना होता है। जलके द्वारा या जलसे तृण अथवा अन्नमें पहुँचकर भोजनके द्वारा पुरुषमें पहुँचता है। पुरुषके वीर्यसे वह माताके उदरमें स्थान पाता है।

गर्भ में एक रात्रिमें कलल, तीन दिनमें बुलबुला, और फिर महीने भरमें एक मांस-पिण्ड बनता है। धीरे-धीरे यह मांस पिण्ड बढ़ता है। उसमें मुख, हाथ, पैर, नेत्र, कर्ण, नस, अस्थि, लोम प्रभृति क्रमशः बनते हैं। जब सब अंग पूर्ण हो जाते हैं तो चेतना आती है। श्वास-प्रश्वासकी क्रिया उदर में नहीं होती। नाभिमें लगी हुई नालके द्वारा माताके भोजनके रस से उसका पोषण होता है। सिर नीचे होता है और पैर ऊपर। एक पतली- झिल्लीसे वह घिरा और नालसे बँधा रहता है। झिल्लीके भीतर एक प्रकारका द्रव पदार्थ भरा रहता है जो उसके शरीरको आर्द रखता है। हाथ-पैर बँधे रहते हैं, नेत्र खुल नहीं सकते। दाहिनी करवट वह इस प्रकार सिकुड़ा रहता है जैसे शीतसे कोई ठिठुरता हुआ घुटने और सिरको एक में पेट से सटाकर पड़ा हो।

वह पतली झिल्ली जो बच्चेको घेरे रहती है और प्रसव के समय फट जाती है, अण्डजों में कड़ी होती है। अण्डेका ऊपरी आवरण वही झिल्ली है। जिन चौरासी-लक्ष योनियोंके पश्चात् मनुष्य शरीर प्राप्त होता है, उनके सब लक्षण गर्भमें प्रकट होते हैं। कललके पश्चात् अमीबे प्रभृति कृमियोंका रूप और इसी प्रकार उस मांस पिण्ड में क्रमशः सभी रूप प्रकट होकर विलीन होते जाते हैं। कोई-कोई रूप तो कुछ मिनट तक रहता है। अन्तमें वह मनुष्याकृति में स्थिर हो जाता है। यह स्थिरता छः या पाँच महीनेके गर्भ में आ जाती है।

गर्भके सप्तम मास में वह चेतनायुक्त हो जाता है। उस समय उसे अपने समस्त जन्मोंकी स्मृति हो जाती है और वह मुक्तिके लिये किसी जन्ममें चेष्टा न कर सका, इस पर बेहद पश्चाताप करता है। माताकी जठराग्नि उसे संतप्त करती रहती है, उदरके कीड़े काटते रहते हैं। इस घोर कष्टमें वह परमात्मासे प्रार्थना करता है कि उसे गर्भसे बाहर किया जावे। वह प्रतिज्ञा करता है कि इस जन्ममें अवश्य वह मुक्ति के लिये प्राण-प्रणसे चेष्टा करेगा।

यह कोरी कल्पना नहीं है। आधुनिक डाक्टरोंने भी स्वीकार किया है कि गर्भके सातवें महीनेके पश्चात् बच्चे के मस्तिष्कका एक आश्चर्यजनक विकास हो जाता है। अवश्य उस समय उसमें महान् प्रतिभा और विचार शक्ति रहती होगी। किन्तु जन्मके समय वह स्थिति परिवर्तित हो जाती है और वह

एक अबोध बन जाता है। डाक्टरोंने उन मृत शिशुओंके मस्तिष्क की परीक्षासे यह परिणाम निकाला, जो माता के पेट में सात महीने के पश्चात् मर गये और आपरेशन करके उन्हें निकाला गया। ऐसे शिशुके मस्तिष्कके कोशोंका ऐसा पूर्ण विकास मिलता है जैसा संसारके किसी भी पुरुषमें अभी तक नहीं पाया जा सका है।

इस बात में भी डाक्टर हमारे शास्त्रोंसे सहमत हैं कि प्रसूति वायुके द्वारा जब वह शिशु वेग पूर्वक उदरसे बाहरको ठेला जाता है तो उसके सिर पर अत्यधिक दबाव पड़ता है। गर्भस्थशिशुका मस्तक खुले वातावरणमें जब आता है तब एकाएक वायुमण्डलका जबरदस्त दबाव सहना पड़ता है। अतः उसके कोष दबाव पाकर टूट जाते हैं और एक दूसरेमें उसी प्रकार मिल जाते हैं जैसे गीली मिट्टीके दो खिलौने एकमें दबा देनेपर मिल जावें। फलतः शिशुका सारा ज्ञान लुप्त हो जाता है।

संयोगसे किसी शिशुका कोई कोष सुरक्षित बच जावे तो जन्मसे उसमें वह प्रतिभा या गुण होगा जिसका कोष बच गया है। ऐसा कम होता है, पर होता अवश्य है। पाँच छ: वर्ष के बच्चे बिना सिखाये सितार प्रभृति वाद्य सुन्दर रीति से बजाते पाये गये हैं। आद्य शंकराचार्य बारह वर्ष की अवस्थामें अपने भाष्य ग्रन्थ लिखने लगे थे। इस प्रकार के दूसरे गुणोंके दृष्टांत भी मिल जायेंगे। पूर्वजन्मका स्मरण रखनेवाले शिशु भी इस कोटि में हैं।

गर्भसे बाहर आनेपर गर्भकी स्मृति नष्ट हो जानेके कारण जीव अपने पूर्वजन्मके कर्म, मृत्यु और गर्भवासका कष्ट सब भूल जाता है। उसे अपनी प्रतिज्ञाका स्मरण नहीं रहता। कहने और बतानेपर भी उन अवस्थाओं की कोई अनुभूति उसके मन में नहीं आती, अतएव उसे कोई खेद और पश्चाताप नहीं होता। वह एक प्रकार से नवीन जीवन आरम्भ करता है। पुनः उन्हीं सांसारिक कर्मोंमें लग जाता है जिनके पाप-पुण्यके संस्कार उसे इस आवागमन के संसृतिचक्रमें डालते हैं। इस प्रकार उसके जन्म-मरण का क्रम सदा चला करता है।

माता के गर्भ में आने तक जीव केवल सूक्ष्म शरीरके साथ रहता हो ऐसा नहीं। हम बता आये हैं कि सूक्ष्म शरीर बिना किसी स्थूल आवरणके एक पल भी नहीं ठहरता। भागवत में बतलाया गया है कि जैसे तृण पर घूमने वाला कीड़ा एक तृणको पकड़कर तब दूसरेको छोड़ता है, इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर एक शरीर का एकांशसे ग्रहण करके तब दूसरेको छोड़ता है।

प्राणान्तके समयकी अंतिम वासना अपने साथ दूसरी वासनाओंके संस्कार लेकर वासना-शरीर बना लेती है। यमदूत इसी वासना शरीर युक्त जीवको ले जाते हैं। स्वर्ग जाना हुआ तो उसे देवयोनि प्राप्त होती है और नरक जाना हुआ तो यातना शरीर। चन्द्रलोक में वह अपने वासना-शरीरसे आता है। चन्द्रलोकसे एक योनि क्रम आरम्भ होता है। बादल और जलमें वह एक सूक्ष्म कीटाणुकी योनि में जन्म लेकर रहता है। पृथ्वी पर आकर वह यदि तृण या अन्नमें गया तो यह भी एक वृक्ष-योनि हो गई। मनुष्य के उदरमें जाकर वीर्यमें भी वह एक कीट होकर रहता है। इस प्रकार एक जन्म-क्रम पार करके वह शरीर पाता है।

जन्म-क्रम जहाँ पूर्ण हो जावे, जैसे पशुके मरनेपर उस शरीराभिमानी जीवका जन्म-क्रम पूरा हो गया, तो उसे पुनः यमलोक जाकर नये सिरेसे उसी क्रमको आरम्भ करना पड़ता है। एक क्रमके मध्यमें वह यमलोक नहीं जाता। जैसे जो जीव तृणमें है और उसे पशु होना है, तो तृण पशु खा लेगा और वहाँ से वह पशुके वीर्यमें आ जावेगा। अण्डा, मांस प्रभृतिके द्वारा भी मनुष्य या पशु उनमें स्थित अनेकों जीवोंको अपनेमें ग्रहण करता है। वीर्य तक पहुँचकर भी सब जीव शरीर नहीं पाते। अधिकांश नष्ट होकर पुन: जन्म-मरण के चक्र के लिये वहीं से विदा हो जाते हैं। जिसे जन्म लेना है वही लेगा, शेष अपना दण्ड भोगते रहेंगे। यह चक्र ज्ञान होनेपर ही समाप्त होता है।

***

# मोक्ष

जीव परमात्माका अंश है। इतना तो सब कोई मानते हैं। जो चेतन-सत्ताको नहीं मानते, उन्हें मोक्षका विषय समझाना हमारा काम नहीं। जो चेतन सत्ताको मानते हैं, उन्हें जीवको ईश्वरांश माननेमें आपत्ति न होगी। साथ ही वे ईश्वरको सर्वव्यापी भी मानते हैं। व्यापक वस्तुमें अंश-अंशी भाव नहीं हो सकता। तो अंशीसे पृथक होनेवाला अंग अंश कहा जाता है, पर यदि अंशी विभु हो तो अंश होगा कहाँ ? जैसे आकाशका कोई अंश नहीं हो सकता, वैसे ही परमात्माका कोई अंश नहीं हो सकता।

विभुमें अंशका उपचारसे प्रयोग होता है। जैसे घड़ेके भीतर के आकाशको घटाकाश कहते हैं। घटाकाश यों महाकाशसे अभिन्न है, पर घड़े उपचारसे उसे आकाशका अंश कहते हैं। इसी प्रकार कारण-शरीर उपहित चेतन जीव कहा जाता है और उसे ईश्वरका अंश कहते हैं। वस्तुतः वह व्यापक चेतन से अभिन्न है, पर कारण शरीर में होने के कारण वह भिन्नसा प्रतीत होता है।

आकाशमें धूलि, बादल, किरणें सभी होती हैं, किन्तु आकाश उनसे स्पष्ट नहीं होता। अवश्य धूलि प्रभृत जितने अंशमें रहती हैं, आकाश का उतना अंश हमें धूमिल प्रतीत होता है। वस्तुतः वह धूमिल नहीं होता। धूलि हटते ही वह स्वच्छ मिलता है। इसी प्रकार चित्तकी वासनाओं एवं कर्मोंसे चित्तोपहित चेतन-जीवका कोई संसर्ग यद्यपि वस्तुतः नहीं है, किन्तु चित्तके वे दोष जीवमें प्रतीत अवश्य होते हैं। चित्त प्राकृतिक है और उसके सब विकार, संस्कार, वासना, गुण प्राकृत हैं। वे सब चेतनात्माको स्पर्श नहीं कर सकते। चित्तमें स्थित होनेके कारण चेतन जीवमें उनका आभास प्रतीत होता है।

चित्त स्वत: जड़ है। जड़ कोई कार्य करने में असमर्थ होता है, यदि उसे चेतनका संयोग न मिले। चेतन जीवका संयोग समस्त क्रियाओंका मूल है। यह

संयोग ही चिज्जड़ ग्रन्थि कही जाती हैं। "मैं करता हूँ", यह अहंकार जो कि मिथ्या है, जीव का सम्बन्ध चित्तसे करता है। जीव चित्त के धर्मों को अपने में मान लेता है और अपने धर्मोंको चित्त में। क्रिया, विकार प्रभृति जो जड़के धर्म हैं वे अपने समझता है। "मैंने किया, मैं सुख या दुख भोग रहा हूँ", यह भावना उसमें दृढ़ हो जाती है। क्रिया तो होती है मनकी प्रेरणा से और सुख-दुखका सम्बन्ध भी शरीर एवं मनसे है, पर जीव उसे अपना समझ लेता है। ज्ञान, आनन्द, प्रकाश, शान्ति जो उसके अपने स्वरूप हैं, वह प्रकृति में मानता है। इन्हें पानेके लिये आतुर रहता है। बाहरकी वस्तुओं में इन्हें मानकर वह बाहर आकर्षित होता है। इस प्रकार का यह जीवका भ्रम उसके जीवत्वका कारण है।

जैसे घड़ा है और उसके भीतर आकाश है, तो घड़े में जो धूलि आदि होगी उसका आभास घटाकाशमें होगा। घड़ा जहाँ भी जायगा वहाँ उस घटाकाशको जाना पड़ेगा। घड़े में जो परिवर्तन होगा, घटाकाशमें सबका भान होगा। वैसे ही चित्तोपहित चेतनामें चित्तके सब विकारोंकी प्रतीति होती है। जल में प्रतिबिम्बित सूर्य जैसे जलके हिलानेसे हिलता प्रतीत होता है, वैसे ही जीवमें चित्तके धर्म दृष्टि पड़ते हैं। सूक्ष्म शरीर जहाँ भी जायगा वहाँ जीवको जाना पड़ेगा। सूक्ष्म शरीर के साथ जन्म-मरणके चक्र में वह पड़ा है। जीवका यह सूक्ष्म शरीरके साथ जन्म-मरणके चक्र में वह पड़ा है। जीवका यह सूक्ष्म शरीरसे सम्बन्ध अनादि है। ज्ञानके द्वारा उसका अन्त होता है। जब तक जीव अपने आनन्दमय स्वरूपको न समझ ले और यह न जान ले कि "कार्य और विकार मेरे नहीं, प्रकृतिके धर्म हैं", तब तक उसे इस बन्धनमें रहना होगा। तब तक वह चित्तके साहचार्य दोषसे आवागमनमें पड़ा रहेगा।

जीव जब अपने स्वरूपको समझ लेता है और प्रकृतिके रूपको भी जान लेता है, तो उसकी यह चिज्जड़ ग्रन्थि समाप्त हो जाती है। वह चित्त या उसके धर्मों में अहंकार नहीं करता। चित्तको जब चेतनका सम्बन्ध प्राप्त नहीं होता तो वह जड़की भांति स्थिर हो जाता है। उसका कार्य बन्द हो जाता है, इसीको समाधि कहते हैं। क्योंकि जब चित्तका कार्य बन्द हो गया तो शरीरका कार्य कैसे चलता रह सकता है। यदि यह अवस्था अठारह-बीस दिन अखण्ड रहे तो प्रकृतिके परिणायी होनेके कारण चित्त में परिणिति होती है। वह अपने गुणोंमें

मिल जाता है। लोग उसे मृत्यु कहते हैं। वस्तुतः चेतनके पृथक हो जानेसे, उसके आधारपर बना यह शरीर और चित्त फिर रह नहीं पाते। जैसे जल मिलाकर रजका एक गोला बनाया जाय और फिर किसी यन्त्रसे उसमेंसे सम्पूर्ण जल निकाल लिया जाय तो वह टूट जावेगा। वैसे ही चेतनके पृथक होनेपर शरीरके निर्माता पदार्थ अपने-अपने कारणोंमें मिल जाते हैं। उनका यह रूप नहीं रहता।

एक बार ज्ञान हो जानेपर, एक बार स्वरूपका बोध होनेसे, समाधि की स्थितिको प्राप्त कर लेने पर, चाहे वह आधे पलके लिए क्यों न हो पुनः बन्धन नहीं होता। जैसे हम अपने नाम सदा रटते नहीं रहते, किन्तु अवसर पड़नेपर वह भूलता नहीं, वैसे ही एक बार अपने स्वरूपका बोध होनेपर पुनः प्रकृतिमें तादात्म्य सम्भव नहीं। प्रारब्धके संस्कारवश उस स्थितिसे उत्थान अवश्य हो जाता है, किन्तु प्रारब्धके समाप्त होते ही वह पुनः उसी स्थिति में पहुँच जाता है। जैसे एक बार हम एक आनन्दके स्थान को देख लें और कोई बाधा हमें बलात् वहाँसे हटा दे, तो वह बाधा दूर होते ही हम वहाँ पहुँच जावेंगे। ऐसे ही प्रारब्धकी बाधासे जब एक बार स्वरूप बोध होनेपर भी मन वहाँ स्थिर नहीं रहने देता, तो शरीरान्त पश्चात प्रारब्ध निवृत्त होते ही जीवात्मा पुनः उसी अवस्था में स्थित हो जाता है।

घटाकाशकी मुक्तिका सीधा अर्थ है घड़ेको फोड़ देना। इसी प्रकार जीवकी मुक्तिका अर्थ है चित्तको नष्ट कर देना। जन्मका कारण प्रारब्ध चित्तके संस्कारोंसे बनता है। चित्तका स्वरूप संस्कारात्मक है। उसमें जन्म-जन्मान्तर के संस्कार संचित हैं। इस संचयका प्रकार "प्रकाश" के एक अध्याय में बता चुके हैं, अतः यहाँ विस्तार नहीं करेंगे। उसी पुस्तकको इसके लिये देखना चाहिए। जब तक चित्त है - संस्कारोंका समूह है, तब तक प्रारब्ध बनेगा और तब तक पुनर्जन्म भी होगा। बिना समस्त वासनाओं के संस्कारोंको निर्मूल किये, मुक्ति हो नहीं सकती।

ज़ानसे समस्त संचित संस्कार नष्ट हो जाते हैं। संस्कार प्राकृत अथच जड़ है। जीव उन्हें अपना समझकर स्वयं उन्हें अपने सिर ले लेता है। जब वह समझ लेता है कि "मैं कर्ता नहीं, संस्कार मेरे नहीं", तो संस्कारोंसे उसका

सम्बन्ध नहीं रह जाता, उसके संयोगके अभाव में वे नष्ट हो जाते हैं। जो संस्कार संचित हैं, जिनका सुख-दुख इस समय नहीं हो रहा है, जो कार्यशील नहीं हैं, उनसे तटस्थ हो जाना सरल है। अपने स्वरूपका बोध होते ही जीव उनसे तटस्थ हो जाता है। पर जिस प्रारब्ध के संस्कार व्यवहार में हैं, जिनका वह उपयोग कर रहा है, उनसे तटस्थ होना सरल नहीं होता। उनसे तटस्थ होनेकी असमर्थता उसे अपने स्वरूपसे उत्थित करती है और प्रारब्ध पर्यन्त उसे संसार में रहना पड़ता है।

संचित, ज्ञान के समय तटस्थ होनेसे नष्ट हो जाता है और प्रारब्ध भोगकर समाप्त रह गया क्रियमाण। वह अपनी स्वेच्छासे तो कुछ करता नहीं, जो कुछ भी करता है प्रारब्ध प्रेरित, अत: क्रियमाणके संस्कार उसे लिप्त नहीं होते। जैसे एक नौकर नहीं चाहता कि वह किसीको पीटे, पर स्वामी उसे पीटने को बाध्य करता है, ऐसी दशा में उस पापका भागी नौकर नहीं हो सकता। इसी प्रकार प्रारब्ध प्रेरित क्रियमाणके संस्कार ज्ञानीको स्पर्श नहीं करते।

प्रारब्ध प्रेरित कार्य करनेवाले महापुरुषमें संसार या विषयोंके प्रति राग नहीं हो सकता। पाप होते हैं शरीरके स्वार्थके कारण, जिसमें शरीर के प्रति ममत्व नहीं है उससे पाप हो नहीं सकते। उनकी रुचि कभी सांसारिक कार्यों में न होगी। वह उनमें रमता हुआ भी उनसे अनासक्त रहेगा।

ज्ञानका अर्थ केवल बुद्धिसे कुछ सोच लेना तो बहुत सरल है। बुद्धि के निर्णयको ज्ञान मानकर आज संसारमें ऐसे ज्ञानी जाने क्या-क्या अनर्थ करते हैं। ज्ञानका अर्थ है अनुभव। कम-से-कम एक बार एक क्षणके लिये मनकी समस्त वृत्तियों का लय हो जाय। अहंकार से परे होकर हम यह स्पष्ट अनुभव कर सकें कि संसार, शरीर, मन प्रभृति किसी से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। यह अनुभव इस प्रकार स्पष्ट होना चाहिए जैसे हमें संसार का स्पष्ट अनुभव हो रहा है।

जीवात्मा परमात्माका अंश तथा उससे अभिन्न है। उसके बन्ध या मोक्षकी कल्पना मनके कारण हुई है। जब तक चित्त है, तब तक वह बद्ध है, चित्तके नष्ट होनेपर वह मुक्त हो जायगा। हमारा ध्यान चित्तपर होना चाहिए।

चित्त में सब विकार ज्यों-के-त्यों भरे पड़े हैं और हम अपनेको नित्यमुक्त मानकर मनमानी करें, यह एक घोर अनर्थकारी भूल होगी। उन कर्मों के फल भोगसे हम बच नहीं सकते।

जब तक शरीर रहेगा, चित्त भी रहेगा। शरीर चित्तका कार्य है, अतः चित्तके अभाव में उसका टिकना सम्भव नहीं। ज्ञानानन्तर सूक्ष्म प्रारब्ध चित्तको बनाये रखता है, बन्धक नहीं। "पुनर्जन्म" प्रकरण में हम बता आये हैं कि मृत्यु समयकी अन्तिम इच्छा पुनर्जन्मका कारण होती है। संचितके जड़ संस्कारोंको अपने साथ समन्वित करके यही अन्तिम वासना प्रारब्धका निर्माण करती है। यदि इस वासनाका संचितके किसी भी संस्कार में समन्वय न हो, तो जीवका पुनर्जन्म असम्भव हो जायेगा।

ज्ञानके पश्चात् ज्ञानीकी आसक्ति संसार में तो रह नहीं जाती। उसकी रुचि अपने स्वरूपमें होती है। मृत्युकी व्याकुल घड़ियों में प्राणी कुछ सोचने में समर्थ नहीं होता। उस समय जिस वस्तु या क्रिया में उसकी अधिक आसक्ति होती है, वही स्मरण होती है। ज्ञानीकी आसक्ति संसार में तो है नहीं, अन्तमें भी उसमें अपने स्वरूपकी भावना उठेगी। संचितके मायिक संस्कारोंका उस अमायिक भावनासे क्या समन्वय। कोई प्रारब्ध वहाँ बन नहीं सकता। पुनर्जन्मका क्रम यहीं समाप्त।

यह निर्गुण मार्गके लोगोंकी मुक्ति हुई। सगुण उपासकोंके मोक्षके विषयमें भी समझना है। मनका स्वभाव है कि वह निर्विषय नहीं रह सकता और एक साथ एकसे अधिक बात या यथार्थ को सोच नहीं सकता। एक समय उसकी आसक्तिका केन्द्र एक ही हो सकता है। निर्गुणमार्गी भी स्वरूपका निदिध्यासन करता रहता है। उसका यही अर्थ होता है कि मनसे दूसरे संस्कार नष्ट हो जावें। सगुण उपासक अपने मनकी एक भावनाको, जो सबसे प्रधान भावना है, ले लेता है। प्रधान भावनामें मनकी स्वतः भी अधिक रुचि होती है। मनको उसी भावनाके अनुसार आराध्य रूपपर वह स्थिर करता है।

ध्यान, मनको स्थिर करना या लक्ष्य में तन्मयता सब पर्यायवाची हैं। इनका अर्थ यह नहीं होता कि मन एक वृत्तिको लेकर क्रियाहीन हो जाता है।

मनका स्वरूप वृत्तिमय है। वह क्रियाहीन तो हो नहीं सकता। एकाग्रताका अर्थ है मनमें एक ही प्रकारकी वृत्तियों का प्रवाह। जैसे नदीका जल बहता रहता है, पर एक ही ढंगसे प्रवाह आनेके कारण नदी का रूप एक रहता है, इसी प्रकार मनमें एक लक्ष्यकी वृत्तियोंका प्रवाह लक्ष्यको स्थिर रखता है। मनमें निरंतर लक्ष्याकार वृत्ति हो, दूसरी वृत्ति न उठे, इसी को ध्यान कहते हैं।

एक ही वृत्तिके बराबर उत्थान से मनके दूसरे संस्कार निष्प्राय हो जाते हैं। उसी लक्ष्यमें मनका स्वाभाविक स्नेह हो जाता है। वह बार-बार उसी को सोचता है। यह अत्यन्त स्वाभाविक हो जाता है कि मृत्युके समय भी उसे वही वस्तु या भाव स्मरण आवे।

"त्रिपाद्-विभूति" के वर्णन में बताया गया है कि समस्त मनोभावनाओं का मूल त्रिपाद्-विभूति है। वहाँ के नित्य लोकोंके अनुसार भावना जगत और भावना जगत के अनुसार भौतिक जगत निर्मित होता है। वहाँ मायाका लेश नहीं। एक ही व्यापक तत्व घनीभूत होकर वहाँ अनेक रूपों में क्रीडा करता है। जितने भाव मनमें आ सकते हैं, उतने ही नित्य लोक हैं। एक उपासक अपने किसी भावके अनुसार आराध्यके किसी रूपकी उपासना करता है। वह उस भावनाको इतना प्रबल कर लेता है कि एक बार वह भावना चितको एकाकार कर देती है। विश्वकी विभिन्नता उसके लिये उस समय नष्ट हो जाती है और वह अपने उपास्यको एकमात्र देखता है। वह प्रेम समाधिकी अवस्था है। इस अवस्थासे उत्थित होनेपर भी वह ज्ञानीकी भांति कर्मोंमें लिप्त नहीं होता।

उपासक आराध्य को अमायिक मानता है। जीवन में प्रगाढ़ प्रेमने उसे आराध्य में दृढ़ अनुराग दे दिया है। मृत्युके समय उसे अपने इष्ट देव का स्मरण होता है। यह संस्कार अमायिक भावनाको लेकर है। संचितके मायिक संस्कारोंसे उसका सम्बन्ध सम्भव नहीं। सम्पूर्ण जगत में प्रभु साक्षात् हो गया हो, तो संचित भस्म भी हो चुका होता है। किसी भी प्रकार अन्तिम समयमें भगवान् के नाम या रूपका स्मरण होना चाहिये। भावना उन नामों और रूपोंमें अमायिकता की है, अतः मायिक कर्मोके संस्कार उससे आकर्षित नहीं होते। प्रारब्ध निर्माण नहीं हो पाता। पुनर्जन्मकी इतिश्री हो जाती है।

निर्गुण मार्गी तो विभु-निर्गुण आदिकी भावना करता है। चित्तके नष्ट होते ही वह व्यापक निर्गुण तत्वमें एकीभूत हो जाता है। भक्त किसी भावमय उपास्यरूपका चिन्तन करता है। चित्तके बन्धन से छूटकर उसके जीव चैतन्यका उस नित्यलोक में आकर्षण होता है जो उसके उपास्यका नित्य लोक है। जीव स्वतः चैतन्य है, पर भावना के अनुसार उसका घनीभाव होता है और वह अपने पूर्वभावके अनुसार उस नित्यलोक में सदा आराध्य के समीप रहता एवं क्रीडा करता है।

सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य में चार प्रकारकी मुक्ति भक्तिशास्त्र मानते हैं। पहली मुक्ति आराध्य लोकमें रहना। दूसरी अराध्यके लोकमें उन्हींके रूपमें रहना। तीसरी सदा आराध्य के पास रहना। चौथी आराध्य में एकीभूत हो जाना, यही निर्गुण मुक्ति भी है। यह चतुर्धा भेद उपासककी भावनाके अनुसार होता है।

कल्पान्त मुक्ति और उसके पश्चात् पुनर्जन्म एक उपहास्पद कल्पना है। ब्रह्मलोकका प्राणी कल्पान्त तक वहाँ रहता है। ऐसी दशामें मुक्ति और ब्रह्मलोकमें कोई अन्तर नहीं रह जाता। समस्त कर्मोंके संस्कारोंको समाप्त करके मुक्त हुए जीवका पुनर्जन्म, यदि ईश्वरेच्छासे मानें तो ईश्वर पर विषमदर्शी होनेका आक्षेप होगा। एक मुक्त जीवको वह मनुष्य और एकको पशु क्यों बनाता है? आज जो मुक्त हुआ साधन उसे भी उतना करना पड़ा और जो एक शताब्दी पश्चात् मुक्त होगा उसे भी साधन वही करना होगा। फिर समान श्रम करने वालोंके मुक्ति सुखमें एक शताब्दीका अन्तर क्यों?

जीवमुक्त होता है - सदाके लिये। भावनाओंका बाहुल्य उसके जन्मका कारण है। इस बहुलतासे वह किसी एक भावनाको, चाहे वह निर्गुण या सगुण किसी की हो, आधार बनाकर निवृत्ति हो सकता है। ऐसा होते ही वह इस चंचलमायासे पार हो जाता है, क्योंकि वह स्वतः एक पर स्थिर हो चुका है।

***

# सतीत्व और परलोक

जीवमें कोई लिंग भेद शास्त्रोंको सम्मत नहीं। कर्मानुसार वही जीव कभी पुरुष, कभी स्त्री और कभी नपुंसक या जड़ होता है। केवल स्थूल शरीरमें लिंग भेद होता है, सूक्ष्म में नहीं। आज यूरोप में स्त्रीसे पुरुष, पुरुषसे स्त्री होने के दृष्टान्त बहुत मिलते हैं। सफल डाक्टर किसी पुरुषको स्त्री बना सकता है। पुराणोंमें इला का सुद्युम्न और सुद्युम्नका पुनः इला हो जाना वर्णित है। यदि सूक्ष्म शरीरमें लिंग भेद होता तो ऐसा होना असम्भव हो जाता। स्त्रीत्व और पुरुषत्व स्थूल शरीरके धर्म हैं, अतः स्थूल उपकरणोंसे उसमें परिवर्तन कर देना संभव है।

इस उपरोक्त सिद्धांत के मान लेनेपर इस शास्त्राज्ञाका विचार करना है कि स्त्री पति लोकको पाती है। पतिकी उपासना स्त्रीके लिये बतायी गई है। दूसरे जन्ममें भी उसी पतिकी पत्नी होने का सौभाग्य पतिव्रताको मिलता है। सतीत्वकी अपार महिमा बतायी गई है। केवल पातिव्रत्यसे ही स्त्री उन समस्त शक्तियोंको प्राप्त कर लेती है जो योगादि दूसरे साधनोंसे अत्यन्त दुस्साध्य हैं।

जहाँ तक शक्ति प्राप्तिका प्रश्न है, सतीत्वको कारण मानने में कोई आपत्ति नहीं। शक्तियोंके पानेका उपाय मनोनियन्त्रण है। यह कार्य योग, तप, श्वासनिरोध किसी से भी हो। पतिव्रताको पतिदेवमें अपने मनको सदा लगाये रहना पड़ता है। सतीत्व स्वतः एक उच्चकोटिका मनोनिग्रह है, अतः उसके द्वारा दिव्य शक्ति या मुक्ति मिले तो कोई आश्चर्य नहीं। सारे साधनों का जो मूल लक्ष्य चित्तवृत्तियोंका निरोध है, यह योग पतिव्रता को सहज सुलभ होता है। इसके बिना सतीत्वकी पूर्णता नहीं होती। अपना सर्वस्व उसे पति के चरणोंमें चढ़ा देना पड़ता है। उसका अहंकार या अपनत्व कुछ नहीं रह जाता। वह यन्त्रकी भाँति पतिकी अनुवर्तिनी होती है। आत्मसमर्पणकी यह पूर्णता है। भक्तिका सर्वोच्च मधुर भाव यहाँ स्वाभाविक होता है। ऐसी दशा में साधनकी

उच्चतम स्थितिको स्वाभाविक बना लेने वाली स्त्री, यदि समस्त शक्तियों और मुक्तिकी भी अधिकारिणी हो जाती है तो किसी आश्चर्य अथवा सन्देहको अवकाश कहाँ।

स्त्रीके लिये पति परमगुरु है। उसे किसीको गुरु बनानेकी आवश्यकता नहीं। पति उसके लिये परमात्मा है। कुछ शास्त्र तो यहाँ तक कहते हैं कि जिस स्त्रीका पति जीवित है, वह किसी देवताकी आराधना न करे। पतिका नाम उसके लिये परम मन्त्र है। पतिकी मूर्ति उसके ईश्वरकी प्रतिमा है। पतिकी सेवा भगवान् की पूजा है। पतिकी आज्ञासे वह किसीको गुरु बनाकर कोई मन्त्र लेकर जप करे, या किसी व्रत उपवास अथवा देव विग्रहके अर्चन-पूजन का साधन करे तो कोई आपत्ति नहीं। किन्तु वह इन्हें न करे तो कोई हानि भी नहीं। पतिकी उपेक्षा या अपमान करके घोर तपस्या और रात-दिन पूजा करनेवाली स्त्री भी कुछ लाभ नहीं पा सकती। उसे वह पूजा घोर नरकसे बचा न सकेगी। केवल पति-भक्तिसे वह उन समस्त साधनोंका फल प्राप्त कर सकती है जो लाखों वर्षोंके कठोर श्रम करनेपर पूर्ण होते हैं।

पति परमात्मा है, अत: उसके स्थूल शरीरका विवेचन स्त्रीके लिये पाप है। वह अंधा, लूला, लंगड़ा, रोगी, कोढ़ी कैसा भी विकृतांग हो, स्त्रीका सेव्य है। केवल एक नियम शास्त्रों में हैं "वह पापी न हो"। स्त्रीको पतिके किसी दुष्कर्म में सहयोग नहीं देना चाहिये। उसे प्रेम से उस कर्मका विरोध करना चाहिये और इसके बदले आयी आपत्तियोंको सहन करना चाहिये। पतिका त्याग भारतीय संस्कृतिमें कोई अर्थ नहीं रखता। पति का अपमान और मनसे भी परपुरुषका चिन्तन करने वाली स्त्रियोंकी परलोक में भयंकर दुर्दशा होती है। युगों तक नरकाग्निमें उन्हें पचना पड़ता है।

मुझे स्त्री-धर्मका विवरण तो देना नहीं है। साधनकी दृष्टिसे सतीत्व एक सर्वोच्च साधन है और किसी भी साधनसे जो कुछ प्राप्त हो सकता है वह इसके द्वारा भी प्राप्त होता है। इसके आगे स्त्री पुनर्जन्ममें भी उसी पतिको पाती है और उसका जन्म स्त्री-योनिमें होता है तथा पतिव्रताको मिलता है, इन

सिद्धान्तों को समझना है। जीवमें लिंग भेदकी कल्पना हुए बिना इस प्रकार का नियम कैसे सम्भव है, यही देखना है।

यह एक स्वीकृत सिद्धान्त है कि प्रगाढ़ प्रेम दो हृदयोंको एक कर देता है। विशुद्ध प्रेमियोंकी दशा यहाँ तक हो जाती है कि दोनोंके मन एक हो जाते हैं और उनमें एक ही प्रकार के विचार उठते हैं। यह आवश्यक नहीं कि दूसरा भी पहले से उसे प्रेम करे। प्रेम यदि एकांगी भी हो तो भी वह प्रेमास्पदके हृदयपर विजय पा लेता है। विचारोंका प्रभाव हृदयपर पड़े बिना नहीं रहता। मनोविज्ञान कहता है कि यदि तुम किसी व्यक्ति के विषय में कोई विचार करते हो तो उसके हृदयमें तुम्हारे प्रति भी उसी प्रकार के विचारोंकी प्रतिक्रिया होगी। मानस-चिकित्सक दूरस्थ रोगीके स्वास्थ्यकी भावना करके उसे स्वस्थ करने में इसी नियमानुसार समर्थ होता है।

स्त्री-पुरुषका प्रेम अभिन्नता के लिये आदर्श माना जाता है। पतिव्रता तो अपनत्वको पति में मिला चुकी होती है। हृदयकी दृष्टिसे वह पति से अभिन्न है। उसके विचारोंका प्रभाव पतिके हृदयपर न पड़े यह सम्भव नहीं। कर्मके संस्कार भी विचारोंके आधीन होते हैं, क्योंकि कर्म स्वतः विचारके परिणाम है। इस प्रकार स्त्री और पतिके संस्कारोंमें एक प्रकारका साम्य स्थापित हो जाता है। पुनर्जन्मका कारण जब संस्कारोंको माना जाता है तो यह भी मानना पड़ेगा कि समान संस्कारके जीवोंकी गति भी समान होती है। पतिव्रताका परलोकको जाना इस भाँति सर्वथा बुद्धि सम्मत है।

शास्त्र कहते हैं कि उच्चयोगी, भक्त या ज्ञानी पुरुषकी पत्नी जो पतिमें अनन्य निष्ठा रखती है, बिना साधनके पतिकी गतिको प्राप्त करती है। सच्ची सती अपने असत् कर्मी पतिका भी उद्धार कर लेती है। इस परस्पर विनिमयको समझिये। जब दो हृदयों में प्रेम होगा तो उनका परस्पर आकर्षण होना स्वाभाविक है। प्रेम चित्तका धर्म है। मृत्यु चित्तको नष्ट नहीं करती, अतः वह प्रेमको नष्ट नहीं कर सकती। प्रेमियोंके सूक्ष्म शरीर भी परस्पर आकर्षित होते हैं। नियम यह है कि सत्व, रज और तम - इन तीनों गुणों में सत्व, रज और तमसे तथा रज तमसे बलवान है। आकर्षणमें जिसका आकर्षण प्रबल होगा,

वह दूसरेको अपने पास खींच लेगा। प्रेम सत्व गुणका धर्म है, पति या पत्नी में जिसमें अधिक सात्विकता होगी, वह दूसरेको अपनी ओर आकर्षित करेगा। सतीत्वसे इस प्रकार दोनोंका लाभ होता है। दो में से एक के भी उन्नत होनेपर दूसरा उन्नत हो जाता है।

हिन्दू शास्त्र में यह एक प्रकार की व्यवस्था है कि जिनका परस्पर प्रेम सम्बन्ध है, उनमें से एक के कर्मके फलका कुछ अंश दूसरेको भी भोगना पड़ता है। पिताका कर्म पुत्रको, पुत्रका पिताको, गुरुका शिष्यको, शिष्यका गुरुको, स्त्रीका पतिको, पतिका स्त्रीको, प्रजाका राजाको, राजाका प्रजाको, इस प्रकार बहुत बड़ी तालिका है। जिनका जिससे कोई भी ममत्वका सम्बन्ध है, वे परस्पर एक दूसरे के कर्मोंके भागी होते हैं। ममत्व जितना प्रगाढ़ होगा कर्म विनिमय भी उतना अधिक होगा। सन्यासीको इसीलिये सर्व सम्बन्ध विनिमुक्त होनेकी आज्ञा है। अवधूतका सम्बन्ध गुरुसे भी नहीं रह जाता। शिष्य करनेकी उसे आज्ञा नहीं। श्राद्धमें पिण्ड देते समय भी इस सम्बन्ध का ध्यान रखा जाता है। किस सम्बन्धीका अधिक ममत्व हो सकता है, इसे दृष्टिमें रखकर एक के प्रधानके अभाव में, उत्तरोत्तर दूसरोंको अधिकारी बताया गया है।

जब दो हृदय सम्बन्धित होते हैं तो एक दूसरेके संस्कारोंका विनिमय करते हैं। देखा गया है कि दो प्रेमियोंके मनमें एक घटना एक ही संस्कार उत्पन्न करती है। प्रेम दो हृदयों को संबंधित करता है। जैसे लोहे के बड़े तारके एक सिरेको संतप्त करनेसे दूसरे सिरे तक उष्णता पहुँचती है, जैसे शरीरके एक अंगमें पीड़ा होनेसे दूसरे अंग भी व्याकुल होते हैं, वैसे ही दो सम्बन्धित हृदय एक दूसरेके संस्कारों को ग्रहण करते हैं।

किसी दूरस्थ प्रेमीके ऊपर विपत्ति आनेपर अपने चित्तमें भयका संचार होता है। अकारण डर लगता है। अर्थ केवल इतना है कि उससे सम्बन्धित होने के कारण हृदय उसके संस्कारोंको ग्रहण करता है। दूरी हृदयके सम्बन्ध में कोई प्रतिबंध उपस्थित नहीं करती। वह केवल स्थूल शरीर मात्रको पृथक करती है।

जिन दो व्यक्तियोंके हृदय परस्पर सम्बन्ध रखते हैं उनमें से एक के हृदय में जो क्रिया होगी, उसका प्रभाव दूसरेपर कुछ न कुछ अवश्य पड़ेगा। एक

जो कर्म करेगा उसका संस्कार उसके हृदयपर पड़ेगा और उस संस्कारका कुछ प्रभाव सम्बंधित हृदयपर अवश्य पड़ेगा। हम पहले कह चुके हैं कि सात्विकता शक्तिशाली होती है। संस्कार विनिमयमें जिसका हृदय सात्विक होगा वह दूसरेको अपना अनुगामी बना लेगा। यदि उन दोनों में से एक भी पवित्र हुआ तो दूसरा स्वतः धीरे-धीरे पवित्र हो जावेगा।

हिन्दू शास्त्रों में स्थान-स्थानपर ऐसे वाक्य आते हैं जिनका यह अर्थ है कि दुष्कर्मी व्यक्तिके पितर स्वर्गसे नर्कमें गिर जाते हैं और भक्त, ज्ञानी तथा धार्मिक पितरोंका नर्क से उद्धार हो जाता है। बता आये हैं कि हृदय सम्बन्धमें दूरी कोई बाधा नहीं देती। चित्त सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर में एक प्रकारसे होता है। अतः जैसे जीवित लोगों में संस्कार विनिमय हो सकता है, वैसे ही किसी मृत पुरुषमें भी। केवल हृदयका सम्बन्ध चाहिये। कुल परम्परा और गुरु-शिष्य परम्परामें कुछ न कुछ हृदयका सम्बन्ध अवश्य रहता है। यह सम्बन्ध नैसर्गिक है। इनमें प्राणीका स्वाभाविक ममत्व हो जाता है। अतः व्यक्तिके संस्कार उसके कुल परम्परा तथा गुरु-परम्परा के पितरोंको प्रभावित करते हैं। जिनका हमसे और जिनसे हमारा ममत्वका सम्बन्ध हो चुका है, वे सभी हमारे संस्कारोंसे प्रभावित होंगे।

पितर कर्म योनि में तो हैं नहीं। उनके कर्मोंके संस्कार जितने उनके हृदयपर पड़ने थे पड़ चुके हैं। उनसे सम्बन्ध होनेके कारण जितना उनके संस्कारों का हम पर प्रभाव पड़ा, वह अब घटता बढ़ता भी नहीं। हम करते हैं कर्म, हमारे चित्तपर नित्य नवीन संस्कार पड़ते हैं और उनका प्रभाव पितरोंपर भी पड़ता है। यदि हम दुष्कर्म करेंगे तो पितरों पर अहितकर प्रभाव पड़ेगा और सुकर्म करेंगे तो हितकर। पितर कर्म क्षेत्र में नहीं, अतः वे हमारे संस्कारोंसे बराबर प्रभावित होते रहेंगे। यदि हमारे हृदयका सम्बन्धी कर्मक्षेत्र में होता तो जहाँ हम उसे नवीन संस्कारोंसे प्रभावित करते, वहाँ उधरसे भी यही क्रिया होती। दोनों में से जो सात्विक होता, वह दूसरेको अनुगामी बना लेता। पितरोंका प्रभाव तो जैसा एक बार पड़ा वैसा स्थिर रहता है। हृदय जब उसका उल्लंघन कर लेता है तो पुनः उधर से कोई नवीन संस्कार तो आते नहीं। फल यह होता है कि पितरोंको हमारे संस्कारोंसे प्रभावित होना पड़ता है।

एक इतनी बात और समझ लेना चाहिये कि हृदयको संबंधित करने के लिये दोनों ओरका ममत्व आवश्यक नहीं। एक ओर की ममता इसके लिये पर्याप्त है। आप किसी से प्रेम करें तो वह चाहे आपसे भले न करे, किन्तु निश्चय आप एक दिन उसके हृदयपर विजय पावेंगे। क्योंकि प्रेमने आपके हृदयको उसी समय उससे सम्बन्धित कर दिया। पितरों को हम चाहे भले न जानें, किन्तु उनकी हमारे प्रति ममता उन्हें हमसे सम्बन्धित कर देती है।

पतिव्रता पत्नीका हृदय अपने पतिसे एक हो गया होता है। केवल ममत्व ही नहीं, वह तो अपनत्व भी पतिमें कर लेती है। फल यह होता है कि पतिके कर्म संस्कार पत्नीको और पत्नीके पतिको प्रभावित करते हैं। उन दोनों में से जो सात्विक होता है, उसके संस्कार दूसरेको अनुगामी बना लेते हैं। यह अभिन्न सम्बन्ध दोनोंके चित्तको अभिन्न रखता है। एकके कर्म का संस्कार दूसरेपर समान पड़ता है। जब दोनोंके चितस्थ संस्कार समान हैं तो दोनोंको परलोकमें एक गति मिले, यह स्वाभाविक है। पत्नी पति लोकको जाती है, इसका यही रहस्य है।

शास्त्रकारोंने स्पष्ट कहा है कि पतिव्रता पत्नी अपने दुष्कर्मी पतिका भी उद्धार कर लेती है और उच्चकोटिके महापुरुषकी स्त्री यदि पतिव्रता हो तो बिना किसी साधनके पतिके साधनसे प्राप्त धामको पहुँचती है। यह बात पति-पत्नीके विषय में ही कही गई हो ऐसा नहीं। गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र प्रभृतिके विषयमें भी यही बात कही गई है। दोनों में से किसी एक के भी उच्च होनेपर दूसरा उच्च पद प्राप्त कर लेता है।

यदि पति दुष्कर्मी है और पत्नी साध्वी, तो पत्नीके सात्विक संस्कारों का प्रभाव पतिपर समान रूपसे पड़ेगा। पतिके कर्मोंका पत्नीपर भी पड़ेगा। क्योंकि पत्नीसे पतिने अपना अभिन्न सम्बन्ध स्थापित कर रखा है। फलतः दोनोंके संस्कार समान होंगे और उसमें पत्नी के सात्विक संस्कार बलवान। पतिका इस प्रकार उद्धार हो जावेगा। ठीक यही बात गुरु-शिष्य या पिता-पुत्रके लिये भी है। लोकमें भी हम देखते हैं कि यदि शिष्य अधिक प्रसिद्ध हो गया तो उसके कारण गुरु मान्य हो जाता है। विख्यात पुरुषके शिष्यकी महत्ता बढ़ जाती

है। कोई पिता पुत्र के कारण प्रसिद्ध है और कोई पुत्र अपने पिताकी प्रसिद्धि के कारण प्रसिद्ध होता है।

पति-पत्नीके संस्कार विनिमय में, एक एकांगी संस्कार अविभाजित रहता है। सती स्त्री में यह दृढ़ भावना होती है कि "दूसरे जन्म में यही मेरे पति हों।" यह भावना उसे पुनः स्त्री बनाती है और उसके पतिको पुरुष। क्योंकि इस भावनाका स्पष्टीकरण करनेपर हम उसमें यह स्पष्ट आकांक्षा पाते हैं - "दूसरे जन्ममें भी मैं स्त्री होऊँ और ये पुरुष तथा मेरा सम्बन्ध इनसे हो।" दोनोंके संस्कार समान होते हैं, क्योंकि उनका सम्बन्ध उन्हें विनिमय करके समान बना देता है, अतएव दोनोंके प्रारब्ध एक समान बनते हैं। स्त्रीकी दृढ़ भावना प्रारब्ध निर्माण में कार्य करती है। प्रारब्ध समान होने पर भी इस प्रकार निर्मित होता है कि एक ही योनिमें जानेपर भी उनमें से एक पुरुष और दूसरा स्त्री होता रहेगा।

इस प्रकार के दम्पति जिस योनि में भी जाते हैं, चाहे वह स्वर्ग, नर्क या मृत्युलोककी कोई योनि क्यों न हो, दोनों एक प्राणी वर्ग में उत्पन्न होते हैं और उनके हृदयका आकर्षण तथा प्रारब्धका सम्बन्धित निर्माण वहाँ भी उन्हें दाम्पत्य सम्बन्धसे एक कर देता है।

अवश्य एक बात होती है और वह इतनी कि यदि पति दुष्कर्मी हो तो पत्नीको भी उतनी उच्च स्थिति नहीं प्राप्त हो पाती जितनी हो सकती थी। पतिके गन्दे संस्कारोंका विनिमय उसे उस स्थिति से नीचे आनेको बाध्य करता है। किन्तु यह नियम है कि सत्वगुण सदा रज और तमपर विजयी होता है। स्त्रीका यह त्याग पतिके हृदयपर अवश्य समय पाकर विजय पाता है और उस जन्ममें नहीं तो दूसरे जन्ममें तो निश्चित ही दोनों का सम्मिलित प्रयत्न उन्हें संसार सागर से पार होनेमें द्विगुण बलशाली बना देता है। इस रीतिसे आत्मोद्धारके पथमें स्त्रीको सदा सहायता मिलती है।

***

# तपस्या

जान बूझ कर कष्ट सहनेको तपस्या कहते हैं। कष्ट तो विवशतः सभी सहते हैं। जिसे वस्त्र नहीं मिलते वह शीत में टिठुरेगा, जिसे अन्न नहीं मिलता वह भूखा रहेगा, कार्यवश वर्षा और धूप भी सहनी पड़ती है, किन्तु इनको तपस्या नहीं कह सकते। जान बूझकर कष्ट सहन, अपने पास सुखकी सामग्री है, चाहें तो सुख भोग सकते हैं, फिर भी कष्ट सहना तपस्या है।

कृपणता और तपस्या में महान अन्तर है। तपस्या होती है महत्वाकांक्षा से, वह हृदयको उच्च बनाती है। कृपणता वस्तुओंके व्ययको बचाने के लिये संकुचित वृत्तिके कारण होती है और हृदय उससे संकुचित होता है। शीतकाल में वस्त्र न लेकर तपस्याकी दृष्टिसे शीत सहन एक उच्च भावना है और लोभवश व्ययके डरसे वस्त्राभाव रखना एक घृणित वृत्ति। तपस्वी त्यागी होता है और कृपण लोभी।

तपस्याका अपार महत्व शास्त्रों में वर्णित है। कहा गया है कि ब्रह्मा तपके द्वारा सृष्टि करने में समर्थ हुए। तपकी शक्तिसे सृष्टिका धारण, रक्षण एवं प्रलय करने में शेष, विष्णु, शिव समर्थ होते हैं। तपके द्वारा दैत्य देवताओं से भी अजेय हो गये। तपकी शक्तिसे दैत्योंने ब्रह्मा या शिवको ऐसे वरदान देनेको बाध्य कर दिया जो वे देना नहीं चाहते थे। विश्वामित्र अपनी तपस्याके बल से दूसरी सृष्टिके निर्माण में समर्थ हो गये। ऋषियोंकी समस्त सिद्धियोंका मूल तप है। दैत्योंकी शक्तिका रहस्य तपस्या में है। ऐसा कोई कार्य सृष्टिमें नहीं जो तपस्यासे न हो सके। ऐसी कोई शक्ति नहीं जो तपके द्वारा प्राप्त न हो। वांछाकल्पतरु भौतिक जगतमें तपस्या है। तपस्या की शक्ति विश्वकी सबसे बड़ी शक्ति है और एक बार तो वह विश्वेशको भी बाध्य कर देती है।

तपस्या का उच्चतर प्रभाव सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको क्षुब्ध कर देता है। एक दैत्य तपस्या कर रहा था। उसने सोच रखा था "मेरा अभीष्ट वर यदि शंकरजीने न दिया तो अपनी तपस्यासे मैं विश्वको जला दूँगा।" वस्तुतः जब ऐसी स्थिति आ गई तो शंकरजीको उसका अभीष्ट वरदान देना पड़ा। ध्रुवकी तपस्या से जब देवताओंके भी प्राण निरोध होने लगे तो व्याकुल होकर वे भगवान् से ध्रुवको दर्शन देनेकी प्रार्थना करने लगे।

मुझे तपस्याकी प्रशंसा में अर्थवाद नहीं उपस्थित करना है। एक वास्तविक शक्तिका ठीक परिचय मैंने उद्धृत किया है। यह आश्चर्यजनक शक्ति कहाँसे तपस्या में आती है, इसीका हमें विवेचन करना है। तपस्या के पूर्व त्यागको समझना अच्छा होगा। तप-त्याग और पुण्य ये सब एक मिलती कोटि के हैं।

अपने समीप जो वस्तु है, न्यायतः जिसपर अपना स्वत्व है, उसे दूसरेको दे देना, अपना स्वत्व उस परसे हटाकर बिना कोई बदला लिये और बिना कोई बदला पानेकी आशा रखे, उसपर दूसरे का स्वत्व स्थापित करा देना, दान या त्याग है। इसी प्रकार बिना किसी प्रकार का बदला चाहे या उसकी आशा रखे किसीकी कोई सेवा उपकार है। समस्त शुभ कर्मोंको एक शब्दमें पुण्य कहते हैं। जिन कर्मोंसे सात्विकता बढ़े और लोकमें कल्याणका प्रसार हो, वह पुण्य। इसके विरोधीको पाप कहेंगे।

प्रारब्धसे एक वस्तु आपको प्राप्त है, न्यायतः उसपर आपका स्वत्व है, आप उसका उपयोग कर सकते हैं, आपने ऐसा न करके उसे किसी दूसरेको दे दिया। यदि आपने उसे किसी आशा या स्वार्थसे दिया है तो वह एक प्रकारका व्यापार है। उसके विषयमें हमें कुछ नहीं कहना। यदि वह बिना किसी स्वार्थ या आशा के सचमुच दान किया गया है, तो उससे आपके मन में सात्विक भावका उदय होगा। सात्विकता स्वर्गदायिनी है, यह सभी जानते हैं।

प्रकृति में कोई पदार्थ निस्सीम तो है नहीं। यहां सबकी सीमा है। एक व्यक्ति जब अपने स्वत्वका त्याग करता है तो प्रकृतिके कोष में वह वस्तु दूसरेके उपयोगके लिये बच जाती है। इस दानका फल उस व्यक्तिको लोकान्तर में

प्राप्त होता है। आज लोग भूखे इसलिये हैं कि अन्नका कोष कुछ लोगोंने संचित कर रखा है। जब एक व्यक्ति किसी वस्तुका अधिक उपयोग करेगा तो अवश्य वह किसी न किसीको आवश्यकतासे कम मिलेगी। इस प्रकार का दुरुपयोग पाप है।

आप एक दिन व्रत करते हैं, यह तपस्या है और त्याग भी। आपने जो भोजन नहीं किया वह बच गया। अब आप उसे फिर तो पेटमें रख नहीं सकते। पेट तो दूसरे दिन वही लेगा जो उस दिन वह ले सकता है। बचा हुआ भाग किसी और को मिलेगा। आप न भी दें तो भी उसका त्याग हो गया। आपके जीवन के उपयोगसे वह पृथक हो गया। उपवासका कष्ट तपस्या ही हुई।

केवल वस्तुएँ ही प्रकृतिमें परिमित नहीं। वस्तुओंके विषयमें तो विज्ञानसे सिद्ध है कि कोई वस्तु न तो बढ़ती और न कम होती। उसका रूपान्तर और पृथक्करण हो जाता है, किन्तु उसका परिमाण, तौल, घना-भाव, गुण ये सब तनिक भी घटते या बढ़ते नहीं। जलको ले लीजिये, आपने जलको वाष्प बनाया जल जितना शीतल था वह शीतलता वायुमें गई, जितना स्थान जलने घेरा था, वह वायुमें घेरेगा और वह सब जलके अणु वायुमें रहेंगे। इस प्रकार सभी वस्तुएँ अक्षय हैं और स्थिर। वस्तुओंके अतिरिक्त भावोंकी निश्चित मात्रा है। सुख-दुख, पाप-पुण्य, दया-दान, काम-क्रोध, धर्म-अधर्म ये सब निश्चित परिमाण में हैं। इनमें से कुछ घटता या कुछ बढ़ता नहीं।

कभी किसी युग में पाप या पुण्य, सुख अथवा दुख बढ़ता या घटता हो ऐसा नहीं, यह अवश्य होता है कि एक स्थानपर कोई अधिक हो जाय और कोई कम। आज धर्म और पाप संसारमें फैल गये हैं। सतयुग आदि में धर्म भारत में था। किन्तु दूसरी ओर हिरण्यकशिपु, रावण जैसे पापियोंका राज्य भी था। आज न वैसे पापी हैं और न वैसे धर्मात्मा।

अवश्य हम इन भावनाओंका विश्लेषण नहीं कर सकते। हम इन सूक्ष्म मानसिक भावोंके विश्लेषणका साधन नहीं रखते। किन्तु हम मनसे और इतिहाससे इन्हें समझ सकते हैं। हम पिछले अध्यायोंमें बता आये हैं कि भावनाकी प्रकृतिमें स्तर है। एक मन जिस स्तरमें होगा, उसी स्तरके भाव उसमें

उठेंगे। स्तरें अनन्त नहीं, अतः भाव भी परिसीम हैं। एक स्तर में सब मन एक साथ आ सकें इतना सम्भव नहीं, उसमें कुछ गिने-चुने आ सकते हैं। अतः जब कुछ मन उस स्तर में होंगे, दूसरोंको दूसरी स्तरोंमें रहने को बाध्य होना पड़ेगा। स्वामी रामने अपने एक व्याख्यान में कहा है - "यदि मनुष्य अपनेको मुक्त कर ले तो यह समस्त विश्वका उपकार होगा। उसके मुक्त होनेसे समस्त प्राणी एक साथ ऊपर उठ जावेंगे।"

एक व्यक्ति यदि सुखी है तो दूसरा दुखी भी, संसार में सबको सुखी या दुखी नहीं बनाया जा सकता। सुख-दुखकी मात्रा घटायी-बढ़ायी भी नहीं जा सकती। यही दशा पाप-पुण्य, काम-क्रोध, दया-दान प्रभृति मनोभावोंकी भी है। यह हो सकता है कि वे कहीं एक और कहीं दूसरे रहें। इस प्रकार वे अपने स्थानों पर अत्यन्त प्रबल हो जाते हैं। एक महान धर्मात्मा और दूसरे महान पापी। आज पाप-पुण्य केन्द्र न बनाकर बिखर गये हैं। फलतः कहीं भी किसी की प्रधानता नहीं। भारत पहले धर्म प्रधान था, अतः यह स्थिति अपनी पूर्वावस्थाको देखते हुए उसे घोर अधर्मकी प्रतीत होती है। इससे भी निम्न स्थितिमें होते हुए, दूसरे देश अपने धर्मका अनुभव करते हैं। क्योंकि अपनी पूर्वदशाकी अपेक्षा वे उन्नत हुए हैं।

पहले दया एवं धर्मका भारतमें केन्द्री भाव हो गया था, तपस्वियों की भरमार थी। ऋषि स्वतः तपस्यासे कष्ट सहन करते थे। कष्ट वे अपने सिर ले लेते थे, अतः दूसरे सुखी रहते थे। प्रकृति के कोषागारसे वह कष्ट दूसरों के मत्थे नहीं पड़ता था। विश्वमें इससे सुख था। ऋषियोंकी तपस्या विश्वको शान्ति प्रदान करती थी।

जब एक वस्तुका कहीं अभाव होता है तो उसका मूल्य वहाँ बढ़ जाता है। मरुस्थल में एक घूंट जलका मूल्य कहीं की सरिताओंसे भी अधिक है। मर्त्यलोकमें जहाँ सुख और दुख परिमित हैं, किसीका सुख छीन लेना, किसीको दुःख देना बहुत भयङ्कर है। उसका परिणाम नरककी घोर यातना है। इसी प्रकार यहाँ किसीको अपना स्वत्व दे देना, किसी को सुखी करना, किसीके

दु:ख में भाग लेना बहुत महत्वपूर्ण है। स्वर्गका अनन्त सुख उसको प्राप्त हो यह स्वाभाविक है।

जगतमें सुख और दुख यदि परिसीम न माने जावें तो स्वर्ग और नरककी कल्पना व्यर्थ हो जायगी। स्वर्ग सुखकी सीमा है, स्वर्गीय सुख जगत में नहीं हो सकता। जगतके सुखकी सीमा स्वर्गसे निम्न है। नरक दुखागार है। जगतमें उतना दुख नहीं। विश्वके दुखकी सीमा नरक से निम्न है। यदि जगत में स्वर्गका सुख और नरकका दुख हो सकता तो जीवको स्वर्ग या नरक जाने की कोई आवश्यकता न होती।

दानकी भांति व्रत, उपवासादि भी एक प्रकार के त्याग हैं। दान अपने स्वत्वका त्याग है और व्रतादि भी अपने स्वत्व सुखको त्यागकर कष्ट उठाने से पूर्ण होते हैं। अपना सुख विश्वको दान कर दिया गया और विश्वका कष्ट सहर्ष ले लिया गया। यदि वह किसी भौतिक कामनासे किया गया हो तो प्रकृतिमें काम्यवस्तुके अधिष्ठाता देवता उसे प्रदान करते हैं। प्रायश्चित बुद्धिसे किये जानेपर पापोंका क्षय होता है। सामान्यतया हृदय की शुद्धि, सत्वगुणका उद्रेक और स्वर्गकी प्राप्ति उसके फल हैं।

किसी भौतिक वस्तुकी कामनासे कोई व्रत या तप करनेपर, वह पर्याप्त समय में सफलता देता है क्योंकि कष्ट सहन या त्यागके बदले इसी लोककी वस्तु मांगी जा रही है। यहाँ उसका बाहुल्य तो है नहीं। जब तक व्रतका त्याग नये प्रारब्धका निर्माण न करे, वह विपरीत प्रारब्ध कर्मसे प्रबल न हो, अभीष्ट प्राप्त नहीं होता। स्वर्गादिकी प्राप्ति लोकान्तरकी है। त्याग इस लोकमें किया गया जहाँ त्यागका अत्यधिक महत्व है और सुख वहां चाहा जा रहा है जहां सुखोंका बाहुल्य है। अतः वह सामान्य त्याग भी वहाँ बहुमूल्य हो जाता है।

पाप और पुण्यकी सामान्य एक परिभाषा है। जिस कर्म से हृदय में रजोगुण और तमोगुण बढ़ते हों वह पाप, जिससे सत्वगुण बढ़ता हो वह पुण्य। पापका फल दुख और पुण्यका फल सुख। रजोगुण और तमोगुण नरकको जाते हैं और सत्वगुण स्वर्ग प्रदान करता है।

मनुष्यका प्रत्येक विचार, प्रत्येक क्रिया केवल उस तक परसीमित नहीं। उसका प्रभाव समस्त विश्वपर पड़ता है। जैसे शब्द व्यापक हो जाता है और उसे कहीं भी यन्त्र द्वारा ग्रहण कर सकते हैं, वैसे ही विचार भी व्यापक हो जाते हैं। हमारी प्रत्येक चेष्टाका कम्पन सृष्टिको प्रभावित करता है। जब आप पवित्र विचार करेंगे तो आपके विचार आपके पास सात्विकताको आकर्षित करेंगे। आपका समीपी वातावरण पवित्र रहेगा। यदि विचार कलुषित हुए तो वातावरण गन्दा हो जावेगा।

स्वामी रामने एक स्थानपर कहा है "तुमको क्या अधिकार कि तुम अपने गन्दे विचारोंसे विश्वके वातावरणको दूषित करो? यह पाप है।" यद्यपि यह ठीक है कि विचार नये नहीं आते, गन्दगी घटती या बढ़ती नहीं, किन्तु उसका भी स्थान है। ठीक प्रकार से प्राणी आचरण करे तो उनका इतना सुन्दर सदुपयोग हो सकता है कि विश्वमें अशांति और दुख का अनुभव ही न हो। वे रहेंगे, पर पीड़क न होंगे।

कष्ट तपस्या मानकर सहे जावें, स्वतः सहनसे उनमें दुख होनेपर भी उनकी पीड़ा अनुभव न होगी। दुर्गुणोंसे द्वेष, बुराइयोंसे घृणा, इस प्रकार प्रत्येक वस्तु और भावका सदुपयोग है। गन्दे विचार इसलिये पाप कि वे गन्दगीको विस्तीर्ण करते हैं। कोई जन समाज में कूड़े फैलावे तो निश्चित अपराधी होगा। कूड़ेका कार्य है खेतमें, वहाँ वह अन्नके पोषणका कार्य करेगा। उसे नगर में फैलाना पाप है। यदि समस्त संसारके मनुष्य सात्विक हो जायें, तो भी रजोगुण या तमोगुणके विचार और परिमाण नष्ट नहीं होंगे। उन्हें भी उन्हीं मनुष्योंको लेना होगा। अवश्य उनके यहाँ उनका रूप शुभ हो जायेगा।

ऋषियोंने भारत में सात्विकता का आकर्षण किया, किन्तु अपने वायुमण्डल के रजोगुण और तमोगुणको दूसरेके सिर फेंकने का यत्न नहीं किया। अपना कूड़ा दूसरेके घर डालकर स्वतः स्वच्छ होना उन्हें स्वीकार्य नहीं था। उन्होंने उसका सदुपयोग किया। क्षत्रियोंका तेज, वैश्योंका उद्योग, विप्रोंके कठोर साधन ये रजोगुण के रूप हो गये। पत्नी में प्रेम, वैराग्य, ये काम और क्रोधके

परिवर्तित रूप हैं। तमोगुणके स्थैर्यने वर्षोंकी समाधिमें सहायता दी। उन्होंने सबका सदुपयोग किया। साथ ही दूसरोंके कष्टोंको भी लिया।

तपस्याका जहाँ एक रूप है अपने सुखको त्याग कर स्वेच्छासे कष्ट लेना, वहाँ दूसरा रूप है अपनेको इतना संतप्त करना कि सूक्ष्म जगत संतप्त हो उठे। बड़ी-बड़ी तपस्याएँ इस दूसरे प्रकार की होती हैं। दैत्योंने प्रायः ऐसी तपस्याएं की हैं। ध्रुव, विश्वामित्र, दुर्वासा प्रभृत्तिकी तपस्या भी इसी कोटिकी है।

तपस्या सत्वगुणका उद्रेक करती है। मन एक सूक्ष्म स्थिति में जाकर स्थिरप्राय हो जाता है। उस समय उसके कष्टका प्रभाव पूरे विश्वपर पड़ता है। जैसे किसी बड़े लोहे के एक सिरेको अत्यधिक उष्ण किया जावे तो पूरे लोह खण्डपर उसका प्रभाव पड़ेगा। इसी प्रकार एक व्यक्तिकी घोर तपस्या पूरे विश्वको संतप्त करती है। क्योंकि व्यक्ति ब्रह्माण्डका एक अंश है। ब्रह्माण्ड भी एक विराट्का शरीर है। यदि हमारे शरीरका कोई भाग कष्टमें हो तो पूरा शरीर व्यथित होगा, अत्यधिक कष्ट होनेपर वह शरीर के लिए असह्य और मृत्युका कारण तक हो सकता है। हम उसे शांत करनेको सब कुछ सम्भव प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार उग्र तपस्या ब्रह्माण्डको क्षुब्ध कर देती है। प्रलय तक की अवस्था आ सकती है। ब्रह्माण्डके अधिष्ठाता उसे अभीष्ट वर देकर शांत करनेको बाध्य हो जाते हैं।

कष्ट सहना तपस्या है। सबकी सीमा है, सीमासे बाहर सब भयंकर होते हैं। यदि संसार में कष्ट रहे ही नहीं तो संसार एक क्षण न रहे। रजोगुणके अभाव में न तो शरीर हिले और न श्वास चले। तमोगुणके अभाव में सब स्थूल रूप नष्ट हो जायेंगे। तपस्वी एक सीमा तक दूसरोंके कष्ट अपने सिर ले तो कोई आपत्ति नहीं। सहायता एक तक दी जाती है। यदि आप किसीको कोई काम करने ही न दें और सब स्वयं कर दें तो वह निर्बल और पंगु हो जायगा। बच्चेको सदा गोद में लिये रहो तो उसके पैरोंमें शक्ति नहीं आयेगी। दूसरोंके कष्टोंको सीमासे अधिक अपनेपर आकर्षित करनेका अर्थ होता है जगतमें विप्लव करना।

प्रारब्ध सुख-दुख मिश्रित होता है। यदि एक व्यक्ति सबके दुख झेल ले तो सब क्या करें। अनेकों तो मर जावेंगे, क्योंकि उनको अब इस जन्म में कार्य नहीं।दुःख झेलना था सो रहा नहीं। समस्त मर्यादा उलट जावेगी। उससे संसारको  कष्ट होगा, सुख नहीं। ध्रुवने सत्वगुणमें स्थित होकर श्वास निरोध किया, फलतः सारे सत्वगुणी देवताओं की श्वास रुक गई। इस प्रकार जब तपस्वी सीमोल्लंघन करके कष्ट सहता है तो उससे समस्त विश्व आकुल हो जाता है। मर्यादा नष्ट होने लगती है। फलतः सृष्टि संचालक उसकी तपस्याको शान्त करनेके लिये बाध्य हो जाते हैं। किसी शुभ कर्मीको दण्ड देकर बाध्य करना, न तो उचित है और न सम्भव। अतः उसका अभीष्ट प्रदान करके उसे तपस्यासे निवृत्त किया जाता है।

अन्त में इतना बता देना आवश्यक है कि तपस्या से मुक्ति या ज्ञान नहीं होता। तपस्या स्वयं सत्वगुणका कार्य है और वह सत्वगुणकी वृद्धि करती है। गुणोंसे परेकी स्थिति उससे नहीं प्राप्त की जा सकती। तपस्या से वासनाएँ नष्ट नहीं होतीं। वे बीज रूपसे हृदयमें रहती हैं और अवसर पाकर अंकुरित हो जाती है। तप स्वर्ग दे सकता है; मोक्ष नहीं।

***

# तीर्थ और पर्व

स्थान विशेष और समय विशेषपर किसी कार्यके करनेका उतना महत्व होता है, जितना सामान्य स्थान या समयमें करनेका नहीं होता। पवित्र स्थानोंको तीर्थ कहा गया है। भिन्न-भिन्न तीर्थों में भिन्न-भिन्न क्रियाओंका महत्व है। गया में पिण्डदान, प्रयागमें मुण्डन प्रभृति। ऐसे स्थानों का भी वर्णन है, जिन्हें अपवित्र बतलाया गया है। वहाँ कोई पुण्य कार्य नहीं होता। समय विशेष जो पवित्र माना जाता है, पर्व कहलाता है। भिन्न-भिन्न पर्वोंमें भी भिन्न-भिन्न कार्योंके करनेका बहुत अधिक फल कहा गया है।

प्रथम तीर्थपर विचार करें। पवित्र नदियोंके किनारे, पर्वत भूमि, देवालय, गोशाला, पूजागृह, पीपल और बेल के नीचेकी भूमि, श्मशान भूमि, तुलसी  कानन, कमल वाले सरोवरका किनारा, किसी महापुरुषकी निवास भूमि, दो नदियोंका परस्पर या नदी का समुद्रसे संगम, जिस भूमिपर कभी कोई महान पुण्य कार्य हो चुका हो, ये सब समान तीर्थ हैं। सिद्धपीठ जैसे बैद्यनाथ, कामाक्षा आदि अवतार भूमि या जहाँ भगवानने कोई विशेष क्रीड़ा की हो और उसका कोई महत्व स्थापित किया हो, वे विशेष तीर्थ है; वहाँ क्रिया विशेषका महत्व है।

चारों धाम और सप्त पुरियां मोक्षप्रद कही जाती हैं। काशी में मरने से मुक्ति होती है, यह परम प्रसिद्ध है। साकेत, मथुरा, द्वारका प्रभृतिमें निवास परमधाम प्रदाता है। भक्तिशास्त्र में नाम, रूप, लीला और धाम को परस्पर अभिन्न मानते हैं। धाम भगवानका स्वरूप और उनसे अपृथक माना जाता है। धामका निवास मात्र प्राणीका कल्याण करता है। धाममें रहने की प्रतिज्ञा करके बहुत से लोग वहाँ बाहर से आकर बस जाते हैं। आज भी धामोंमें ऐसे लोग मिलेंगे जो किसी भी दशामें उसकी सीमासे बाहर पैर नहीं रखते।

तीर्थ शब्दका अर्थ है जो पवित्र करे। सामान्य तीर्थोंके पवित्रीकरण को सोचिये। पूजागृह, देवालय, नदी-तट, पर्वत-शिखर प्रभृति ये ऐसे स्थान हैं जहाँ स्वतः मनमें श्रद्धा और सात्विकता उत्पन्न होती है। वन, उपवन, पर्वत इनका प्राकृतिक सौन्दर्य मनमें ईश्वरके प्रति श्रद्धा प्रकट करता है, चित्त शान्त और स्थिर हो जाता है।

समुद्रकी उत्ताल तरंगें और उसका अनन्त नील विस्तार किस हृदय को शांत नहीं करता? निर्झरका प्रपात, एक नदीका दूसरी में आत्मसमर्पण, विशाल सिन्धु में छोटी सरिताका विलय, ये दृश्य किसके हृदयमें सात्विकता का संचार नहीं कर देते? श्मशानकी धू-धू करके जलनेवाली चिता, वे बिखरे नर कपाल किस अन्तरको संसारकी नश्वरता बताकर खिन्न नहीं करते?

पीपल, बेल, तुलसी, कमल इन सबसे स्पर्श कर चलनेवाली वायु आरोगका वहन करती है। इनसे निकलने वाले परमाणुओं में एवं इनसे विस्तीर्ण होनेवाली विद्युतमें सात्विकता संचार कर देनेकी शक्ति होती है। इनके नीचे बैठनेसे वह शक्ति विक्षेपोंका शमन करती है।

हमारे शरीर से निकलनेवाले परमाणुओं में हमारे विचार सन्निहित रहते हैं। जहाँ हम रहते हैं, हमारे आसपासका वातावरण उन परमाणुओं से पूर्ण रहता है। हमारे न रहनेपर भी वह परमाणु वहाँ युगों तक कुछ न कुछ अंशमें रहेंगे और वहाँ आने वालेको प्रभावित करेंगे। जहाँ किसी महापुरुषने तपस्या की है, जहाँ वे रहे हैं या वर्तमान समयमें जहाँ कोई सात्विक पुरुषका निवास है, वहाँ सात्विकता के बलशाली परमाणु विद्यमान होते हैं। पूजागृह और गोशाला में पूजाके समयकी सावित्क भावना और गौ के पवित्र शरीर से निकले सात्विक परमाणु रहते हैं। ऐसे स्थानों में साधन करनेवाले साधकके मनको उस स्थानके सात्विक वातावरण से बहुत अधिक सहायता मिलती है। उसका चित्त अपेक्षाकृत शीघ्र एकाग्र होता है। सामान्य स्थान में विक्षेप निवारण और चित्तको स्थिर करने के लिये बहुत उद्योग करना पड़ता है। जपादि पुण्य कार्य जो सामान्य स्थानपर होते हैं, उनमें चित्त स्थिर नहीं होता। सामान्य तीर्थोंमें सात्विकता उत्पन्न करने की शक्ति होती है। वहाँ जप, हवन, पूजन करते समय स्थानके प्रभाव से

स्वतः मन उसमें एकाग्र हो जाता है। इसीसे उस स्थानपर इन क्रियाओं का अधिक फल बतलाया गया है। इनमें भी एक दूसरेसे महान हैं और उनका अधिक महत्व है। अपने पूजागृहसे गोशाला श्रेष्ठ है। मन्दिर, श्मशान, पर्वत-शिखर, महापुरुषका आश्रम ये एक दूसरेसे श्रेष्ठ हैं। जो अधिक सात्विक वातावरण रखता है, वह उतना ही श्रेष्ठ माना गया है। सात्विकता ही पुण्य है और उसीके फल स्वर्गादि हैं। इन स्थानोंसे वह पवित्रता प्राप्त होती है, अतः वे तीर्थ कहे गये।

जैसे सात्विकता प्रदानकारी तीर्थस्थानोंका वर्णन है, वैसे ही चंचलता देने वाले दूषित स्थानों का भी। वहाँ किसी भी पवित्र कार्यके करने का निषेध है। द्यूतशाला, मद्यशाला, अखाड़ा, वैश्यागृह, शत्रुगृह, चौरगृह, रंगशाला, कोलाहल या उत्तेजनापूर्ण स्थान, वधिकगृह, मांसकी दुकान, जहाँ दुर्गन्धि या धूम्र हो, जहां कीड़े या मक्खी मच्छर प्रभृति हों, सिंह-सर्पादिका निवास, अशुभ वृक्षोंके तले, जहाँ कोई दुष्कर्मी रहता हो, जहां राक्षसोंका निवास रहा हो, जहाँ कोई प्रसिद्ध दुष्कर्म हो चुका हो, जिस स्थानके नीचे अस्थि गड़ी हो, जिसे देखनेसे मनमें कोई दुर्भावना उत्पन्न हो, ये सब स्थान अपवित्र माने गये हैं।

जिस स्थानपर जानेसे मनको सात्विकता और स्थैर्य प्राप्त हो वह तीर्थ है। वहाँ पुण्य कार्य विशेष फलदायी होगा। जहाँ जानेसे मनमें क्षोभ चंचलता या उद्विग्नता हो, वह स्थान दूषित है। वहाँ पुण्य कार्य फलहीन हो जावेगा। जहाँ तक सामान्य तीर्थ और दूषित स्थानका सम्बन्ध है, यह परिभाषा पूर्णतः युक्त है। सामान्य तीर्थोंका निर्धारण इसी आधार पर किया गया है।

विशेष तीर्थों में अपनी विशेषता होती है। वे प्रकृतिकी किसी विशेष शक्तिसे सम्बन्ध रखते हैं। अधिदेवताओंका वर्णन पहले हो चुका है, हम बता आये हैं कि प्रत्येक पदार्थ के अधिदेवता होते हैं। और उनका एक लोक होता है। जैसे सूर्यका प्रकाश पृथ्वीपर पड़ते हुए भी किसी भागसे सूर्य दूर पड़ता है और किसीसे निकट। भूमध्य रेखासे वह निकट है। जैसे ज्योतिषमें कब किस राशिसे किस ग्रहका कैसा सम्बन्ध है यह बताया जाता है, ऐसे ही विशेष तीर्थोंसे उन लोकोंका सम्बन्ध है।

"सृष्टि" के अगले अध्यायमें स्पष्ट हो जायगा कि स्थूल जगत सूक्ष्मकी अभिव्यक्ति मात्र है। जैसे जीव शरीरका अधिष्ठाता है और मन संचालक, मनका मुख्य स्थान हृदय है और स्थूल शरीर में भ्रूमध्यका स्थान हृदयसे अत्यन्त सम्बन्धित है। सारे शरीर में भ्रूमध्य ऐसा स्थान है जिसपर दृष्टि जमाकर किसीको दृढ़तापूर्वक कोई आज्ञा दी जाय तो वह माननेको विवश हो जायगा। मेस्मराइजर इस स्थान के रहस्यको जानते हैं और उसका उपयोग भी करते हैं। ठीक इसी प्रकार पृथ्वीपर ऐसे स्थान हैं जो किसी दैवी शक्ति के लोकसे सम्बन्ध रखते हैं। इन स्थानोंपर विधिपूर्वक कोई क्रिया करने से उस दिव्य शक्तिसे शीघ्र सम्बन्ध होता है। जैसे गयाका सम्बन्ध पितृलोक से है, वहाँ पिण्ड देने से पितर सर्वदा के लिये तृप्त हो जाते हैं। उन्हें सदा उससे भाव तुष्टि होती रहती है। विशेष तीर्थोंकी भाँति विशेष दूषित स्थान भी हैं। वहाँ पुण्य कार्यका निषेध है। कुछ कार्य तो वहाँ न किये जायँ ऐसी विधि है। ये स्थान दूषित शक्तियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले हैं। मगह, कर्मनाशा प्रभृति इस कोटि के हैं।

विशेष तीर्थों में कर्मकी विधि होती है। कहीं कोई कर्म करनेका विधान है और कहीं कोई। कुछ कर्मोंका निषेध भी होता है। वह स्थान एक दिव्य लोकसे सम्बन्ध रखता है, अतः उस लोककी शक्तिसे सम्बन्ध करनेवाले कर्मोंका वहां विधान किया जाता है और विरोधी कर्मोंका निषेध। जैसे क्षौर प्रायः सभी तीर्थों में निषिद्ध है परन्तु प्रयागमें वह आवश्यक है।

जो कर्म सामान्य स्थानपर या सामान्य तीर्थ में बहुत-सी विधियोंके पालनसे पूर्ण होता है, वही उस विशेष तीर्थमें जिससे वह सम्बन्ध रखता है, बहुत सरलता से सम्पन्न हो जाता है। वहाँ उसके लिये उतनी विधियों की आवश्यकता नहीं। क्योंकि विधियोंके द्वारा जिस शक्ति से सम्बन्ध करना था, वह उस स्थान से स्वतः सम्बन्धित होती है। वहाँ सम्बन्ध स्थापित नहीं करना पड़ता।

विशेष तीर्थोंसे भी अधिक महत्व धाम और सप्तपुरियोंका है। प्रकृति से परे त्रिपाद्-विभूति में ये नित्य अवस्थित हैं। इन भौतिक धामोंका उनसे सीधा सम्बन्ध है। इनका रचना क्रम उन दिव्यधामोंसे सादृश्य रखता है। इनके

वातावरण में एक आकर्षण है जो जीवको उन दिव्य-लोकों में आकर्षित कर लेता है।

किसी अवतारके प्रगट होते समय या प्रकट होने से पूर्व, उसके लिये उपयुक्त भूमि प्रस्तुत करनेके लिये, उस अवतारके दिव्यलोकका धरापर आविर्भाव होता है। जैसे रामावतारसे पूर्व साकेतका आविर्भाव। अवतार के अन्तर्हित होने के साथ वह दिव्य लोककी शक्ति यद्यपि तिरोहित हो जाती है, पर उस स्थानपर एक आकर्षण रखती है। यही आकर्षण जीवको उस धाम में आकर्षित करता है।

बात यह है कि त्रिपाद्-विभूति के अनुसार भाव-जगत् और भाव-जगतके अनुसार स्थूल-संसार बनता है। स्थूल-संसार में जो कुछ भी है, वह उस नित्य- जगतका प्रतिबिम्ब है, अन्तर केवल इतना है कि वह नित्य है और यह परिणामी, विकारी तथा नश्वर। जैसे जल में पड़ी वृक्षकी छाया वृक्षके सदृश होनेपर भी जलके हिलनेसे हिलती है, वही दशा इस विश्वकी है। इसे "सृष्टि" प्रकरण पूर्णतः स्पष्ट करेगा। यह धामपुरी और सब स्थान दिव्य जगतके प्रतिबिम्ब हैं। जब कोई अवतार होता है तो वह उसी स्थान पर होता है जो स्थान उसकी नित्य लीलाभूमिके अनुरूप है। भौतिक जगत में वह आनंदघन-तत्व रह तो सकता नहीं, अतः उसके साथ उसके नित्य लोककी शक्ति भी उस स्थानमें आती है। वह स्थान उस समय दिव्यलोक हो जाता है। अवतारके अन्तर्हित होनेपर धामकी दिव्यशक्तिका तिरोभाव अवश्य हो जाता है, किन्तु एक बारका अवतरण उससे एक सम्बंध बना देता है। एक सूक्ष्म आकर्षण वहाँका धामसे सदा रहता है।

जहाँ कोई महापुरुष रहे हैं, वहाँ उनकी तपस्या और सात्विकता के परमाणु होते हैं और वे साधकको सात्विकता प्रदान करते हैं। फिर जहाँ स्वयं वे लीलाधाम कभी अवतरित हुए हों और उन्होंने क्रीड़ा की हो, वहाँ के सात्विक वातावरणकी कोई सीमा हो सकती है? यह दूसरी बात है कि हम उसका अनुभव न कर सकें। भंगी दुर्गन्धि का अनुभव नहीं कर पाता, पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि दुर्गन्धि नहीं है। वह उसके स्वास्थ्य पर अपना प्रभाव डालती है।

तीर्थोंके अतिरिक्त पर्वोंके विषय में भी विचार करना है। पर्व भी दो प्रकार के होते हैं। स्मृति उद्दीपक और प्राकृतिक। जन्माष्टी, राम-नवमी प्रभृति स्मृति उद्दीपक हैं। प्राकृतिकके दो भाग हैं - सामान्य और विशेष। एकादशी, द्वादशी, अमावश्या, पूर्णिमा प्रभृति जो सब महीनों में पड़ते हैं, सामान्य हैं। ग्रहण, सोमवती अमावश्या, कुम्भ प्रभृति विशेष पर्व हैं।

स्मृति उद्दीपक पर्व मानसिक सम्बन्ध रखते हैं। महर्षियोंने समस्त विधियोंके मूलमें एक सिद्धान्त रखा है "मनुष्य अधिक-से-अधिक सात्विक बने।" वे कोई ऐसा छोटे-से-छोटा अवसर भी जिसमें सात्विकताका कोई प्रोत्सान हो, व्यर्थ जाने देना नहीं चाहते। सारी विधि इसलिये है कि वे समय से लाभ उठाकर हमें सात्विक बनावें।

किसी महापुरुष के जन्म दिन या किसी ऐसे समय जब कि हमें किसी व्यक्ति या घटनाका स्मरण होने लगे, हमारा मन बार-बार उस ओर जाता है। मन कहीं अन्यत्र हो तो पाचन-क्रिया ठीक नहीं होती। उस दिन उपवासकी विधि है। उस महापुरुषकी स्मृति एक मानसिक स्थिति उत्पन्न करती है। उस स्थिति में हम उसके जीवनकी शिक्षाओंको अधिकाधिक ग्रहण करते हैं। स्मृति दिवस मनानेकी प्रथा सभी देशों में और उसके लाभोंसे सब लोग परिचित हैं। इसे हम विस्तृत नहीं करेंगे। प्राकृतिक पर्वका उद्देश्य अवश्य हमें समझना है।

हमारी पृथ्वी इस आकाश में एकाकी नहीं। उसके साथ और आस-पास ग्रहों एवं उपग्रहों का एक घूमता फिरता समूह है। सबका कुछ न कुछ प्रभाव पृथ्वीपर पड़ता है। कभी किसीका कम और कभी अधिक। क्योंकि सब चंचल हैं, अतः एक स्थिति नहीं रहती। हमारे सात दिनोंके नाम निकटस्थ सात ग्रहोंके नामपर हैं। वे यह सूचित करते हैं कि अमुक दिन अमुक ग्रहका पृथ्वीपर अधिक प्रभाव पड़ता है। रविवारको सूर्यका और और सोमको चन्द्रका। किसी दिन व्रत रखने का अर्थ है, उस दिन जिस ग्रहका प्रभाव पड़ रहा है, उसे अपने में अधिक-से-अधिक ग्रहण करना। दैनिक पर्वका यह उद्देश्य है। दिनमें भी प्रातः एवं सायं सूर्यका प्रभाव तथा प्राकृतिक स्थिति ऐसी होती है जो मनको शान्ति देती है। यह उपासनाका समय है।

विषय ज्योतिषका है। कब किस ग्रहका क्या प्रभाव पड़ता है, यह बात यहाँ नहीं बतायी जा सकती। मैं केवल सिद्धान्तका अंगुल्यानिर्देश करना चाहता हूँ। महीने भर में चन्द्रमा पृथ्वीका एक चक्कर कर लेता है। दूसरे ग्रहों के भी कुछ निश्चित समय हैं। महीने में कुछ ऐसे समय आते हैं कि चन्द्रमाकी स्थिति के कारण पृथ्वी पर ग्रहोंका भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ने लगता है। पूर्णिमाको चन्द्रमाका पृथ्वीपर इतना आकर्षण पड़ता है कि समुद्रका जल उछलने लगता है। एकादशी प्रभृति में भी विशेष प्रकारका प्रभाव पड़ता है। किस तिथि में पृथ्वीपर कैसा प्रभाव पड़ता है, यह देखकर उस पर्वकी विधि बतायी गयी है। विधि उस आकर्षण के हानिकर प्रभावसे बचाने के लिये तथा लाभकर प्रभावसे अधिक-से-अधिक लाभ उठाया जा सके, दृष्टिमें रखकर बनी है।

पृथ्वी सूर्यकी परिक्रमा एक वर्षमें कर लेती है। इसमें वह कभी सूर्य से किसी सम्बन्धपर रहती है और कभी किसी। पृथ्वी और सूर्यका सम्बन्ध परस्पर आकर्षण रखनेके साथ पृथ्वीपर पड़ते दूसरे ग्रहोंके आकर्षणको भी प्रभावित करता है। किसी विशेष स्थितिमें पृथ्वी और सूर्यके होनेपर महत्वपूर्ण प्रभाव पृथ्वीपर पड़ने लगता है। वह समय पर्व कहा गया है। शिवरात्रि, शरदपूर्णिमा, दीपावली प्रभृति वार्षिक पर्व हैं।

कभी-कभी दो या कई ग्रहों का ऐसा सम्बन्ध हो जाता है कि उसके कारण पृथ्वीपर उनका विशेष प्रभाव पड़ता है ऐसे समयको पर्व कहते हैं। ग्रहण, सोमवती अमावस्या, कुम्भ प्रभृति ऐसे विशेष पर्व हैं। विशेष पर्व उतने समयका होता है जितने समय ग्रहोंका वह संयोग तथा उसका प्रभाव पृथ्वीपर रहे। आकर्षणसे लाभ उठानेके लिए विधि होती है।

ग्रहण या सोमवती अमावस्याको ले लीजिए। मन चन्द्रमाका अंश है, सोमवारको यों ही चन्द्रमाका प्रभाव पृथ्वीपर पड़ता है, अमावस्याको चन्द्र पृथ्वीके ठीक सीध में होता है। सोमवारको अमावस्या पड़नेपर उसका प्रभाव बढ़ जाता है। मन उस समय आकर्षित होता है। बाह्य प्रवृत्ति घट जाती है। पूजन-भजनका यह शुभ अवसर होता है। ग्रहणके समय में भी चन्द्रमा एक विशेष प्रभाव पृथ्वीपर डालता है। कुछ वस्तुएँ तो उससे विकृत हो जाती है,

अतः उन्हें भोजनके काम में उसके पश्चात् नहीं लाना चाहिये। ग्रहणसे कुछ पूर्व ही शरीर के यन्त्रोंपर उस आकर्षणका प्रभाव पड़ने लगता है, इससे भोजनादि निषिद्ध है। इतना और बता देना है कि दिनसे महीनेके, उससे वर्ष के और भी विशेष पर्व अधिक महत्वपूर्ण माने जाते हैं।

***

# सृष्टि

प्रकृति जड़ है और ब्रह्म निर्गुण। इनका न तो परस्पर संयोग हो सकता और न उससे इस जगत् की अभिव्यक्ति। संयोग सजातीय अंशको लेकर होता है। निर्माणका यह सिद्धान्त है कि जो वस्तु निर्मित होती है, उसकी उपस्थिति निर्माताकी बुद्धिमें पहले से होनी चाहिये। आपके मनमें जो चित्र नहीं, उसे आप पटपर नहीं बना सकते। यह नियम संसारपर भी लगना चाहिये।

भिन्न-भिन्न पुराणों में भिन्न-भिन्न कल्पकी सृष्टिका वर्णन है। मुझे सिद्धांततः उसपर विचार करना है। त्रिपाद्-विभूति का पूरा प्रकरण स्मरण रख कर आप इसे समझ सकेंगे। ब्रह्म अनन्त-अपार है। उसके विशुद्धांश में उसीके घनीभावसे अनेकों नित्यलोक बने हैं। ये लोक नित्य, स्थिर, अधिकारी और शास्वत हैं। यद्यपि इन लोकोंकी रचना भिन्न-भिन्न प्रकार की है, किन्तु एक लोकमें लोकान्तरगत लोक होकर, दूसरे लोकोंकी भी स्थिति रहती है। पंचभूतोंके पंचीकरण और उनकी प्रधानतासे हम इसे समझ सकते हैं।

ब्रह्मका एकांश माया समन्वित है। वह एक अंड है, जितने में माया है। प्रत्येक ग्रह अण्डाकार है, इसलिये कि ब्रह्मांड स्वयं अण्डाकार है। माया चंचल है, अतः यह ब्रह्माण्ड गतिशील है। ब्रह्माण्ड स्थिर नहीं, यह उस अनन्त विशुद्ध तत्व के घनीभाव लोकोंके मध्य निरन्तर घूमा करता है। पृथ्वी जैसे सूर्यके चारों ओर घूमती है। जिस नित्यलोकसे जब ब्रह्माण्ड का सम्बन्ध होता है, उसीके अनुसार सृष्टि होती है। एक लोकसे दूसरे लोक तक पहुँचनेके मध्य में जब वह केवल निर्गुणसे सम्पर्क रखता है, प्रलयकी अवस्था होती है। सगुणसे वियुक्त होते ही संसारका प्रलय हो जाता है और पुनः संयोगके साथ सृष्टि होने लगती है।

जब तक ब्रह्माण्ड सगुण लोकोंके संयोगमें नहीं पहुँचता, निर्गुणसे उसका सम्बन्ध नहीं हो पाता। जड़ प्रकृति चेतनकी प्रेरणाके बिना स्थिर रहती है। गतिसे निर्मित पदार्थ गति बन्द होनेपर नाश हो गये होते हैं, और शून्य प्रकृतिमें कुछ भी नहीं होता। ज्यों ही ब्रह्माण्ड किसी सगुण लोकके समीप पहुँचता है, प्रकृतिमें क्षोभ होता है। सगुणका सानिध्य प्रकृतिको गति देता, प्रकृतिके क्षोभसे महत्तत्व, उससे अहंकार और अहंकार से पंचतन्मात्रा उत्पन्न होती हैं। इसी क्रम विकाससे पंचमहाभूत और इन्द्रियों तथा मन-बुद्धि प्रभृतिका निर्माण होता है।

यह सब होकर भी क्या होता है। क्षुब्ध प्रकृति में जो बना वह अश्रृङ्खल पड़ा रहा। विश्वका निर्माण केवल इतनेसे नहीं होता। दूधको मथते रहो, मक्खन बनेगा और उछलता रहेगा। उसका वहाँ लड्डू नहीं बन सकता। इस क्षोभ तक ब्रह्माण्ड उस नित्य-लोकके और समीप पहुँच जाता है। यह महत्तत्वादिकी उत्पत्ति भी क्षोभके साथ उस लोकके प्रतिबिम्ब के आधारपर होती है। ब्रह्माण्ड नित्यलोकके पास होता है, अत: ब्रह्मलोक की शक्तियाँ इसमें प्रतिबिम्बित होती हैं। जो तत्व जैसा होता है, वैसी शक्तिको ग्रहण करता है। देवता ही उन तत्वोंकी शक्तियाँ हैं जो उसे स्थिर एवं संचालित करती हैं।

किसी भी पुराणके सृष्टि-प्रकरणको ले लीजिये। इन शक्तियों के प्रवेशका उसमें सुन्दर वर्णन मिलेगा। वरुण जल में प्रविष्ट हुए, चन्द्रमा मनमें, ब्रह्मा बुद्धिमें आदि। अधिष्ठाता देवता केवल अपनी शक्तिको चला सकते हैं। दूसरेसे समन्वय करके सृष्टि निर्माणके लिये एक सर्वोपरि शक्ति चाहिये। देवता प्रार्थना करते हैं अर्थात् सम्मिलित होकर उस नित्यलोकके अधिष्ठाताका ध्यान एवं आकर्षण करते हैं। जलांशमें उस अधिष्ठाताका प्रतिबिम्ब आता है और उससे सृष्टिकी अभिव्यक्ति होती है। अधिष्ठाता जैसा हुआ अभिव्यक्तिका वही क्रम होता है। साकेतके सम्बन्ध समय राम से, शिव लोकके समय शिव से।

वेद एवं उपनिषदोंकी ग्यारह सहस्त्र से ऊपर शाखाएँ थीं। उनमें से अब सवासौके लगभग उपनिषद प्राप्त होते हैं। सृष्टि क्रमका पूरा वर्णन इसलिये नहीं मिल पाता। भगवान् विष्णुसे और भगवान् शिवसे सृष्टि वर्णन कुछ मिलता है। यहाँ हम केवल भगवान् विष्णुसे सृष्टिका विवरण देंगे। दूसरे लोकसे सम्बन्ध

होनेपर भी प्रायः सृष्टि इसी प्रकार होती है। केवल कुछ आरम्भिक क्रमसे रूप दूसरे होते हैं। जैसे शिवलोक से सृष्टि में लिंगकी अभिव्यक्ति।

"क्षीरसागर" इसका वर्णन अगले प्रकरण में स्पष्ट करेंगे। इसमें भगवान् विष्णु शेष-शैया पर सोते हैं। यह तो दिव्यलोककी स्थिति है। ठीक वही ब्रह्माण्डके क्षीर सिन्धुमें अंशसे अवतरित होते हैं। देवताओंका आकर्षण या प्रार्थना यहाँ कारण हे। प्रतिबिम्ब समझनेसे स्पष्ट समझ में आवेगा। उस नित्यलोकका पूर्ण दृश्य प्रायः उसमें, ब्रह्माण्ड में प्रतिबिम्बित होता है। यह मानस जगतका निर्माण है। भाव या मानस-स्तर केवल प्रतिबिम्ब हैं। मन उस स्तर में जाकर उन्हें ग्रहण कर लेता है, यही मानस स्तर आधिदैविक एवं भौतिक जगतका कारण है।

ब्रह्माण्डके क्षीर-सिंधुमें अवतरित, प्रभुके नाभिसे कमल उत्पन्न हुआ और उससे ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई। वैकुण्ठके अन्तर्गत ब्रह्मलोकके प्रतिबिम्बका यह आविर्भाव हुआ। ब्रह्माकी अभिव्यक्ति प्रकृति के रजोगुणके आधारपर हुई थी, अतः वे उत्पन्न होते ही चंचल हुए। मानस-स्तर पहले से विद्यमान थीं, ब्रह्माका मन जिस-जिस स्तरमें पहुँचा वह भाव आते गये। उनके अनुसार वे जल में कमलका उद्‌गम जानने के लिये प्रष्टि हुए, किन्तु असफल होकर लौट आये। मन स्थिर होनेपर उन्होंने अपने भीतर सारे जगतका साक्षात् किया। पिण्डमें उस दिव्य जगतकी सूक्ष्म छाया तो भी ही, उसका दर्शन हुआ। बहुत व्याकुल होनेपर ब्रह्माको तपका आदेश मिला और तपस्या करने लगे।

तपस्या शक्ति देती है। मन स्थूलसे पृथक होकर सूक्ष्म-शक्तिको ग्रहण करने के योग्य होता है। दीर्घ तपस्याने ब्रह्माके मनको समर्थ बनाया और उन्होंने मानसिक स्तरोंका एक साथ साक्षात् किया। वे उन्हें मूर्तिमान करने में लग गये। तपस्याने ब्रह्माको सात्विक बना दिया था। उस समय उन्होंने जो मानसिक सृष्टि की वह सात्विक हुई। ब्रह्मामें एक इच्छा थी, सृष्टि की। शुद्ध सत्वसे प्रकट ऋषियोंकी प्रवृत्ति कर्ममें सम्भव न थी। ब्रह्मा की आज्ञा उन्होंने न मानी। काममें बाधा पड़ने से क्रोध हुआ और वह रुद्रके रूपमें प्रकट हो गया।

मानसी सृष्टि इस प्रकार सात्विक, राजस और तामस हुई। मुझे उसके विस्तार में नहीं जाना। उसके लिये एक पूरी पुस्तक चाहिये। ब्रह्मा की अपनी

स्थिति जैसी होती गयी, वैसी सृष्टि हुई। इसमें एक भूल थी। ब्रह्मा मानसिक स्तरोंको ज्योंका त्यों अभिव्यक्त कर देते थे। वह जिस गुणके आधारपर व्यक्त होते थे, वैसेके वैसे रह जाते थे। उनमें आगे सृष्टि करनेकी प्रवृत्ति न थी। आवश्यकता थी उनकी स्थितिको विकारी बनाने की। उनकी अभिव्यक्ति ऐसी करनेकी जो कभी किसी मानसिक स्तर में रहे और कभी किसी में। केवल एक स्तर अभिव्यक्त न रहे। ब्रह्माने तो तपस्यासे यह शक्ति प्राप्त की, पर सब तपस्या क्यों करते ? उनकी अभिव्यक्ति रजोगुण मात्रसे तो थी नहीं। वे ज्योंके त्यों आकल्प स्थायी हो गये और अपने स्वभावके अनुसार उन्होंने आधिदैविक जगतको अपनाया। वरुणकी अभिव्यक्ति जलका अधिष्ठाता और चन्द्रकी अभिव्यक्ति मन का। दिव्य लोककी जो शक्तियां अभी तक प्रतिबिम्बके रूपमें मानस जगतमें थी, वही मूर्तिमान होकर अपने पदार्थोंके अधिष्ठान लोकमें विराजीं और उनका संचालन करने लगीं। इस प्रकार आधिदैविक जगतका निर्माण पूर्ण हो गया।

आधिभौतिक जगतका निर्माण करना था। सृष्टिकी जो इच्छा ब्रह्मामें थी, वही दूसरोंमें हो और उसका सम्बन्ध बराबर चले तो काम चल सकता था। अन्तमें उन्होंने अपने शरीर के दो भाग पृथक किये। दाहिने भागसे मनु और वाम भागसे शतरूपा उत्पन्न हुई। यहाँसे मैथुनी-सृष्टि प्रारम्भ हुई। मनुने शतरूपासे पुत्र और पुत्रियाँ उत्पन्न कीं। पुत्रियोंका विवाह उन महर्षियोंसे कर दिया जो पहले मानस-सृष्टिमें अभिव्यक्त हो चुके थे।

आधिदैविक जगतका निर्माण प्रायः कारक-पुरुषोंका होता है। वे आकल्प स्थायी होते हैं। ब्रह्मा अपने ही मनके अंशके भिन्न-भिन्न रूपों में, नित्यलोककी भिन्न-भिन्न शक्तियों के आधारपर अभिव्यक्त करते रहते हैं। किन्तु उन्हें पश्चात् यह पता लगता है कि प्रकृतिमें ऐसे बहुतसे सूक्ष्म शरीर हैं जिनके साथ संस्कारोंका समूह है। उन सूक्ष्म शरीर युक्त जीवोंके कर्म संस्कार उन्हें अभिव्यक्ति कर सकते हैं, भौतिक जगतकी सृष्टि में सहायक हैं। ब्रह्मा दिव्य जगतकी शक्तियोंसे उन जीवोंको संयुक्त करते हैं और फलतः जीवोंके संस्कार नाना योनियोंका निर्माण कर लेते हैं।

प्रजापति दक्ष, जो मानस सृष्टि जन्य थे, उन्होंने भी अपनी पत्नी में दो बार सहस्त्रों पुत्र उत्पन्न किये। दक्षकी सात्विकताके अनुसार वे पुत्र सात्विक थे। देवर्षि नारदजीने उन्हें ज्ञानका उपदेश दिया और वे विरक्त हो गये। अन्तमें दक्षने कन्याएँ उत्पन्न की और उनकी शादी कश्यप, चन्द्रमा, शंकर प्रभृतिसे कर दिया। प्रजापति कश्यपकी संतान ही प्रायः विश्व है।

जीवोंके संस्कार थे मानस स्तर, दिव्यलोककी शक्तियोंके प्रतिबिम्ब स्वरूप आ रहे थे, पर स्थूलमें उनकी अभिव्यक्ति कैसे हो। प्रजापति कश्यप की पत्नियोंका स्वभाव इसका कारण बना। नियम यह है कि माता जैसे विचार करती है, गर्भस्त शिशु वैसा हो जाता है। पत्नियोंके स्वभावके अनुसार किसीसे पशु, किसीसे पक्षी, किसीसे मानव, किसीसे दैत्य प्रभृति उत्पन्न हुए।

आज भी यदा-कदा समाचार-पत्रों में किसी स्त्रीके विचित्र सन्तान होनेका समाचार आता है। पिछले दिनों किसी स्त्रीसे राक्षसकी उत्पत्तिकी बात सुनी गयी थी। प्रकृतिमें हम देखते हैं कि रेशमका कीड़ा कितने रूप रखता है। साधारण कीड़ा, भौंरेके घरमें बन्द होकर भौंरा बन जाता है। कश्यप पत्नियोंनें जैसे रूप रखे और विचार किये वैसी उनकी सन्तति हुई।

युग सात्विक था, सिद्धियां प्रायः सबको जन्मसे प्राप्त थीं। मन किसी भावस्तरको गया और इच्छा हुई, तो वैसा कर डाला। जैसे सूर्य की पत्नी घोड़ी बन गई और उसी रूपमें उससे सूर्यके संयोगसे अश्वोंकी उत्पत्ति हुई। इस प्रकार कश्यपजीके अतिरिक्त देवताओं और महर्षियोंसे भी बहुत प्रकारकी सन्तति सृष्टि हुई। पूरी सृष्टि उनकी सन्तान हैं।

जैसे ब्रह्माने मानस-सृष्टिमें कुछ सर्प बनाये थे, वैसे सब बना देते। इसमें बाधा यह थी कि मानस सृष्टि बढ़ती नहीं थी। जिस मनोभावनासे वह निर्मित होती थी, उसीपर सीमित हो जाती थी। जहाँ पंचकोषोंका पूर्ण विकाश हुआ था, वह मानव इच्छा न होनेपर भी कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार करके कार्य में प्रवृत्त हो सकता था, किन्तु जिसमें कर्त्तव्य बुद्धि नहीं, उसे तो स्वभावमें काम-वासना दिये बिना सृष्टि चलना सम्भव न था। काम-वासना मूलमें देनेका यही उपाय था कि वह उसीसे उत्पन्न किया जावे।

प्रारब्ध आकृति देता है। एक ही माता-पिता के कई लड़कों की आकृति भिन्न-भिन्न हो जाती है। उस समय केवल मनुष्य बना था। जीवोंके संस्कार जागृत हो चुके थे। जिन्हें गर्भमें आना था, उन्हें एक मानव गर्भ स्थान मिला था, वे वहाँ आये। मनुष्य योनि में वे मनुष्य होने तो आये न थे, आये इस लिये थे कि गर्भवासका संस्कार लाया था। प्रारब्धने कोई आकृति दी और उसी आकृतिमें वे उत्पन्न हो गये। समान रूप और स्वभावकी ओर सभी का आकर्षण होता है। जिनका जैसा रूप और स्वभाव था, वे परस्पर मिल गये। उनकी सृष्टि उन्हींसे चलने लगी। जीवके जिस योनि में जन्मके संस्कार होते हैं, उसी ओर उसे आकर्षित कर लेते हैं। वह अपने अनुकूल योनि में आकर्षित हो जाता है। मानस स्तरका भौतिक- जगत में इस प्रकार आविर्भाव हुआ। जीवोंके संस्कारोंने उसे स्थूल रूप दे दिया।

स्थूल सृष्टिका वर्णन प्रायः पूर्ण हो गया। कुछ शक्तियोंका जन्म अवश्य समझाना है। पाप, पुण्य, धर्म, दिन, वर्ष, संध्या, प्रभृतिके जन्मका भी वर्णन है। अवस्था और क्रिया तथा भावनाका जन्म क्यों कर हुआ, यह सन्देह रह जाता है। अग्निहोत्र कोई बच्चा तो है नहीं, जो उत्पन्न हुआ हो। नरक-स्थानका नाम, प्राणी का नहीं।

बात यह है कि भावनाएँ तो सभी की होती हैं। उन भावोंके अधिदेवता भी होते हैं। एक महर्षिके मन में केवल किसी अवस्थाकी भावना है, फलतः कोई जीव तो उससे आकृष्ट होगा नहीं। किन्तु महर्षिकी तपस्या सुसंचित वीर्य अमोघ है। उनकी भावना व्यर्थ जाय, यह सम्भव नहीं। होता यह कि उस भावनाके अधिदेवताको उस वीर्य में आकर्षित होना पड़ता और वह महर्षिकी पत्नीसे पुत्र रूपमें उत्पन्न होता। उत्पत्तिके पश्चात् वह अपने लोकमें पुनः पहुँच जाता। देवताकी उत्पत्तिका शरीर भी सूक्ष्म होता।

शंकरजी के विवाहमें गणेश-पूजन हुआ। गणेश बुद्धिके अधिदेवता हैं और वह सृष्टि के आरम्भसे थे। दिव्यलोकको वह एक नित्य-शक्ति हैं, जो प्रकृति में प्रतिबिम्बित होती है। मर्यादानुसार उस शक्तिका पूजन करना था जो शंकरजीने किया। पार्वतीजी ने पश्चात् उस शक्तिके देवताको आकर्षित करके

पुत्र रूपमें प्राप्त कर लिया। तो इससे उसकी पहली उपस्थिति असिद्ध नहीं हुई। इसी प्रकार यज्ञादिके अधिदेवोंकी उत्पत्ति समझना चाहिये।

आज भी एक श्रेणीके प्राणी दूसरी श्रेणीके प्राणीसे संयोग करके एक विचित्र तीसरी श्रेणी उत्पन्न करते हैं। खच्चरकी उत्पत्ति इसी प्रकार हुई है। अधिकांश पुष्प मिश्रणसे बने मिलते हैं। सृष्टिके आरम्भ में आजकी सब योनियां बन गयीं हों, यह आवश्यक नहीं। बहुत-सी मिश्रण से बनीं, बहुतों में विकार हुआ। जैसे छिपकलीका हाथी जैसा आकार, जिसकी अस्थियां आज भी मिलती हैं, अब बहुत छोटा रह गया। अधिकांश संख्या प्राणियोंकी मिट गई और मिटती जा रही है। मिश्रणसे और विकृतिसे नवीन नवीन योनियों की सृष्टि हो रही है।

पिछले अध्याओं में विशेषकर "मनुष्येतर प्राणियोंसे वैवाहिक सम्बन्ध" के प्रकरण में बता आये हैं कि नवीन या प्राचीन कुछ नहीं होता। मनोभाव भी प्रकृतिसे लिये जाते हैं। एक मनोभावकी स्थूल अभिव्यक्ति न थी, अब हो गई तो उसे नवीन कहा जाता है, जो नित्य जगतमें नहीं है, वह यहाँ नहीं आ सकता। केवल इतना होता है कि ब्रह्मांड, गतिशीलताके कारण, नित्य जगत के जिन अंशोंको छोड़ता जाता है, वे मनोभाव लुप्त हो जाते हैं और जिन्हें ग्रहण करता है वे अभिव्यक्त होते हैं। जैसे पृथ्वी सूर्यके जिस अंश होती है, उसके गुण ग्रहण करती है। युगोंका परिवर्तन भी इसी कारण होता है।

ब्रह्मांड जब नित्यलोककी सन्निधिसे दूर होता है तो यहां प्रलय होती है। दूर होते समय आकर्षणका संघर्ष यहां अग्नि लगा देता है। जल अग्निसे वाष्प बनकर पुनः घोर वृष्टि द्वारा संसारको डुबा देता है। वायु जलको शुष्क कर लेता है। आकाशादि क्रमशः अपने कारणोंमें लय हो जाते हैं। सगुण शक्तिसे ज्यों-ज्यों प्रकृति दूर होती है, वह गति होती जाती है। अन्तमें समस्त ब्रह्माण्ड गतिहीन एकाकार हो जाता है। ऐसा तब तक रहता है, जब तक वह पुनः दूसरे नित्यलोकके समीप न पहुँचे। खण्ड प्रलय प्रभृति तो इसके मध्य में होते हैं। उनका कारण दिव्यलोककी अवस्था विशेष या प्रकृतिके विकारका विस्फोट होता है।

***

# क्षीर सागरादि

पुराणोंका सबसे जटिल भाग है उनका भूगोल और ज्योतिष। वे भूगोल में क्षीरसागर, दधिसागर, इक्षुरस सागर, सुरोद सागर प्रभृतिका वर्णन करते हैं। एक सागर एक द्वीपको घेरे हुए है और दूसरा द्वीप उस सागरको इस प्रकार सात द्वीप और सात समुद्र माने गये हैं। द्वीपोंमें नदियोंके जन्मकी ऐसी विशेषताका वर्णन है कि उनसे लगी वायुका जिन्हें स्पर्श होता है, वे बूढ़े, रोगी आदि नहीं होते। इस प्रकारके दूसरे आश्चर्य का वर्णन भी द्वीपोंमें पाया जाता है।

सुमेरु एक और उलझन है। उसे भारतसे उत्तर में होना चाहिये। वह सोनेका पर्वत बताया गया है और सूर्य उनकी प्रदक्षिणा करता है। देवता और लोकपाल उसके ऊपर रहते हैं। वह जम्बू द्वीपके मध्य में अवस्थित है।

भूगोल के अतिरिक्त ज्योतिष भी कम उलझनका विषय नहीं। सूर्य एवं चन्द्रग्रहण राहुके द्वारा माने जाते हैं। सूर्यको घूमनेवाला कहा जाता है। चन्द्रमाको सूर्यकी अपेक्षा पृथ्वीसे अधिक दूर बताया गया है। और भी कुछ ऐसी या इससे मिलती जुलती आश्चर्यजनक बातें हैं।

यह कह देना सरल है कि यह सब कोरी कल्पना है, किन्तु जब हम देखते हैं कि दूसरी बातें उन्हीं पुराणोंकी अद्‌भुत होने पर भी सत्य हैं और उनमें गूढ़ तत्व है, तो कोई कारण नहीं दीखता कि हम इन वर्णनोंको कल्पना कह दें। आजकी वैज्ञानिक खोज अभी अधूरी और अविश्वसनीय है, क्योंकि वैज्ञानिकों में स्वयं मतैक्य नहीं, अतः अधूरी खोजोंके आधारपर पुराणोंकी खोज मिथ्या नहीं कही जा सकती।

एक बात हमें स्पष्ट स्वीकार कर लेना है कि इन आधिभौतिक विषयोंका ज्ञान हमारे पास नहीं और न उसके परीक्षणका कोई साधन। कल्पनाको दौड़ाकर

हमें केवल कुछ अनुमान करना है। उसकी सत्यताका हम कोई आग्रह नहीं कर सकते। संभव है कि कुछ दिनों पश्चात खोजके द्वारा कोई वस्तु तथ्य प्राप्त हो सके। हमारी कल्पनासे वह सर्वथा विरोधी भी हो सकता है। एक शास्त्र-विश्वासीके नाते इन पौराणिक वर्णनोंको मैं सत्य मानता हूँ। उनकी अवस्थिति कैसे है, यह आज हमारे पास जानने का साधन नहीं। हम कुछ अनुमान कर सकते हैं, पर वह केवल संदिग्ध अनुमान मात्र होगा।

पुराणोंके भौगोलिक वर्णनका जहां तक भारतका सम्बन्ध है, ज्यों का त्यों मिलता है। नदी, पर्वत प्रभृति सबका वर्णन है। खोज करने के लिये हमें यहीं से बढ़ना चाहिये। पुराणोंका भारत वर्तमान भारत ही है, वर्णन यह स्पष्ट करता है। भारत जम्बूद्वीपका एक देश है। उसके पास हरिवर्ष आदिका वर्णन है। फारस और अफगानिस्तान आदिको मिलाकर हरिवर्ष को मान लें तो कोई आपत्ति नहीं। जम्बूद्वीप क्षार समुद्रसे घिरा बताया गया है। यूरोप और एशियाका सम्मिलित भूखण्ड जम्बूद्वीप कहा जा सकता है।

उलझन यहींसे आरम्भ होती है। भारतके अतिरिक्त दूसरे सब देश भोग भूमि माने गये हैं। हरिवर्ष प्रभृति में ऐसे वृक्ष या नदियोंका वर्णन है जिसके प्रभाव से उन देशोंके लोग वृद्ध नहीं होते, रोगी नहीं होते। जम्बूद्वीपको वेष्टित करनेवाला क्षार समुद्र दूसरे द्वीपसे आवेष्टित है और वह द्वीप क्षीर सागर से। क्षार समुद्र में केवल जम्बूद्वीपका वर्णन है। यह भी नहीं हो सकता कि पूरी पृथ्वीको जम्बूद्वीप कह दिया जावे, क्योंकि जम्बूद्वीपके देशोंका वर्णन और उनकी नदियोंका वर्णन इस प्रकार है, जो बताया है कि उनके मध्य में कोई समुद्र नहीं।

भारतके बाहरके देशों में भी ऐसे ही जलकी नदियाँ हैं। ऐसे ही लोग वहां भी वृद्ध रोगी होते हैं। वहाँ कोई ऐसी विशेषता नहीं जिससे उन्हें कोई भिन्नता दी जा सके। पुराणों में भारतका ऐसा वर्णन है, जिससे हम उसमें कोई परिवर्तन कर नहीं सकते। चीन और फारसको भारत में कोई मिला नहीं सकता। पर्वत और नदी सबके नाम स्पष्ट हैं। देशोंका जो विस्तार दिया है, उसके अनुसार भी जम्बूद्वीपको पूरे यूरेशियासे बड़ा नहीं होना चाहिये।

इस दशामें यदि कहें कि अफ्रीका प्रभृतिको शाकद्वीप आदि कहा गया है, तो वे भी क्षार सिंधुसे आवेष्टित हैं। यदि उन्हें शाक द्वीप प्रभृति न मानें तो कहना होगा कि पुराणों में उनका वर्णन नहीं। फिर क्षीरसागर को ढूंढना और भी असम्भव हो जायगा।

पुराणोंका काल लगभग पाँच सहस्र वर्ष आजसे प्राचीन है। तबसे अबतक प्रकृतिमें असंख्य परिवर्तन हो चुके हैं। कोई कहे तो कह सकता है कि भूगोलकी स्थिति बदल गयी। यह कुछ असम्भव तो है नहीं। एक नये द्वीपका निकल आना और पुरानेका समुद्रमें डूब जाना प्रकृति में साधारण बात है। शाक द्वीप प्रभृति सब डूब गये, उनके स्थानपर नये द्वीप नये ढंगसे निकल आये। सारे सागर एक हो गये और क्षार भी। जम्बूद्वीपकी वे नदियाँ जो दिव्य प्रभाव रखती थीं, बदल गई।

इस प्रकार एक महान परिवर्तनकी कल्पना करके मनको सन्तोष दिया जा सकता है। किन्तु जिन पुराणों में भारतके राज्यवंशों के बदलनेका वर्णन है, जिन सर्वज्ञ महर्षियोंने भविष्य के छोटे-छोटे परिवर्तनोंको पुराणों में पहले से बता दिया, उन्हें इस महाप्रलयका पता न था। उन्होंने इस सारे विश्वके परिवर्तनके विषय में दो शब्द भी लिखना ठीक न समझा। ऐसी बात युक्ति-संगत और सम्भव नहीं जान पड़ती।

कहते हैं कि किसी अंग्रेज सज्जनने पौराणिक भूगोलका मानचित्र बनाया है। उन्होंने अफ्रीकाको शाक द्वीप बताया है। जंगलोंसे भरा हुआ यह द्वीप शाकद्वीप कहा जाय तो अनुचित नहीं। उन महोदयने पुराणोंके अनुसार जो अफ्रीकाका मानचित्र बनाया था, उसके आधारपर खोज करने से नील नदीका उद्‌गम मिल गया। यह बात बतलाती है कि उनका मानचित्र ठीक बना है।

संस्कृत में एक शब्दके कई अर्थ होते हैं। एक द्वीप एक समुद्रसे घिरा हुआ और उसे दूसरा द्वीप घेरे हुए, इस वर्णन में जो शब्द पुराणों में आये हैं, उनका अर्थ सम्भव है, कुछ और हो। दूसरी बात यह होती है कि मानचित्र को फैलाना सबसे टेढ़ा है। आज पृथ्वीका मानचित्र दो गोलार्ध दिखाया जाता है

और उत्तर ऊपर माना जाता है। पुराणोंके समयमें मानचित्र कैसे दिखाया जाता होगा और वे लोग कैसे धरातलको समझते होंगे, यह कहा नहीं जा सकता। उस समय देशके सूबोंको आवर्त कहते थे। यद्यपि सूबे न तो गोल होते थे और न घूमते। इस प्रकार पुराणोंके भूगोलमें जो पारिभाषिक शब्द हैं, उन्हें तथा उस समयके मानचित्रके विवरणको न जाननेके कारण पुराणोंके अर्थ में बहुत गड़बड़ी होती है। उस पौराणिक भूगोलका मानचित्र बनानेवाले सज्जनने अवश्य उसे किसी विशेष ढंगसे फैलाया होगा। दुर्भाग्य से वह भारतमें अभी उपलब्ध नहीं।

द्वीप और समुद्र एक दूसरेको घेरे न भी हों, तो भी क्षीरसागरादि और दिव्य प्रभाववाली नदियाँ तो आज उपलब्ध हैं नहीं। उन्हें जिन देशों में होना चाहिये, वहां उनका नाम भी नहीं। सुमेरु और ग्रहोंके विषयका विवाद भी केवल मानचित्रको हल करनेसे हल नहीं हुआ जाता। इन सबका कुछ न कुछ समन्वय चाहिये।

यह जगत कहींसे टपक तो पड़ा नहीं। यह त्रिपाद्-विभूति के नित्यलोक का एक प्रकार प्रतिबिम्ब है। नित्यलोकके पदार्थ यहाँ अवतरित होते हैं। कहा नहीं जा सकता कि नित्य लोकमें भी क्षीरसागरादि न होंगे। सम्भावना तो यह होती है कि ये नित्य लोक की वस्तुएँ हैं, भौतिक जगतमें इनका अवतरण प्रकृतिके विकारसे विकृत हो गया। ऋषियोंने प्राकृतिक वस्तुओं को भी उसी नामसे पुकारा जो उनका नित्यलोकमें रूप था। क्षीर सागर, शाक वृक्ष, जाम्बरसकी नदी और उनका आश्चर्यजनक प्रभाव पृथ्वीपर नहीं। ये वर्णन दिव्यलोक के हैं। पृथ्वीपर इनका जो प्रतिबिम्ब अवतरित हुआ, उसे भी इन्हींके नामसे सम्बोधित किया गया। इस प्राकृतिक रूपमें भी वही गुण हो, यह आवश्यक नहीं।

इस उपरोक्त अनुमानके लिये कारण है। क्षीरसागर में भगवान् विष्णुका निवास माना जाता है। महाप्रलय में भगवान् उस शेषशय्यापर सोते रहते हैं। दूसरी ओर कहा गया है कि महाप्रलय में समस्त प्रकृति स्थिर हो जाती है। महत्तत्व भी प्रकृतिमें लय हो जाता है। यदि क्षीर सिंधुको प्राकृत मानें तो वह

विकारी होगा। प्रकृतिके लयमें उसका भी लय हो जाना चाहिये। यह वर्णन परस्पर विरोधी होता है। मानना पड़ेगा कि क्षीर सिंधु प्राकृत नहीं और इसीसे वह विकारी एवं नश्वर भी नहीं। प्रकृतिमें जिसे क्षीर सागर कहेंगे, वह वस्तुतः क्षीर सागर नहीं। क्षीर सिंधुकी शक्तिके आंशिक अवतरणसे उसका निर्माण हुआ है, अतः उसे भी क्षीरसिंधुका नाम दिया गया।

नदियों तथा पर्वतोंके विषय में भी यही उपरोक्त बात कही जा सकती है। भारतके अतिरिक्त दूसरे सारे देशोंको भोगभूमि कहने में ऐसा ही अभिप्राय है। यह पृथ्वी और उसमें मनुष्य योनि मात्र कर्मयोनि है। इस लोकका नाम ही कर्मलोक है। किन्तु भारतकी अपेक्षा दूसरे देशों में भौतिक दृष्टि प्रधान रहती है, वहाँ लोग भोगकी प्रधानता रखकर प्राय: कर्म करते हैं। अतः उन्हें भोग भूमि कहा गया। नित्यलोकके जिन स्थानोंके वे अवतरण हैं, वे भोग प्रधान हैं। कर्मभूमिमें आकर वे कर्मफल न पावेंगे या कर्म न करेंगे, ऐसी बात नहीं। उनमें भोग प्रधान रहेगा यह तात्पर्य है। भारत नित्यलोकके कर्मभूमिमय अंशसे सम्बन्ध रखता है। यहां भोग दृष्टि प्रधान नहीं रहती। यहाँके लोग कर्त्तव्य बुद्धिसे या परमार्थ को दृष्टिमें रखकर अधिकांश कर्म करते हैं। इस कारण इसे कर्मभूमि कहा गया।

सुमेरुके विषय में भी कुछ कहना है। सुमेरु सोनेका है या नहीं, इसका पता नहीं। वह स्वर्ण का भी हो सकता है और यह भी हो सकता है कि यह वर्णन उसके दिव्यलोकके रूपका हो। किन्तु उसकी अवस्थिति पृथ्वीपर अवश्य मिलनी चाहिये। उसके ऊपर लोकपाल चाहे न भी रहते हों, इसे नित्यलोक का वर्णन माना जा सकता है, पर सूर्य उसकी प्रदक्षिणा करता हो, यह होना चाहिये।

***

# सुमेरुका स्थान और ज्योतिष

सुमेरुका स्थान ध्रुव उत्तर में बताया गया है। उत्तरी ध्रुवके ठीक मध्य में यह पर्वत होगा। निश्चित ही वह आज बर्फसे ढक गया होगा। वहाँ स्वर्णकी खानें बहुलतासे हों तो कोई आश्चर्य नहीं। उत्तरी ध्रुवपर सूर्य छः महीने दिखायी नहीं देता और छः महीने बराबर प्रकट रहता है। सूर्य वहाँ सिरके ऊपर दिखायी देता है और वृत्ताकार घूमता दृष्टि पड़ता है। वहाँ सूर्योदयका अर्थ है चक्कर काटते हुए सूर्यका धीरे-धीरे नीचे उतरना। सूर्यास्त के समय वह धीरे-धीरे ऊपर उठता है और दृष्टि पथसे ओझल हो जाता है। वहां एक-एक महीने के लगभग तो संध्याकाल होता है। यह दृश्य टुण्ड्रामें दिखायी देता है। आजका भूगोल इसका समर्थक है। इसे ध्यान में रखते हुए सूर्यकी सुमेरु प्रदक्षिणा सरलतासे समझमें आ जाती है। ध्रुवका पूरा पता लगने पर सुमेरुका मिलना सम्भव है।

ज्योतिषके विषय में कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। गणित और यन्त्रोंका निर्णय भी वहाँ संदिग्ध होता है। वे परिणाम बताते हैं, वस्तुस्थिति नहीं। मान लीजिये कि एक वृक्ष है और उसके चारों ओर एक लड़का दौड़ रहा है। गणित के लिये आप लड़केको स्थिर और वृक्षको दौड़ता मानलें तो भी कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। लड़केकी गति वृक्ष में मानना पड़ेगा। इसी प्रकार रेलगाड़ी पर बैठकर एक व्यक्ति गतिमापक यन्त्र से पृथ्वीको देखे। उसे पता न हो कि गाड़ी चलती है। यन्त्रके द्वारा वह गाड़ी की गति सामने खड़े मकान में पावेगा। इस प्रकार गणित और यन्त्र दोनों परिणाम तो बतायेंगे, किन्तु अवस्था ठीक बतानेमें सन्देह रहता है।

पाश्चात्य ज्योतिषियोंमें भी बहुत विवाद है। उनके सिद्धान्त नित्य नये बदलते रहते हैं। एक ग्रहणको ले लीजिये। आजकल यह माना जाता है कि सूर्य और पृथ्वीके मध्य में चन्द्रके आने से सूर्य ग्रहण और सूर्य तथा चन्द्रके मध्य पृथ्वीके आनेसे चन्द्रग्रहण होता है। भारतमें एक मतके ज्योतिषी बहुत प्राचीन

काल से इसे मानते हैं। सौर गणितका यह सिद्धान्त है। यूरोप वाले भी इसीके अनुसार गणित करते हैं। पुराण कहते हैं कि राहु एक स्वतन्त्र ग्रह है उसका रंग काला बताया गया है। वह जब चन्द्र और पृथ्वीके मध्य आता है तो चन्द्रग्रहण और जब सूर्य और पृथ्वीके मध्य आता है तो सूर्य ग्रहण लगता है। जो ज्योतिषी राहुके अनुसार गणित करते हैं उनका गणित भी वही ग्रहण समय प्रभृति बतलाता है, जो राहुको न मानने वालों का। गणितकी दृष्टिसे दोनों मत ठीक हैं। राहुका रंग काला है, अतः यन्त्र उसे देख नहीं पाते। यन्त्रोंसे वह देखा नहीं जाता, केवल इसीलिये उसकी सत्ता अस्वीकार नहीं की जा सकती।

ग्रहोंकी दूरी और उनकी गति प्रभृतिके विषयमें जितना भी आज तक पाश्चात्य जगतने अन्वेषण किया है, वह असंदिग्ध नहीं। यन्त्रोंकी शोधपर पूर्णतया विश्वास नहीं किया जा सकता। स्वतः उनके सिद्धान्त अभी स्थिर नहीं हुए। उसमें अभी बराबर परिवर्तन होता जा रहा है। ऐसी दशामें उनकी अधूरी और भ्रामक शोधके आधारपर एक प्राचीन सुनिश्चित विज्ञानको भ्रमात्मक कहना कोई अर्थ नहीं रखता। सम्भव है कि आगे चलकर वे भी इसीको स्वीकार करें।

आवश्यकता शोध की है। जगदीशचन्द्र बसुने जब अपने शास्त्रोंमें पढ़ा कि वृक्षोंमें प्राण होते हैं, तो वे उसे ढूंढ़ निकालने में लग गये। उन्हें शास्त्र पर विश्वास था। वैज्ञानिक उस समय तक वृक्षोंको निर्जीव मानते थे। लोग बसु महोदय की खिल्ली उड़ाते थे। अन्तमें बसु बाबू सफल हुए। संसारने उनका केवल सम्मान ही नहीं किया, उनके सिद्धान्तको अपनाया। वृक्षोंको निर्जीव मानना आज मूर्खता समझी जाती है। शास्त्रोंको मिथ्या कहने की अपेक्षा सर्वज्ञ महर्षियोंके विषय में मौन रहना अच्छा है। सम्मान और भारतके कल्याणका मार्ग तो यह है कि हम उनके वचनोंपर पूर्णतः विश्वास करें। उसे सत्य मानकर ढूँढ़ें और प्रमाणित करें। सिद्धान्त पहले से प्रस्तुत है, हमें केवल उसकी क्रियामात्रका अन्वेषण करना है। यदि शोधमें रुचि रखनेवाले दस-बीस भी लगनके व्यक्ति पूर्ण विश्वाससे इधर लग जायें तो आश्चर्यजनक लाभ होगा।

प्रकरणान्तमें मुझे इतनी नम्र विनय करनी है कि सुमेरु प्रभृतिकी अवस्थितिके विषय में मैंने जो कुछ लिखा है, वह मेरी अपनी सम्भावना है। प्राकृत जगतमें उनका वैसा ही अस्तित्व जैसा शास्त्रों में वर्णित है, है ही नहीं, यह बात मैं दृढ़तासे नहीं कह सकता। अवश्य उनकी भी शोध होनी चाहिये।

***

# वेद ईश्वरकृत हैं

शीर्षकसे कहीं किसी को भ्रम न हो जावे। ईश्वरकृत का तात्पर्य ईश्वर प्रदत्तसे है। वैदिक ज्ञान नित्य, अपरिवर्तित, शाश्वत और पूर्ण है। प्रत्येक कल्पके आदिमें, समाधिकी स्थिति में, ब्रह्माको उसका आविर्भाव होता है। उसी ज्ञानके आधारपर ब्रह्मा सृष्टि करते हैं। उनके चारों मुखों से चारों वेदोंके मन्त्र स्वतः उच्चरित होते हैं। इन मन्त्रोंको उनके मानस-पुत्र ग्रहणकर लेते हैं।

संहिता भाग, उपनिषद और ब्राह्मण इन सबको सम्मिलित रूपसे वेद नाम दिया जाता है। केवल संहिता भागको वेद कहना, वेदोंको अपूर्ण और खण्डितकर देना है। संहिताएँ भी वही चार नहीं हैं जो आजकल मिलती हैं। वे तो संहिताकी एक शाखा मात्र हैं। एक-एक वेदकी ग्यारह सहस्त्रसे भी अधिक शाखाएँ हैं। एक शाखाका एक उपनिषद और एक ब्राह्मण। दुर्भाग्यसे संहिता की चार शाखाएँ, चार-छः ही उपलब्ध रहीं। उपनिषद सवासौके लगभग मिलते हैं और ब्राह्मण भी गिने-चुने। यवनोंके आक्रमण तथा बौद्धोंके समय में वेदके सारे ग्रन्थ नष्ट हो गये।

आज वेदके नामपर जो कुछ उपलब्ध है, वह वेदका एक शतांश भी नहीं। केवल उतने भागको लेकर सम्पूर्ण ज्ञानकी दुहाई नहीं दी जा सकती। उतने को परम प्रमाण मानकर पुराणादि दूसरे शास्त्रोंको अप्रमाण भी नहीं कहा जा सकता। निश्चय ही वेदमें सृष्टिका समस्त ज्ञान है, पर वेद पूर्णतः हमें प्राप्त कहाँ? यदि पूरे वैदिक ग्रन्थ प्राप्त होते तो हमारे ज्ञानकी स्थिति कुछ दूसरी होती। आज जो कुछ प्राप्त है, वही बतलाता है कि वह कितना महत्वपूर्ण और विलक्षण है। कर्म, ज्ञान और उपासना, यही वेदोंका त्रिकांड है। इस त्रिकाण्डकी पूर्ति में वैदिक-आचरणकी पूर्ति है। संहिता भाग उपासनाका निदर्शक है। उसमें अग्नि, इन्द्र, वायु, वरुण आदि देवताओंकी उपासना है। ब्राह्मण - कर्म विधायक हैं। किस मन्त्रका किस कर्ममें किस प्रकार उपयोग करना चाहिये, यह ब्राह्मणों

में बताया गया। यज्ञकी विधि ब्राह्मणोंका विषय है। उपनिषद ज्ञान प्रवर्तक हैं। संसार, जीव, ईश्वर, इन सबकी उनमें मीमांसा की गई है। परमसत्यको निर्णीत करके मुक्ति पथ प्रशस्त करना उनका मुख्य उद्देश्य है।

यदि हम संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद त्रयीको वेद न मानें, तो केवल संहिता को त्रयी कहना उसे एकांगी बना देगा। वेदोंमें केवल उपासना मात्र अवशेष रह जावेगी। इस त्रयीको वेद कहनेका कारण भी है। तीनोंमें एक-दूसरेका कुछ-न-कुछ अंश अवश्य मिलता है। संहिता भागमें से एकाध ब्राह्मण हैं। दशोपनिषदों में से एक मूल संहिता भागका है। उपनिषदोंमें उपासना और कर्मकाण्ड तथा ब्राह्मणों में उपासना एवं ज्ञानका वर्णन भी पाया जाता है। यह सूचित करता है कि ये तीनों अभिन्न हैं। केवल सूत्रोंका कोई उपयोग नहीं होता, संहिता भागमें अधिकांश स्तुति सूक्ति हैं। यदि उन सूक्तियोंको ही पूरा वेद कहें, तो कहना होगा "ईश्वर स्तुति चाहता है और उसने विश्वको केवल अपनी स्तुतिका ज्ञान प्रदान किया।" उन स्तुतियोंमें जो महान् विज्ञान है, उसे भी तो ईश्वरको देना चाहिये। "इन्द्र, हमें पशु दो।" यह प्रार्थना तो उपासनाका विषय है। इन्द्रसे, कैसे पशु धन प्राप्त होगा, यह कर्मकाण्ड ब्राह्मण बतलावेगा। इन्द्र कौन ? पशु क्या ? इस ज्ञानकी मीमांसा, उपनिषदसे होगी। यह तीनों परस्पर अभिन्न हैं। तीनोंको सम्मिलित वेद कहा जाता है।

वेद शब्दका अर्थ है जानना - ज्ञान। ज्ञान नित्य है वह बनता नहीं, प्राप्त किया जाता है। किसी भी वस्तुका ज्ञान पाया जाता है, उसको उत्पत्ति नहीं कह सकते। प्राप्ति उसकी होती है जो पहलेसे हो। समस्त ज्ञान पहलेसे है, नित्य है, प्रकृतिके गर्भ में अनन्त ज्ञान है। उन सबमें से मनुष्य श्रम करके कुछ प्राप्त कर लेता है। उदाहरणके लिए आकर्षण-विकर्षणका ज्ञान लीजिये। वे पहले से थे, अतः न्यूटनने उन्हें पाया। बर्फ में उष्णत्व का ज्ञान नहीं हैं, अतः उसे कोई पाता भी नहीं।

सम्पूर्ण ज्ञानके तीन भाग हैं। कर्म, ज्ञान और उपासना। कुछ ज्ञान ऐसा होता है जो हमें क्रियाकी विधि बतलाता है। कुछ ऐसा होता है जो हमें क्रिया, वस्तु और उसके आदि-अन्तका स्वरूप बतलाता है। तीसरे प्रकारका ज्ञान हमें

वस्तुकी उत्पादक महती सत्ताके प्रति श्रद्धालु बनाता है। हम उस शक्तिके सम्मुख अपना सिर झुकाते हैं। ज्ञानका कोई चौथा स्वरूप नहीं होता। वह इन्हीं त्रिकाण्डोंको आधार रखता है।

वेदका अर्थ - ज्ञान। वह नित्य है और त्रिकांडात्मक है। यह इतना विषय, इतना स्पष्ट और निर्विवाद है कि इसपर किसीको कोई आपत्ति नहीं हो सकती। रहा यह कि हम कुछ पुस्तकोंको वेद क्यों कहते हैं और उन्हें ईश्वर प्रदत्त क्यों मानते हैं? यही विवेचनीय है। ज्ञान अनन्त है, अत: वेद को भी अनन्त होना चाहिये, यह भी एक प्रश्न है अनन्त ज्ञान होनेपर भी मानव मस्तिष्ककी ग्रहण शक्ति अनन्त नहीं। उसके लिए समस्त ऊल-जलूल बातोंकी आवश्यकता भी नहीं। ईश्वरकी ओरसे अनन्त ज्ञान दिया जाता है। ईश्वरका स्वरूप ज्ञान है। भगवत्साक्षात्कारका अर्थ है, ज्ञानसे एकीभूत हो जाना। किन्तु मस्तिष्कके विकासकी एक सीमा है। उस समय वह अपनी चरम सीमापर पहुँच जाता है। मानव के लिये अधिकसे अधिक जितने ज्ञानकी आवश्यकता है, वह उस समय ग्रहण कर लेता है। उसी ज्ञानका रूप वेद हैं।

वेदमें ज्ञानके सूत्र हैं। घड़ा बनानेके लिये मिट्टी में इतना जल डालो, इतनी बार मलो या भोजन के लिये ग्रासको थालीसे उठाकर मुखमें डालना चाहिये, इस प्रकार के ज्ञानका वेद में मानना वेदका अपमान करना है। उसमें नियम हैं, सूत्र हैं। समस्त प्रकारके ज्ञानके उसमें प्रधान नियम हैं। उनके द्वारा हम अपनी बुद्धिको प्रस्तारित कर सकते हैं। जैसे "पेड़ोंमें चेतना है।" यह वैदिक ज्ञानका सूत्र है। अब यह हमारा काम है कि दूसरे सूत्रमें हम चेतनाका धर्म ढूँढ़ें। पेड़ भी शीत-उष्ण, सुख-दुःखका अनुभव करते हैं। यह हमें जानना पड़ेगा। इस प्रकार जितने ज्ञानके सूत्रोंका मनुष्यके लिये अधिक-से-अधिक उपयोग है, वह वेदोंमें आ गये हैं। वेदोंको इसीसे ज्ञान कहते हैं। वह ज्ञान नित्य है। वेद नित्य हैं।

वेदकी पुस्तकों में जो शब्द लिखे हैं वह नियमकी दृष्टिसे तो नित्य हैं। नियम प्राकृतिक-नियम सदा नित्य होता है। उन वेदोंके शब्द भी नित्य हैं। शब्द बनाया नहीं जाता, वह ग्रहण किया जाता है। आप जब कोई शब्द बोलते हैं तो

न तो आप उसे बनाते और न वह नष्ट होता। आपके बोलने का अर्थ है उसे आकाशसे ग्रहण करना। वह पुनः आकाशमें व्यापक हो जाता है। दूसरे स्थानपर रेडियो उसे ग्रहण भी कर सकता है। शब्द जब नित्य है तो वैदिक शब्दोंकी नित्यता स्वतः सिद्ध है।

शब्दकी भाँति विचार भी नित्य होते हैं। वे भी प्रकृतिमें व्यापक हो जाते हैं। वैदिक विचार, विचारोंके मूल सूत्र हैं। उन्हें हम इसीसे शाश्वत कहते हैं। अक्षरोंकी आकृतिके विषय में केवल इतना कहना है कि नागरी अक्षरोंकी एकमात्र ऐसी आकृति है जो उनकी ध्वनिसे सम्बन्ध रखती है। किसी शब्द के उच्चारणसे प्रकृतिमें एक सूक्ष्म आकृति बनती है। नागरीके अक्षरोंका उच्चारण उन्हींकी आकृति बनाता है। अतः वैदिक अक्षर भी नित्य कहे जा सकते हैं।

वेद ईश्वरका ज्ञान है। ईश्वरकी भाँति नित्य और आविकारी। सृष्टि निर्माणके सब सूत्र उसमें निहित हैं। सृष्टिके आरम्भ में ब्रह्माको तपस्याका आदेश हुआ। वे तपस्याके द्वारा मनको एकाग्र कर सके। उनकी तपस्या एकाग्रता थी। उस समय जब चित्त पूर्णत: एकाग्र हुआ, अपने भीतर उन्हें परमात्मा की प्राप्ति हुई। उसी एकाग्रतामें उनके एक-एक मुखसे एक-एक संहिताके मन्त्र निकले। ब्रह्मा के मानस पुत्रोंने उन्हें स्मरण कर लिया।

ब्रह्माको सृष्टिका निर्माण करना था। अपने भीतर उन्हें सम्पूर्ण सृष्टिका दर्शन हो चुका था। कर्मकी पद्धति उन्हें और नहीं जानना था। ज्ञानकी उन्हें आवश्यकता न थी। उपासनाका आदेश मानस पुत्रोंको देकर सृष्टि बढ़ाना था। दूसरे उपासना के सूत्रोंका कर्म और ज्ञान दोनोंसे अभिन्न सम्बन्ध है। ब्रह्मा केवल सृष्टि कार्य में शक्ति प्राप्त करने के उद्देश्यसे एकाग्र हुए थे। फलतः अधिकारीके अनुसार उपासना भागको उनके चित्त ने ग्रहण किया।

ब्रह्माने अपने मानस पुत्रोंको सृष्टिकी आज्ञा दी। कुछने उसे स्वीकार भी किया। केवल उपासनासे काम चलता नहीं था। कर्मकी विधि जानना आवश्यक था। जिज्ञासा होती थी सृष्टिका वास्तविक स्वरूप जाना जाये। जो ऋषि जिस मन्त्रके अनुसार उपासनामें लगा था, उसने उसी मन्त्रपर अपनेको एकाग्र किया। पूरी एकाग्रतामें जबकि जीवका अहंकार नष्टप्राय हो जाता है, वे

ईश्वरीय सत्ताका साक्षात कर सके जहाँसे ब्रह्माने उस मन्त्रको पाया था। मन्त्रका कर्ममें उपयोग कैसे हो और वह जिन वस्तुओंका सूचक है, उनका मूलरूप क्या है? इन दो इच्छाओंसे ऋषि एकाग्र हुए थे। उस एकाग्रता में मन्त्रके त्रिकाण्डात्मक पूर्णरूपका उन्हें साक्षात्कार हुआ।

साक्षात्कार तो ब्रह्माको भी पूर्ण हुआ और ऋषियोंको भी। पूर्णताकी स्थिति में पहुँचनेपर अपूर्णता रह नहीं सकती। अन्तर यह हुआ कि ब्रह्मा केवल शक्ति चाहते थे, अतः उनके चित्तने केवल शक्ति सम्बन्धी उपासना सम्बन्धी मन्त्रोंको ग्रहण किया। सब देखते हुए भी ब्रह्मा के मुखसे केवल उपासनाके मन्त्र उस समय निकले। ऋषि मन्त्रका तत्व जानना चाहते थे, अतः मन्त्रका पूर्ण रूप उनके द्वारा अभिव्यक्त हुआ।

एकाग्रताकी स्थिति में ऋषियोंको मन्त्रके वास्तविक अर्थका दर्शन हुआ। ऋषि शब्दका अर्थ ही है मन्त्रको देखनेवाला। जिस मन्त्रको लेकर जो ऋषि एकाग्र हुए और उसके अर्थका उन्होंने साक्षात्कार किया, उसके वह द्रष्टा माने गये। मन्त्रके साथ उनका नाम वेदोंमें जोड़ दिया गया। नाम जोड़नेका अर्थ यह है कि उस मन्त्रको समझने के लिये उस ऋषिका मत जानना चाहिये।

जब किसी मन्त्रको लेकर कोई ऋषि एकाग्र हुए तो उनकी समाधि दशामें उस मन्त्रका कर्म भाग और ज्ञान भाग उन्हें मिला। उसीको उन्होंने ज्योंका त्यों उत्थित होनेपर व्यक्त कर दिया। कर्म भाग ब्राह्मण कहा जाता है और ज्ञान भाग उपनिषद। जैसे ऋषि मन्त्रोंके द्रष्टा हैं, वैसे ही ब्राह्मण और उपनिषदोंके भी। एक ऋषि एकसे अधिक मन्त्रोंपर भी एकाग्र हुए हैं और वे सबके द्रष्टा माने जाते हैं।

ईश्वरीय ज्ञान पृथ्वीपर न तो पुस्तकके रूपमें कूदा और न पानी के साथ उसकी वर्षा हुई। अवतार लेकर भगवानने वेद-मन्त्र बताये भी नहीं। मन जब पूर्णतः एकाग्र हो जाता है और अहंकार विलीन हो जाता है, तो जीव परमात्माका उस समाधिकी अवस्थामें सानिध्य प्राप्त करता है। वह एक प्रकारसे परमात्मासे एक होता है। अज्ञान और अहंकार जो जीव को छुद्रताके घेरे में रखते हैं, वहाँ नहीं होते। उस समय वह परमात्मा के पूर्ण सच्चिदानन्द स्वरूपका

अनुभव करता है। सामान्यतः उस स्थिति में शरीर शवके समान निश्चेष्ट होता है। किन्तु यदि किसी कामनाको लेकर वह एकाग्रता प्राप्त की गई है, तो वह कामना अहंकारको पूर्णतः लीन नहीं होने देती। अहंकार यद्यपि चंचल और बाधक नहीं हो पाता, पर चित्तको वह एक विशेष अधिकारमें रखता है। चित्त उसके अनुसार उस समय, अपनी काम्य-शक्ति ईश्वरीय शक्तिसे प्राप्त करता है।

उदाहरण के लिये यों समझना होगा कि एक व्यक्ति समुद्र-तटपर बिना पात्रके जाता है और समुद्रमें कूदकर उसके जलमें मग्न हो जाता है। दूसरा एक बर्तन ले जाता है और उसमें कुछ जल भर लेता है। पहला पूरे समुद्रका रसास्वादकर लेगा, पर लौटेगा रिक्त। दूसरा केवल पात्रभर जल लेकर लौटेगा। उसे समुद्रका पूर्ण स्वरूप अनुभूत न होगा। कामना एक पात्र है। वह चित्तको एक अधिकारमें रखती है। कामनासे एकाग्र होनेवाला व्यक्ति, उस परमात्मा सिन्धुके समीप जाकर भी, अपने अधिकार के अनुसार उससे शक्ति पावेगा। वह पूर्णतः अनुभवमें एक नहीं हो सकता। किन्तु एकाग्रतासे उत्थित होनेपर वह उस प्राप्त अनुभवको व्यक्तकर सकेगा। क्योंकि कामनाके कारण चित्तने उसे ग्रहणकर लिया है। कामना रहित व्यक्तिका अहंकार और चित्त वहाँ रहता नहीं। वह उस नित्य-तत्वसे एक हो जाता है। उसे कोई प्रतिबन्धक नहीं रहता। पर उत्थानमें वह वहाँसे कुछ लाता नहीं। चित्त तो था नहीं - लाये कौन ?

ऋषियोंने या ब्रह्माने एक विशेष उद्देश्य से एकाग्रता प्राप्त की। समाधि की स्थितिमें उन्हें उस उद्देश्यकी प्राप्ति हुई। उस एकाग्रता में उन्होंने जो पाया, वह ईश्वरीय देन है। अहंकार कर्त्ता रूपसे वहाँ था नहीं। हम उसे उनका कर्म नहीं कह सकते। समाधिमें जो तत्व प्राप्त होता है, यह उसका दान है। वह ईश्वर है, अतः वेद ईश्वर प्रदत्त हैं।

संहिता भाग और ब्राह्मण तथा उपनिषद में ईश्वर प्रदत्त होनेकी दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं। एक ब्रह्माके द्वारा व्यक्त हुआ और दूसरेका ऋषियोंने साक्षात् किया। तीनों भाग उसी चिन्मय अवस्था से प्राप्त किये गये हैं और इसीलिये तीनोंको सम्मिलित रूपसे वेद कहा जाता है।

वेदार्थ सम्बन्धमें दो बातें कहनी हैं। वेद कुछ मनुष्यकी रचना नहीं है। मनुष्यकी रचना हो तो व्याकरण या निरुक्तसे उसका अर्थ करना सम्भव भी है। वेद समाधिकी चिन्मय स्थितिमें प्राप्त हुए हैं। वेदोंको समझने के लिये उसी अवस्थाको प्राप्त करना होगा। वहीं उनका वास्तविक स्वरूप ज्ञात हो सकता है।

जहाँ तक संहिता भागका सम्बन्ध है, निरुक्तसे उसका अर्थ करना एक भ्रान्त पद्धति है। यदि निरुक्तसे उनका अर्थ हो सकता तो ऋषि समाधि में उनका साक्षात् करने न बैठते। इसी प्रकारके अर्थ के कारण लोग वेदोंको ग्राम्यगीत कहने के भ्रममें पड़े हैं। संहिता भाग उपासना-काण्ड है और उपासना - ईश्वर साक्षात् से वह समझमें आवेगा। समाधिकी स्थिति में वे शब्द ब्रह्मा के मुखसे प्रकट हुए, अतः उनपर निरुक्तका उपयोग कोई अर्थ नहीं रखता। उपनिषद और ब्राह्मणोंका अर्थ निरुक्तसे हो सकता है। इसलिये हो सकता है कि एक तो वह कर्मको या ज्ञानको व्यक्त करते हैं, अतः स्पष्टार्थमें उनकी सार्थकता है। "परोक्ष प्रिय हि देवा:", यह नियम उपासना काण्डमें ही उपयुक्त है। दूसरे समाधिमें उनका साक्षात् करके ऋषियोंने उत्थित अवस्था में अपने शब्दों में उन्हें व्यक्त किया है। उनकी शैली निरुक्तके अनुकूल होगी।

संहिता के अर्थ जानने के दो उपाय हैं। पहला ऋषियोंकी भाँति समाधि में और दूसरा उन ऋषियोंके बताये अनुसार। वेद मन्त्रोंके साथ ऋषिका नाम इसीलिये दिया गया है कि उस ऋषिके ग्रन्थोंसे उस मन्त्रका अर्थ स्पष्ट होगा।

***

# वेद पुराण

प्रारम्भमें वेद एक ही था। ब्रह्माजीके चारों मुखों से यद्यपि संहिता भाग के विभाग हो गये थे, पर उनके मानस पुत्रोंने उसे पूर्णतः स्मरण कर लिया था। उन मानसपुत्रोंने अपने शिष्योंको एक-एक भाग उसका पढ़ाया। शिष्योंने जो पढ़ा, उनका भी एक-एक भाग अपने शिष्योंको पढ़ाया। इस प्रकार वेदकी ग्यारह सहस्त्रसे भी अधिक शाखाएँ हो गयीं। ऋषियोंने मन्त्रको लेकर एकाग्रता प्राप्त की और उपनिषद एवं ब्राह्मणोंका आविर्भाव हुआ। एक शिष्यको कम-से-कम एक संहिता-शाखा, उसका एक उपनिषद और एक ब्राह्मणको पढ़ना पड़ता था।

वेदोंकी शाखाएँ यद्यपि बहुत हो गई थीं, पर उनका कोई ठीक विभाजन नहीं था। एक शिष्य एक शाखा ऋग्वेदकी, तो दूसरी अथर्व की पढ़ता था। इस अव्यवस्था से श्रम और समयका बहुत व्यय होने लगा। भगवान् व्यासने वेदकी सब शाखाओंको एकत्र किया। संहिता भागको उन्होंने चार भाग में विभक्त कर दिया। जो भाग प्रार्थना सम्बन्धी था वह 'ऋक्', जो गायन सम्बन्धी था वह 'साम', जो यज्ञ सम्बन्धी था वह 'यजुः' और जो पदार्थ सम्बन्धी था वह 'अथर्व' बना। एक प्रकारकी शाखाओंको एक नाम दे दिया गया। एक शाखाका एक ब्राह्मण और एक उपनिषद था ही, वह उसी विभागके साथ विभक्त हो गया। जिस वेदकी शाखा, उसीका उपनिषद या ब्राह्मण।

इस विभाजन के कारण कृष्ण द्वैपायनजीका नाम वेदव्यास पड़ा। इस विभाजन से यह लाभ हुआ कि सबको सब वेदोंकी एक-एक दो-दो शाखा पढ़कर अधूरा ज्ञान नहीं मिलता। किसी एक वेदको पढ़कर उस विषय में पारंगत होने का अवसर हो गया, ब्राह्मणोंने इससे लाभ उठाया। द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी आदि उपाधियाँ यह सूचित करती हैं कि उनके पूर्वजोंने कितने वेदोंका अध्ययन किया था।

ऋषियोंने देखा कि मन्त्रों में ज्ञानके सूत्र हैं। निरुक्त या व्याकरणसे उनकी व्याख्या होती नहीं। प्रत्येक व्यक्ति समाधिके द्वारा उनका ज्ञान प्राप्त करे यह भी असम्भव है। उपनिषद और ब्राह्मणोंसे भी पूर्ण व्याख्या नहीं होती। उपनिषद तो ज्ञान काण्ड हैं, उनमें केवल परमार्थ विषय है। ब्राह्मण कर्म-काण्ड हैं, उनमें केवल कर्मकी पद्धति है। उपासना काण्डमें, जो भौतिक जगतके समस्त ज्ञान सूत्र हैं, वे फिर भी अप्राप्त ही रह गये। जिस ऋषिने जिस मन्त्रका अर्थ-दर्शन किया था उसने उसकी व्याख्या की। इसी व्याख्याके फलस्वरूप दर्शन, स्मृति, गुह्यसूत्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद, ग्रान्धर्ववेद, व्याकरण, नाट्यशास्त्र प्रभृतिका प्राकट्य हुआ।

संहिता भागके मन्त्रोंमें पूर्णज्ञान निहित था। पर उसकी प्राप्तिके लिये उस एकाग्रता में जानेकी आवश्यकता थी जहाँ उसका स्वरूप है। सब ऐसा नहीं कर सकते। जिन ऋषियोंने उनका दर्शन किया, उन्होंने उसे अपने ग्रन्थोंमें व्यक्त किया। मन्त्रोंका अर्थ उन्हीं ऋषियोंके ग्रन्थसे जाना जा सकता है। निरूक्त या व्याकरणकी खींच-तान किसी मन्त्र से न तो पूरे वैद्यक का ज्ञान हमें दे सकती और न दूसरी किसी विद्या का। वह ज्ञान मन्त्रों में है अवश्य, किन्तु उसे पानेके लिये एकाग्रता में मनको लय करना होगा।

जब हम किसी अनुभवकी व्याख्या करते हैं तो ज्योंका त्यों नहीं कर पाते। सुननेवाला भी उसे अपने ढंगसे ग्रहण करता है। ऋषियोंने अपने अनुभवकी, जो मन्त्रोंपर एकाग्र होने से उन्हें हुआ था, अपने ग्रन्थोंमें व्याख्या की। वह व्याख्या उसकी छापसे पृथक नहीं हो सकती। इस कारण स्मृति या ऐसे समान विषयके ग्रन्थोंमें कुछ अन्तर पड़ गया। अन्तर इसलिये और भी बढ़ गया कि उनके शिष्य-प्रशिष्योंने उन ग्रन्थोंकी फिर अपने ढंगसे व्याख्या की। दूसरे, उन दिनों पुस्तक छपती नहीं थीं, शिष्यको पढ़ाते थे। जिसका शिष्य जैसा अधिकारी हुआ, उस ढंगसे उसे पढ़ाना पड़ा। प्रधानतया अन्तरका यही कारण है।

अपने-अपने अनुभवकी व्याख्या और शिष्योंके द्वारा उसका विस्तार होते होते यह परम्परा बहुत विस्तृत हो गयी। वाङ्मय इतना बढ़ गया कि कोई

उसका पारंगत नहीं हो सकता था। भौतिक ज्ञानको प्रबलता देनी नहीं थी और आध्यात्मिक ज्ञान व्याख्याओंके कारण दूर पड़ता जाता था। उपासना-काण्डका रहस्य और दूर हो गया था। भगवान् व्यासने देखा कि अभी तो लोग समर्थ हैं, वे इतनी विपुल व्याख्यामें भी उपासनाका तत्व प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु आगे यदि यही क्रम रहा तो ऐसा युग आनेवाला है जिसमें लोग इन गहन विषयोंको समझ भी नहीं सकेंगे। वे केवल भौतिक ज्ञानको अपना लेंगे और अध्यात्म उनसे दूर हो जायगा। इस जटिलताको दूर करनेका उन्होंने निश्चय किया।

वेदोंका विभाग करते समय सब व्याख्याएं और मूल उनके दृष्टि-पथमें आ चुके थे। सबको लेकर मूल वैदिक भागपर एक ऐसी व्याख्या करना आवश्यक था जो मनुष्यको उसकी प्रवृत्तिके अनुसार अध्यात्म-पथमें उच्च बनावे और दूसरी व्याख्याओं के जाल में पड़े बिना भी वह कमसे कम अपने लिये उपयोगी कर्म-काण्ड और ज्ञान भी उसीमें पा जावे।

वेद व्यासजीने मनुष्य प्रवृत्तिके प्रधानतया अठारह भाग किये। उन्होंने देखा कि सत्व, रज और तम ये तीन प्रधान हैं और इनके भी और छः छः भाग होते हैं। फिर तो परम्परा बहुत बढ़ जाती है। अठारह पुराणोंका उन्होंने निर्माण किया। वे वेदके एक-एक प्रकारके भाष्य हैं। वेदोंका विभाग उन्होंने क्रियाकी दृष्टिसे नहीं किया था। पुराणोंकी व्याख्या करते समय उन्होंने गुणपर ध्यान रखा। जैसे वेदोंमें तामसिक पुरुषोंको सुधारने एवं उन्नत करनेके लिये जो ज्ञान, कर्म, उपासना थी वह एक स्थानपर उन्होंने संग्रह किया। सात्विक व्यक्तियोंके लिये जो भाग था उसे दूसरे स्थानपर। इस नये दृष्टिकोणसे उन्होंने वेदोंके अठारह भाग मानकर उनका भाष्य किया।

क्रिया के अनुसार वेद विभाजनको दृष्टिमें न लेकर, गुणानुरूप व्याख्या करने से, एक पुराणमें कई ब्राह्मणों कई उपनिषदों और कई संहिताओंके कुछ भाग आये। एक ही संहिताकी व्याख्या कई पुराणोंमें बँट गयी क्योंकि विभाजनकी पद्धति दूसरी स्वीकार करली गयी थी। व्याख्याक्रममें यह ध्यान रखा गया था कि एक अधिकारीको अपने लिये सब सामान्य ज्ञान अपने ही ग्रन्थमें मिल जावे, अतः प्रत्येक पुराण में प्रत्येक भूगोल, ज्योतिष, गणित

प्रभृतिका सामान्य ज्ञान, सूत्र रूपसे रखा गया। प्रधान उद्देश्य था उसकी आध्यात्मिक उन्नति, अतः उसके अधिकारके अनुसार दर्शन, कर्मकाण्ड और उपासनाको उसमें विस्तृत किया गया। उसे समझाया गया।

कराल काल चक्रके प्रभावसे वेदका संहिता भाग प्रायः सब लुप्त हो गया, केवल प्रत्येक वेदकी एक-दो शाखा प्राप्य हैं। उपनिषद और ब्राह्मण भी गिने-चुने बच रहे। ऋषियोंके वे व्याख्या ग्रन्थ भी बहुत कम बचे। तीन चौथाईसे भी अधिक वैदिक साहित्य नष्ट हो गया। अब जो बचा है, उसी में पुराणोंकी सब बातोंको हम ढूँढ़ना चाहते हैं। सम्पूर्ण वेदोंका गुणके अनुसार विभाजन मानकर जो अठारह भाग में व्याख्या की गयी, उसे एक शतांश में भला कैसे पाया जा सकता है। हाँ, जितना वैदिक भाग अवशेष है, वह सबका सब पुराणोंमें मिल जाता है।

पुराणोंमें कोई नवीन बात नहीं कही गयी। अवश्य अधिकारीके अनुरूप वेदोंकी उनमें व्याख्या की गयी। जो भी कहा गया, वह वेदोंकी वस्तु है। कहने की शैली पृथक है। अधिकारी जिससे अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सके, इसे ध्यानमें रखकर किसी भागको बहुत स्पष्ट और विस्तृत किया गया और किसीको अत्यन्त संक्षिप्त, किसीको प्रधानता दी गयी और किसीका वर्णन गौण रूपसे हुआ। आज जबकि सब वेद प्राप्य नहीं, वेदोंका पूर्ण ज्ञान हम पुराणोंसे पा सकते हैं।

वेदोंकी व्याख्या पुराणोंमें एक पृथक शैली से हुई। यदि हमें पुराणोंसे वैदिक ज्ञान प्राप्त करना हो तो पुराणोंकी शैलीको समझना होगा। सबसे पहले किसी पुराण के जिस अंशको समझना होगा, उसका निर्णय करना पड़ेगा कि वह किस कोटिके अधिकारी के लिये है। इस भाग में संक्षिप्त एवं गौण रूपसे कही बातों को प्रकाशमें लाना होगा। जो भाग बहुत विस्तृत है, उसके विस्तारका आधार अन्वेषण करना पड़ेगा।

पुराणोंकी त्रिधा व्याख्या होती है। प्रत्येक पौराणिक वाक्यका आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीन प्रकारका अर्थ होता है। योगकी विभिन्न प्रक्रिया आधिदैविक अर्थ में और गूढ़ अध्यात्मज्ञान आध्यात्मिक अर्थ में

निहित रहता है। "पुराण रहस्य" खण्ड में हम कुछ प्रधान कथाओंका आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थ दे रहे हैं। अधिकारी के अनुरूप वेदोंका भाष्य करते हुए भी, वेदोंके महान् ज्ञानको इस रीति से, भगवान व्यासने पुराणों में निहित कर दिया है।

जहाँ तक वैदिक आध्यात्मिक और आधिदैविक ज्ञानका सम्बन्ध है, पुराणोंमें वह कहीं प्रत्यक्ष और कहीं परोक्ष वर्णित हुआ। वैदिक आधिभौतिक ज्ञान प्रत्यक्षतया पुराणोंमें विस्तृत हो गया। अधिकारीके अनुरूप उसकी स्वरूप व्याख्या हुई। धर्मशास्त्र तो पुराणोंका आवश्यक विषय है। ज्योतिष, वैद्यक, प्राणिशास्त्र, रसायनशास्त्र प्रभृति सब कहीं विस्तृत और कहीं सूत्ररूपसे उनमें हैं।

आज सबसे बड़ा अभाव है समझने का। वेदोंके अप्राप्य हो जानेपर भी हमारी इतनी हानि न होती यदि हम पुराणोंकी शैली ठीक समझ पाते। समस्त वेदोंका भाष्य इन अठारह पुराणोंके द्वारा सौभाग्यसे अभी प्राप्य है। रोना है तो इस बातका कि हम उसे समझ नहीं पाते और समझने का प्रयत्न भी नहीं करते। हमने ज्ञान भण्डार के पास रहते भी उसकी उपेक्षा कर दी है।

पुराणोंमें इतिहास है, उनमें देवता और राजाओंकी कथाएँ हैं। इतिहास किसी ग्रन्थका भाष्य नहीं हो सकता, लेकिन आज भी ऐसे दो मत हैं, जिनमें एक वेदोंमें इतिहास मानता है और दूसरा नहीं मानता। जो लोग वेदों में इतिहास नहीं मानते, वे वेदों में आयी कथाओंका केवल आधिदैविक या आध्यात्मिक अर्थ लेते हैं।

पुराणोंकी अधिकांश कथाओंका मूलरूप इन प्राप्य वैदिक शाखाओं में मिलता है। पूरी वैदिक शाखाएँ प्राप्त होतीं तो सम्भवतः सब कथाएँ मिल जातीं। देवासुर संग्राम, भागवतके श्रीकृष्ण चरितका अधिकाँश भाग और रामायणका बहुत अंग, शिवपुराणकी कुछ कथाएँ ये सब, यदि वैदिक शब्दों का खींचातानी का अर्थ न करें, तो वेदोंमें हैं। संहिता भागके अतिरिक्त उपनिषद और ब्राह्मण तो कथाओंका आधार लेते ही हैं।

वेदों में इतिहास न माननेका आग्रह इस आधार पर होता है कि वेद नित्य हैं। इतिहास मान लेनेसे उनकी नित्यता नहीं रह जायगी। कथाओं के अर्थकी समस्त खींचातानी इसी आधारपर होती है। इसके मूल में यह भ्रम है कि इतिहास नित्य नहीं हो सकता। भ्रम और दुराग्रह की तो कोई दवा नहीं, पर सच्ची बात यह है कि इतिहास नित्य हो सकता है और वेदों में इतिहास है। पुराणोंमें उसी इतिहासका भाष्य हुआ।

वेद ईश्वरीय ज्ञान है। ईश्वरको भावी एवं भूत इतिहासका पता होना चाहिये। यदि ईश्वरको इतिहासका पता नहीं तो वह सर्वज्ञ नहीं माना जा सकता। यदि ईश्वरको इतिहासका ज्ञान है, तो ईश्वरीय ज्ञान, वेदमें इतिहास आ जावे, यह असम्भव नहीं। इतिहासकी आवृत्ति होती है, प्रलयके पश्चात दूसरी सृष्टिमें नया इतिहास नहीं बनता। क्योंकि इतिहास भी ईश्वरीय ज्ञान है और ईश्वरका ज्ञान ईश्वरकी भाँति नित्य होना चाहिये।

पुराणोंने स्पष्ट कहा "यथापूर्वमकल्पयत्" ब्रह्माने समाधि में देखा कि पहली सृष्टि कैसी थी, उसीके अनुसार पुनः निर्माण किया। "सृष्टि" एवं "त्रिपाद्-विभूति" के प्रकरण में स्पष्ट कर दिया गया है कि पुनः सृष्टि पहली सृष्टिके अनुरूप होती है। कुछ बनता नहीं, नित्य लोकके चरितोंका अवतरण मात्र सृष्टि है। लोक नित्य तो हैं ही, उनका अवतरण उन्हींके अनुसार होगा, अत: वह भी एक ही प्रकारका होता है।

सृष्टि यदि स्वतन्त्र निर्मित होती तो इतिहास नवीन बनता। सृष्टि होती है किसी नित्य लोकके सानिध्यसे, उस लोकके अनुरूप। अतः इतिहास केवल नित्य लोकोंकी आवृत्ति मात्र है। लोक नित्य हैं, अतः उनकी लीलाएँ भी नित्य हैं। लोकों में परस्पर कुछ भेद होने पर भी बहुत कुछ साम्य है। सृष्टिके क्रम में भेद अवश्य कुछ होता है, किन्तु और सारा इतिहास उस साम्यसे ओत-प्रोत रहता है।

वेदों में वह इतिहास आया जो प्रत्येक कल्पमें नित्य रहता है। पुराणोंने उसका भाष्य किया। प्रत्येक कल्प में जो कुछ विशेषता होती है उसके साथ पृथक-पृथक उनका वर्णन किया। नित्यलोकके अधिष्ठाताके अनुसार सृष्टिमें

प्रधान-अप्रधानका कुछ अन्तर और कथाओंमें थोड़ा आगे-पीछेका भेद हो जाता है। वेद नित्य हैं, अतः उनमें इतिहासका नित्यरूप आया। आगे-पीछेका भेद तथा प्रधानता प्रभृति, भाष्य करते हुए पुराणोंमें स्पष्ट हो गयी। अनेक कल्पोंकी कथाओंका भेद दिखलानेके कारण इतिहास अगम्य हो गया। अधिकारोंके अनुरूप जो इतिहास रहा, वह चाहे जिस कल्पकी सृष्टि मानलें, किन्तु वर्तमान कल्पका इतिहास कोई ढूँढ़ना चाहे तो पृथक करना सरल नहीं। व्यासजीने इस कठिनाईका अनुभव किया और केवल इतिहासकी दृष्टिसे महाभारतकी रचना पुराणोंसे पृथक की।

इतिहासका नित्यत्व समझनेके लिये ज्योतिष और मनोविज्ञान अत्यन्त स्पष्ट हैं। ज्योतिषी ग्रहोंकी स्थितिके अनुसार युद्ध, तेजी, मन्दी, बच्चे के कर्म, रङ्ग, रोग, मृत्यु प्रभृति बतलाता है। ज्योतिष के अनुसार समस्त बातोंका ज्ञान होता है। यह बातें ज्योतिषी ग्रहोंके अनुसार बतलाता है। ग्रह अनन्त तो है नहीं, कुछ गिनेचुने हैं। आज वे जिस स्थिति में हैं, कभी न कभी अवश्य पुनः उसी स्थितिमें आवेंगे। ग्रहोंके अनुसार संसारकी वही स्थिति उस समय भी होगी जो आज है।

हम पहले अध्यायों में बता चुके हैं कि मन कल्पना या भावना करता नहीं। वह जिस मानस स्तरमें होता है उसकी भावनाको ग्रहण कर लेता है। मानस-स्तर जितना होगा, उससे अधिक भावना मनमें नहीं आ सकती। हमारे कार्य पहले मनमें आते हैं और तब कर्मरूपमें। जीवका पुनर्जन्म कर्मके अनुसार होता है। इस प्रकार कर्मकी भी एक निश्चित सीमा है। इतिहासकी आवृत्तिका यह प्रधान कारण है।

प्रकृतिमें हम नित्य इतिहासकी आवृत्ति देखते हैं। पानीसे वाष्प और फिर पानी, दिन, सन्ध्या, रात्रि, प्रातः, फिर दिन। बालक, युवा, वृद्ध, मृत्यु, जन्म - इस प्रकार लगभग सभी क्रियाओंका चक्र है। साम्राज्यों के उत्थान-पतनमें लगभग एक प्रकारकी मिलती-जुलती घटनाएं होती हैं। जैसे एक जीवनका एक इतिहास है, वैसे ही एक सृष्टिका भी। प्रलय सृष्टिकी मृत्यु है, पुनः जीवन में इतिहासकी उसमें वही पहली आवृत्ति होती है।

वेदों में इतिहास मानने से वे अनित्य नहीं होते। पुराणों में वेदों का इतिहास भाष्यके रूप में आया है। आज जब वेद पूरे प्राप्य नहीं, जो प्राप्य हैं इनके अर्थ जाननेका साधन नहीं, क्योंकि समाधिमें उनका साक्षात करने की योग्यता नहीं रही और साक्षात करने वाले ऋषियोंके ग्रन्थ भी अप्राप्य हो गये, ऐसी दशा में वैदिक ज्ञान केवल पुराणोंसे प्राप्त हो सकता है।

***

# वर्ण व्यवस्था

**"चातुर्वर्ण्यं मयासृष्टं गुण कर्म विभागशः ।"**

यह श्रीभगवान् का वाक्य है। यह वाक्य यह सूचित करता है कि वर्ण व्यवस्था मानवकृत न होकर ईश्वरकृत है। ईश्वरकृत नियम किसी एक काल और एक प्राणीके लिये नहीं होना चाहिये। वह देश-काल और आकृतिके बन्धनों से परे, समान रूपसे विभु होना चाहिये। यदि वर्णव्यवस्था है तो वह भी सबके लिये होगी।

शास्त्रों में प्रत्येक वर्णका कर्म और स्वभाव बतलाया गया है। भगवान् ने भी गुण और कर्म अनुसार वर्ण-व्यवस्था बतलायी है। कर्मकी दृष्टिसे देखिये, प्रत्येक देश और समाज में चार प्रकारके कर्म करने वाले होते हैं।

बिना चारोंके किसी भी समाजका अस्तित्व नहीं रह सकता। विद्वान् अन्वेषक - आप उन्हें विशेषज्ञ, वैज्ञानिक, अध्यापक या और जो चाहे कह लीजिये। रक्षक - सैनिक, पुलिस, स्वयंसेवक प्रभृति अनेक भेद चाहे भले हों। अर्थोपार्जन करनेवाले - कृषक, व्यापारी प्रभृति सब। चौथे सेवक - मजदूर, भंगी, धोबी प्रभृति अनेक भेदों में। इस प्रकार किसी-न-किसी रूपमें वर्ण व्यवस्था है प्रत्येक समाज में। यह दूसरी बात कि वहाँ वर्णसंकर हो गया है।

गुणकी दृष्टिसे नम्र, स्पष्टवादी-उग्र, मधुर भाषी, स्वार्थी और हर प्रकार से स्वार्थ-साधन करनेवाला तथा व्यक्तित्वहीन, ये चार भाग किये जाते हैं। मनुष्य तो क्या, पशुओंमें, जड़ पत्थरों और वृक्षोंमें भी ये भाग मिलेंगे। उदाहरण के लिये कुछ पशु और पक्षी तथा वृक्ष ले लें। गाय यह नम्र पशु है, मारो तो भी दूध देगी और प्यार करो तो भी। सिंह कठोर व्यक्तित्वका, मर जायगा पर पीछे नहीं भागेगा। मृग चाहे जितना प्यार करो, कुअवसर में तो पीछे लगा डोलेगा और समय मिला - भाग खड़ा होगा, फिर नहीं लौटेगा। कुत्ता, जो अच्छा भोजन

देने लगे उसीका, डण्डा मारो तो भी फिर आवेगा। इसी प्रकार पक्षियोंमें मैना, श्यामा, तोता और तीतर हैं। वृक्षोंमें पीपल, बबूल, पनस और ढाक हैं, कहना नहीं होगा कि संकर (मिश्रित वर्णोंका सब कहीं बाहुल्य है।)

एक वस्तु या प्राणीमें जिस प्रकारके गुणों की विशेषता हो, उसे उसी नामसे सम्बोधन किया जा सकता है। वैसे तो सृष्टिमें कोई एक पदार्थ पूर्णतः पृथक मिलता नहीं। सबमें सबके गुण होते हैं। हम जिसे जल कहते हैं, उसमें पृथ्वी और उसका गुण गन्ध न हो, ऐसी बात नहीं। जलतत्वकी उसमें प्रधानता होती है, दूसरे तत्व अप्रधान रूपसे रहते हैं। इसी प्रकार वर्ण में भी प्रधानता मात्र अभीष्ट है। गुण तो सबके सबमें कुछ-न-कुछ रहते हैं। ब्राह्मणमें शूद्रके और शूद्रमें ब्राह्मण के भी। जिसमें जो गुण अधिक हो, वह उस वर्ण का। एकसे अधिक गुण प्रधान होनेपर या कई वर्णोंके गुण समान प्राय होनेपर वह वर्णसंकर कहा जाता है।

समयानुसार एक ही व्यक्तिमें कभी कोई और कभी कोई गुण प्रधान हो जाया करता है। कभी ब्राह्मण में शूद्रत्व प्रधान हो उठता है और कभी शूद्र में ब्राह्मणत्व। विशेष अवस्थाओंको छोड़कर सामान्यतया जिसमें जिस वर्णका गुण सदा प्रधान रहता हो, उसे उसी वर्ण के नामसे सम्बोधन करना चाहिये।

मनुष्येतर समस्त प्राणी-वर्ग भोग-योनिके हैं। ये कर्म करनेमें स्वतन्त्र नहीं, अत: उनमें यदि वर्ण देखना हो तो केवल गुणकी दृष्टिसे देखना होगा। गुण और कर्म दोनोंका विभाग मानवमें ही हो सकता है। क्योंकि मानव कर्म करने में स्वतन्त्र है। इतर प्राणियों में तो वही कर्म होगा जो उनका गुण-स्वभाव है। अतः वहाँ गुण और कर्म अभिन्न रूपसे रहते हैं।

मानव में गुण और कर्मका विभाग होनेपर भी कभी विरोध नहीं आ सकता। यह नहीं हो सकता कि विद्वान कोई और नम्र कोई। नम्रता और समदर्शिता - विद्या तथा ज्ञानसे ही आती हैं। पठन-पाठन विशेषकर अध्यापनका कर्म नम्र प्रकृतिका पुरुष ही कर सकता है। कठोर प्रकृति या स्वार्थी अध्यापनके उपयुक्त नहीं। सैनिकको कठोर स्वभावका होना ही चाहिये। सिद्धान्त और मानके सन्मुख जो प्राण, शरीर और स्वार्थको तुच्छ समझे वही सच्चा सैनिक

है, रक्षा वही कर सकता है। समदर्शी तो कहेगा शत्रु भी तो अपने हैं, और स्वार्थी पहले अपना स्वार्थ देखेगा। अर्थोपार्जन व्यवहार कुशल लोगोंका कार्य है। कठोर प्रकृति तो वहाँ असफल रहेगा और नितान्त नम्र तथा विश्वासीको धूर्त लोग ठग लेंगे। वह ऐसी प्रकृतिके मनुष्यका कार्य है जो अवसर पड़ने पर दो बातें सह ले, समयपर अड़ जावे। जो समयके अनुसार, लाभपर दृष्टि रखकर व्यवहार कर सके। सेवकका कार्य ऐसा है कि उसे पूर्णतः वही ठीक प्रकार चला सकता है जिसकी यह प्रकृति हो "स्वामी जो कहे वही ठीक।" जो अपने सिद्धान्त रखता है, अपने मानका ध्यान रखता है, वह सेवा नहीं कर सकता। इसीसे सेवा या तो व्यक्तित्वहीन व्यक्तियोंका कार्य है या अहंकार शून्य योगियों का। बीचकी स्थितिका व्यक्ति सच्चा सेवक नहीं बन सकता।

हमने मानव में आकर देखा कि वर्ण व्यवस्थाका उचित रूप क्या है। ऋषियोंने सोचा "जिसका जो स्वभाव है, उसके अनुसार कार्य मिलने पर वह उसमें अधिक सफल होगा। विपरीत कार्य मिलने पर जीवन असफलताका जीवन बन जायगा। स्वभावानुकूल कार्य पाकर वह अपना विकास भी कर सकेगा और समाजकी उच्च-से-उच्च तथा अधिक-से-अधिक सेवा भी।" फलतः जिसका जो स्वभाव था, उसके अनुसार उसे कार्य करनेका विधान किया गया और उस वर्ग को उसी नाम से सम्बोधन किया गया। यही हमारी वर्ण-व्यवस्थाका मूलरूप है। वर्णोंके स्वाभाविक गुण तो ईश्वरीय देन हैं, अतः वर्णव्यवस्था ईश्वर कृत मानने में कोई आपत्ति नहीं।

दूसरे देशों में भी गुणानुसार तो चार प्रकार के ही मनुष्य होते हैं। किन्तु वहाँ के गुण अनुसार स्वाभाविक प्रवृत्ति देखकर लोगोंको कार्यमें नहीं लगाया जा सका। एक ही व्यक्तिको परिस्थिति के अनुसार अन्वेषण सेवाका कार्य, व्यापार और सेवा सब करनी पड़ती है। फलतः वहाँ वर्णोंका मिश्रण हो गया। इस वर्णसंकरताको आज लोग बुरा नहीं समझते, पर इतना पाश्चात्य भी मानते हैं कि कोई व्यक्ति एक ही कार्य में लगे और उधर उसकी प्रवृत्ति भी हो तो वह अधिक सफल होता है। वैज्ञानिक वही सफल होगा जो दूसरे झंझटोंको छोड़कर केवल अन्वेषण करे। यही बात दूसरे कार्योंके लिये भी है। वर्ण संकरता या सब ओर हाथ बँटानेका फल यह होता है कि मनुष्य किसी विषय में पूर्ण अनुभव

नहीं कर पाता। वह अपने जीवनको महान नहीं बना पाता। एक प्रकार से जीवन व्यर्थ सा जाता है।

वर्णके अनुसार कार्य किये जावें, इस विषयपर शास्त्रोंने बहुत अधिक जोर दिया है। आपत्ति काल में प्राण रक्षण के लिये तो भले कोई किसी दूसरे वर्णके कार्यको अंगीकार कर ले, किन्तु साधारणतया यह कार्य हेय समझा जाता था। गीतामें भगवान् ने यहाँ तक कहा - "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावह।"

एक ही धर्माचरणके लिये वर्णोंकी प्रकृति के अनुसार मर्यादा, शास्त्रों ने बतायी है। उदाहरणके लिये सत्य ले लीजिये। सत्यका उपयोग मनुने कहा है-

**सत्यं वाच्यं प्रियं वाच्यं, न वाच्यं सत्यमप्रियं।**
**असत्यमप्यप्रियं वाच्यं एव, धर्म सनातनः॥**

साधारणतया सबके लिये यह आज्ञा समझी जाती है, पर मेरे विचारसे इसमें प्रत्येक वर्ण को पृथक-पृथक आदेश है। ब्राह्मण स्वाभावतः नम्र होता है, वह सबका हितैषी होता है, प्रायः राजाओंकी नीति पहले ब्राह्मणोंकी सलाहपर निर्भर रहती थी। ऐसी दशा में ब्राह्मणको इतना कहना पर्याप्त है "सत्य बोलो।" यदि वह मुँह देखी बात कहने लगे तो अनर्थ हो जाय, क्योंकि वह धर्मका निर्णायक और मर्यादा स्थापक है। क्षत्रिय स्वाभावतः मानी होता है। वह दूसरोंकी अपेक्षा करता नहीं। उससे झूठ बोलने की तो आशा करना व्यर्थ है, पर बहुत अधिक सम्भावना है कि वह अपने रूक्ष और कटु सत्य से शत्रुता मोल ले ले। वह शासक होता है, अतः व्यर्थ उससे किसी को कष्ट न पहुँचे। उसे आज्ञा दी गयी "प्रिय बोलो।" वैश्यका व्यापार स्पष्टवादी होनेपर चल नहीं सकता। अतएव उसे कहा गया "अप्रिय सत्य मत कहो।" व्यवहारिक पुरुषके लिये यही ठीक है। शूद्र सेवक है, उसका कार्य स्वामीको प्रसन्न रखना है। उसे आज्ञा है "झूठ भी प्रिय हो तो बोल सकते हो।"

वर्ण व्यवस्था ईश्वरीय है और वह मनुष्य में ही नहीं, समस्त जड़ चेतन जगत में है। वह गुण और कर्मके अनुसार व्यवस्थित की गई है। भारतीय

ऋषियोंने केवल उसका अनुभव किया और प्रकृति व्यवस्थाके अनुरूप समाजको संचालित किया है, जिसमें प्रत्येक व्यक्तिको अपनी पूर्ण शक्तिके विकासका सुअवसर प्राप्त हो सके। किसीको विपरीत परिस्थिति का सामना न करना हो।

मानव समाजमें यह व्यवस्था जन्मसे हो या गुण से ? इस प्रश्नके उत्तर में हमें केवल इतना कहना है कि यदि वर्ण व्यवस्था ठीक चली आती, तो इस प्रश्नकी आवश्यकता रहती ही नहीं। पहले युगों में यह निश्चित है वर्ण व्यवस्था जन्मसे मानी जाती थी। "जन्मना ब्राह्मणो गुरुः।" शास्त्रों में ऐसे अनेकों प्रमाण मिलते हैं। किन्तु जन्म से वह व्यवस्था होने पर भी कर्मोंसे हो जाती थी। और कर्मोंका ध्यान भी रखा जाता था।

पिता और माता की प्रकृति, विचार, आहार तथा आस-पासके संग एवं शिक्षाका प्रभाव बालकपर पड़ता है, बालककी प्रकृति इन्हीं सबोंके अनुसार होती है। इन सबसे वह जो गुण पावेगा, वैसे ही स्वभावका होगा। पहले आज जैसे धर्मच्युत लोग तो थे नहीं। माता और पिता अपने वर्ण धर्मपर दृढ़ होते थे। यह व्यवस्था थी "सवर्णा स्त्रीसे शादी सर्वोत्तम है।" पुरुष सवर्णा पत्नी से ब्याह करके अपने अनुकूल स्वभावकी पत्नी पाता था। वर्ण विहित आहारादिका पालन होता था। फलतः उनका पुत्र स्वतः उनके समान प्रकृतिका होता। पुत्रकी संगति और शिक्षाका व्यवस्थित प्रबन्ध होता था। इन सब बातोंके कारण साधारणतया पुत्र गुणतः भी पिताके वर्णका होता था।

उस समय शादी सर्वणा पत्नीके अतिरिक्त अपनेसे निम्न वर्णकी स्त्रीसे भी होती थी। यह एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है कि सन्ततिमें पिताका प्रभाव अधिक आता है। माताका स्वभाव पितासे कम विकसित होनेपर दोनोंके स्वभावका समन्वय होता है। इस प्रकारके सम्बन्धसे जो सन्तति होती थी, उसकी एक पृथक जाति जो कि पिता से निम्न और मातासे उच्च मानी जाती थी, कल्पना करनी पड़ती थी। आजकलकी सहस्त्रों जातियाँ इसी प्रकार बनी हैं। पृथक जाति बनानेका उद्देश्य ही यह था कि पुत्रके गुण पूर्णतः पिताके न मिलेंगे। इस दशामें उसे पिताकी जाति में विवाहादि सम्बन्ध करनेकी छूट देने से वर्णसंकर हो जाता।

जब कोई अपनेसे उच्च वर्ण की स्त्रीसे ब्याह कर लेता, तो पिताके निम्न संस्कार, जो सन्ततिमें अधिक आने हैं और माताके उच्च संस्कार जो सन्तति में अधिक आने हैं और माताके उच्च संस्कार जो कम आयेंगे, उनमें समन्वय होनेकी सम्भावना नहीं रहती। ऐसी सन्तति किसी विशेष गुणकी प्रधानता न रखनेवाली और चंचल तथा कदाचारी होती है। इसलिये इस प्रकार के प्रतिलोम सम्बन्धको निषिद्ध माना गया और उससे उत्पन्न सन्ततिको वर्ण बाह्य।

इन अनुलोम और प्रतिलोम सम्बन्धोंके विवरण में जाकर स्पष्ट देखते हैं कि जाति निर्णय जन्मना होता था, पर उसके गुण मिश्रित न हो जावें, वह गुण और कर्मसे भी जाति रहे, इस बातपर बहुत गम्भीर ध्यान रखा जाता था। यूरोप में अब जिस रक्त शुद्धिका आन्दोलन चला है, वह हमारी वर्ण व्यवस्थाका मूलाधार है।

रक्त शुद्धिका इतना ध्यान रखने और शादीके नियमों, आहार-व्यवहार तथा शिक्षा प्रभृत्तिको पूर्णतः नियमित कर देनेपर भी, कभी-कभी ऐसा होता था कि सन्तति माता-पिताके स्वभावसे विपरीत स्वभावकी हो जाती थी। यद्यपि ऐसा बहुत कम होता था, पर होता अवश्य था। ऐसे अवसरों पर जिस कुशलताका परिचय हिन्दू जातिने दिया है वह अन्यत्र कहीं भी पाया जाना असम्भव है।

मान लीजिये कि एक ऐसा पुत्र होता है, जो है तो क्षत्रिय माता-पिताका, पर उसके गुण तथा स्वभाव ब्राह्मणोंके जैसे हो गये। यह तो असम्भव ही है कि उसमें माता-पिताके संस्कारोंका कोई अंश न होगा। वह संस्कार आज सुप्त हैं, तो कभी जागृत भी हो सकते हैं। इस दशामें यदि उसे ब्राह्मण वर्ण में विवाहादि सम्बन्ध करनेकी आज्ञा दी जावे, तो ठीक नहीं। उसके सुप्त संस्कार, पुत्रमें प्रगट होकर वर्ण व्यवस्था में गड़बड़ी करेंगे। यदि उसे क्षत्रिय या और किसी वर्ण में अनुलोम पद्धति से सम्बन्ध करने को कहें, तो उसकी सन्ततिकी जातिका निर्णय नहीं हो सकेगा। क्योंकि जन्मना क्षत्रिय होनेपर भी वह पूर्णतः क्षत्रिय नहीं।

ऐसे अवसर पर एक ही मार्ग रह जाता है कि वह शादी न करे। ठीक यही होता भी था।

लोग विश्वामित्रको क्षत्रियसे ब्राह्मण होनेका उदाहरण देते हैं। केवल विश्वामित्र नहीं, ऐसे सैकड़ों उदाहरण शास्त्रों में हैं जहाँ क्षत्रिय कुमारोंके लिये "ब्राह्मण वभूव:" या "क्षत्रोपेता ब्राह्मणां वभूवु" शब्द आता है। ऋषभ के सन्तानों में से कवि, हरि, अन्तरिक्ष प्रभृति ब्राह्मण हो गये थे। केवल ब्राह्मण होनेका ही नहीं, शूद्र और वैश्य होनेका वर्णन भी आता है। क्षत्रियोंके अतिरिक्त दूसरे वर्णोंकी सन्तानोंका वर्ण परिवर्तन भी पाया जाता है।

पुराणोंमें जहाँ भी वर्ण परिवर्तनका वर्णन है, वहाँ देखनेसे यह स्पष्ट हो जायगा कि परिवर्तित वर्ण का व्यक्ति विवाह करके सन्तति उत्पन्न नहीं करता। नियम यह था कि यदि किसी वर्ण में कोई सन्तति हुई, जो अपने माता-पितासे भिन्न वर्ण के गुण रखती है, तो उसे उसके गुणके अनुसार जातिका मान लेते थे। पर वह व्यक्ति फिर किसी भी वर्ण की स्त्रीसे विवाह नहीं कर सकता था। इस गड़बड़ीको उसी तक सीमित कर दिया जाता था। आगे वह संकर वर्ण की सन्तति पैदा करे, यह आज्ञा नहीं होती थी। यदि वह शादी कर लेता, तो उसकी सन्तान वर्ण बाह्य समझी जाती थी।

मनुष्य के मनमें कब कौनसे संस्कार सुप्त और प्रकट रहते हैं, इसका निर्णय करना असम्भव है। केवल जागृत संस्कारों या कुछ कालके जीवन को देखकर हम उसके स्थायी गुणोंका निर्णय नहीं कर सकते। गुणके अनुसार जातिका मानना, इस प्रकार व्यवहारिक नहीं रह जाता। बच्चा उत्पन्न होते ही कोई विशेष गुण नहीं रखता, उस समय उसकी जन्मना जाति माननी होगी। कुमारावस्था तक जो बच्चा चंचल और क्रोधी था, गृहस्थ होनेपर वह शान्त और उदार हो जाय, यह असम्भव नहीं। परिस्थिति कभी भी मनुष्य में परिवर्तन कर सकती है। इस प्रकार यदि गुणसे मानी जावे, तो एक व्यक्तिके गुणोंमें जब परिवर्तन हो जायगा, उसकी जाति बदलनी पड़ेगी। बच्चेकी जातिका निर्णय तो कम-से-कम उसके युवा होनेपर हो सकेगा। स्पष्ट है कि यह कोई व्यवस्था न होकर एक उपहासास्पद चेष्टा मात्र होगी।

आज जाति में प्रायः उसके गुण नहीं मिलते और इसीलिये गुणके अन्दर जातिका प्रश्न उठाया जाता है। यद्यपि यह कटु है, पर सत्य यही है कि अब वर्ण-व्यवस्था रही नहीं। पुराणोंमें जिस वर्ण संकरताका वर्णन है, वह हो चुकी है। समस्त वर्णसंकर (मिश्रित) हो चुके। जो शेष हैं उन्हें असवर्ण विवाह पूर्ण कर देगा।

गीता में अर्जुन ने कहा - "स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः।" जब स्त्रियाँ व्यभिचारिणी हो जाती हैं तो वर्णसंकर होता है। मैं इस गन्दे प्रकरणको विस्तार नहीं दूंगा, संकरका अर्थ है मिश्रण। ब्राह्मण पत्नी को क्षत्रिय पुत्र होगा तो वह ब्राह्मण और क्षत्रियका मिश्रण होगा। उसे संकरा वर्ण कहेंगे। विदेशियोंके आक्रमणोंने तथा सामाजिक उलट-फेर ने पता नहीं कितनी बार ऐसे संकर किये। आज सम्भवतः ही कोई पूर्ण पतिव्रता स्त्री मिले। जब माताओंकी यह दशा है तो फिर वर्ण मर्यादा कैसे रहे! संकरता तो आनी चाहिये और कभी की आ चुकी।

इस परिस्थिति में भी जातिका निर्णय कैसे हो ? सीधा-सादा उत्तर है कि वह तो सदा जन्मसे होता रहा और होगा। गुणसे जाति निर्णय हो नहीं सकता - व्यावहारिक नहीं। जब एक व्यक्तिमें सभी वर्णोंके गुण आ मिले हों और परिस्थिति वश वह कभी ब्राह्मण और कभी शूद्र रहता हो, तो गुणोंका निर्णय और कठिन है। दूसरे, समाज यह नहीं मान सकता कि ब्राह्मणकी कन्या शूद्रके घर जाय, क्षत्रिय पिता अपने पुत्र से सम्बन्ध तोड़ ले। गुणसे जातिकी कल्पना तो मनोविज्ञान शून्यताकी परिचायक मात्र है।

***

# अधिकार

शास्त्रोंने प्रत्येक वर्गके अपने अधिकार बतलाये हैं। जैसे शूद्रको वेद पढ़ने या सुननेका अधिकार नहीं। उनको मन्दिरोंमें जाने देनेका निषेध है। छुआछूतका बहुत कुछ विवेचन है। हमें इस प्रकरणमें देखना है कि इस प्रकार अधिकार निर्णय ऋषियोंने किस उद्देश्य से किया था।

सबसे पहले एक बात स्पष्ट कह देना है कि जहाँ तक भी अधिकार का प्रश्न है, मनुष्यमें मनुष्यता होनी चाहिये। ऋषियोंने किसी वैयक्तिक स्वार्थ या द्वेषसे ऐसा नहीं किया था। मानापमानसे रहित जंगलके कन्दमूलपर निर्वाह करनेवाले उन तपस्वियोंका किसीसे स्वार्थ या द्वेष सम्भव नहीं। उन्होंने जो कुछ भी किया, मनुष्य जातिके लाभके लिये। किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि समस्त लाभ हम तब उठा सकते हैं, जब परिस्थिति अनुकूल हो। मनुष्यताको हमें सबसे ऊपर आदर देना होगा। लाभ की आशामें पशु बनना कोई भी धर्म नहीं सिखलाता।

क्रमश: स्पर्शास्पर्श, वैवाहिक अधिकार, वेदाध्ययन और मन्दिर प्रवेशके प्रश्नोंपर हम अधिकारकी मीमांसाका अवलोकन करेंगे। इन्हीं में दूसरे अवान्तर भेद भी आ जाते हैं। जैसे स्पर्शके भीतर सार्वजनिक कुओं से जल लेना प्रभृति।

प्रत्येक व्यक्ति के शरीरसे निरन्तर उसके विचारोंके परमाणु निकलते रहते हैं। समीप रहनेवालेपर उन परमाणुओंका प्रभाव होता है। एक साधु पुरुषके पास मौन बैठने से भी मनको शान्ति मिलती है और दुष्टके पास बैठने से मनमें गन्दे विचार आते हैं। इस प्रभावकी व्यापकताको कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। परमाणुओंके अतिरिक्त मनुष्य के शरीर से सदा एक प्रकारकी विद्युत निकलती रहती है जिसे औरा कहते हैं। मेस्मरिक या मानसिक चिकित्सक पास देकर रोगीको अपनी इसी विद्युतसे स्वस्थ करता है। यह विद्युत स्पर्शसे एक

दूसरे में प्रविष्ट होती है और इसमें पुरुषको विचार तथा अवस्थाके अनुसार प्रभावित करनेकी शक्ति होती है। कई बार ऐसा देखा गया है कि मानसिक चिकित्सक ने रोगी के रोग को तो न दूर किया, पर वह स्वयं उसी रोगसे आक्रान्त हो गया। दूसरोंके कुविचार दूर करने में भी कभी-कभी वे उसके सिर पड़ते हैं। ऐसा तब होता है जब किसी कारणसे चिकित्सकका औरा रोगीके औरा का निवारण न कर सके और स्वयं उससे दब जाय।

मनुष्य जिन वस्त्र या आभूषण, लकड़ी, मिट्टी प्रभृतिकी वस्तुओंका उपयोग करता है, निरन्तर उपयोग के कारण उस व्यक्तिके शरीरसे निकलनेवाले परमाणु उनमें अधिकांश पहुँचते रहते हैं। पाश्चात्य देशों में किसीका उपयोग में लिया वस्त्र लेकर उसपर मन एकाग्र करके, माध्यम अपना चित्र देता है और माध्यमके साथ उस वस्त्रवालेका चित्र भी आ जाता है। रेशम, ऊन, स्वर्ण ये परमाणुओंको ग्रहण नहीं करते। शास्त्रों में ऐसी बहुत-सी वस्तुओंका विवरण है जो किसीके उपयोग में आनेपर भी अपवित्र नहीं होती। वस्तुतः वे परमाणु न ग्रहण करनेवाली वस्तुएँ हैं।

स्पर्शसे केवल रोगके कीटाणु ही नहीं फैलते। विचार एवं वासनाओं का विनिमय भी होता है। अस्पृश्यताका मूल विज्ञान यही है। महर्षियोंने उन लोगोंको अस्पृश्य बताया जिनके विचारोंका विनिमय दूसरोंके लिये हानिकारक था। दूसरोंकी काममें ली वस्तुएं भी अधिकांश अस्पृश्य होती हैं। अस्पृश्यताको पाप कहनेवाले यह भूल जाते हैं कि वनस्पति भी उसे मानते हैं। मन्दारके समीप कोई बेला लगा दो तो बेला सूख जायगा। हमें यदि समाज में उच्च विचार के प्रतिभा सम्पन्न लोगोंकी आवश्यकता है, तो यह भी आवश्यक है कि हम सब प्रकार के विनिमय से बचें।

स्पर्शकी अपेक्षा दाम्पत्यसे विचार अधिक मिश्रित होते हैं। पुत्रमें तो रक्तका मिश्रण भी हो जाता है। समाजकी उन्नति के लिये यह आवश्यक है कि इस प्रकार रक्तका मिश्रण हो, जो अच्छी सन्तति उत्पन्न करे। इस आवश्यकता की पूर्ति हमें बाध्य करती है कि वैवाहिक अधिकारका निर्णय किया जाय। आज

पशुओंकी नस्ल सुधारनेका आन्दोलन बढ़ता जा रहा है। तनिक उसीपर विचार कीजिये और उससे कुछ सीख सकें तो वह भी प्रयत्न करें।

सभी जानते हैं कि अच्छी नस्ल के साँड़से संयुक्त होनेपर गाय अच्छा बछड़ा देती है। अच्छी नस्लकी गाय भी निम्न कोटिके सांड़से संयुक्त होकर निम्न कोटिका बच्चा उत्पन्न करती है। अब तो आपको समझ लेना चाहिये कि क्यों उच्च वर्णके पुरुषोंका निम्न वर्णकी स्त्रियोंसे विवाह करनेका अधिकार माना गया और क्यों निम्न वर्णके पुरुषोंका उच्च वर्ण की स्त्रियों से विवाह करनेका अधिकार नहीं माना गया।

अमेरिकन डाक्टरोंका कहना है कि "एक गाय जब एक बार निम्न कोटिके सांडसे संयुक्त हो जाती है, तो दूसरी बार उच्च कोटिके सांडसे संयुक्त होनेपर भी उसका बछड़ा उतना अच्छा नहीं होता, जितना होना चाहिये।" दूसरी बात वह जो महत्वपूर्ण बतलाते हैं वह यह है "अच्छी कोटिकी गाय यदि अपनी अच्छी नस्ल के सांडसे न मिलकर, दूसरी नस्लके सांडसे संयुक्त हो तो उस सांडके अच्छे होनेपर भी बहुधा बच्चा अच्छा नहीं उत्पन्न होता।" उपरोक्त दो बातोंसे पतिव्रत और एक वर्ण में कुलगोत्र प्रभृतिको देखनेका विधान किस आधारपर बना, यह आप समझ सकेंगे। आज जिसे वैज्ञानिक अन्वेषण कर रहे हैं, महर्षियोंने युगों पूर्व उसे प्राप्त कर लिया था और ऐसी व्यवस्था कर दी थी कि उससे हमारा मानव समाज निरन्तर लाभ उठाता रहे। कोई उनके नियमों की अवहेलना करके गढ्ढ़े में गिरना चाहे, तो गिरे।

वनस्पति विज्ञान वैवाहिक अधिकारों को समझने के लिये बहुत सीधा है। एक पुष्पका पराग, दूसरेकी मादा कणिकामें पहुँचानेसे बीज उत्पन्न होता है। पुष्पमें वायुके झोंके, भ्रमर, तितली आदि परागको कणिका तक पहुँचाते हैं। वैज्ञानिक दो विभिन्न प्रकारके फूलोंका उपरोक्त मिश्रण करके नये नये फूल बनाते हैं। भारतमें भी अब यह प्रयोग उन बड़े बगीचों में होने लगा है, जो फूल-पौधे बेचते हैं।

वनस्पति सम्मिश्रण के कुछ निश्चित सिद्धान्त हैं। सम्मिश्रण स्वजाति में सबसे उत्तम होता है। बड़े-बड़े गुलाबका पराग छोटे गुलाबकी कणिका में

पहुँचाने से छोटे पौधेका बीज पुनः बड़े फूल देगा। स्वकुल में सम्मिश्रण, पौधे की शक्ति क्षीण करता है। जैसे एक ही पौधेके पुष्पोंमें परागका विनिमय हो, तो उसके बीज अत्यन्त छोटे पुष्प उत्पन्न करेंगे। विजातीय मिश्रण प्रजनन शक्ति नष्ट कर देता है। आमकी कलमसे जो फल हुआ, उसका बीज उगेगा या नहीं और उगे भी तो उसका फल अत्यधिक लघु और कुस्वादु होगा। पौधेके विकासके लिये सजातीय मिश्रण करना चाहिये। वैज्ञानिक पौधोंकी एक जाति मानते हैं। जैसे नींबू, नारङ्गी आदि एक जातिके। बेला, मोगरा प्रभृति एक जाति के। नवीन पुष्प उत्पन्न करने के लिये वे सजातीय पौधा उत्पन्न करते हैं। विजातीय मिश्रणसे पौधा तो अच्छा होता है, पर उसको सर्वदा मिश्रण से बनाना पड़ता है, उसके बीज उसे उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते। पशुओंमें भी खच्चर ऐसा ही विजातीय मिश्रणका परिणाम है।

मनुष्यके रक्तकी चार मुख्य किस्में होती है। विदेशी रक्त परीक्षकों ने इसको स्वीकार कर लिया है। अपने यहाँ यह वर्ण व्यवस्थाका चतुर्धाकरण आरम्भसे है। स्वकुल में विवाह निषिद्ध है, स्ववर्ण में विवाह उत्तम है। अनुलोम विवाह महत्वपूर्ण तो नहीं, किन्तु विहित है। प्रतिलोम विवाह निषिद्ध है। अन्तर्जातीय विवाह सर्वथा निषिद्ध है। कितने दुःख की बात है कि वनस्पति और पशुओंके विषय में हम जिन सिद्धान्तों को मानते हैं और जिनके उपयोग पर ध्यान रखते हैं, मनुष्यके विषय में उन्हीं सिद्धान्तोंकी हम उपेक्षा करते हैं। उन्हें झूठा समझने की भूल करते हैं।

मूर्ति पूजा के सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है। जो मन्दिर, मीमांसा शास्त्रकी पद्धतिसे प्राण प्रतिष्ठादि क्रियाओंसे स्थापित हैं, उनकी पूजा में वही जा सकता है जिसके लिये शास्त्रोंने आज्ञा दे रखी है। वह पूजा कम्पन विज्ञान से सम्बन्ध रखती है और जिसके विचारोंका कम्पन प्रतिकूल पड़ने की सम्भावना हो, वह वहां नहीं जा सकता। संन्यासीको इतना पूज्य मानते हैं, पर श्राद्ध कर्मके समीप उसे फटकने भी नहीं देते।

दूसरे जो मन्दिर भावकी दृष्टिसे बने हैं, ऐसा सम्भवत: बहुत कम मिलेगा, उन मन्दिरोंमें वह व्यक्ति जा सकता है जो उनमें श्रद्धा रखता हो।

व्यक्तिगत मन्दिरोंमें तो वही जा सकेगा जिसे मन्दिरका स्वामी चाहे। सार्वजनिक भाव प्रधान मन्दिरोंके लिये उपरोक्त नियम किया जा सकता है। अस्पृश्य अपने लिये पृथक मन्दिर भी बना सकते हैं। वहाँ वे स्वेच्छा से पूजा कर सकते हैं।

मन्दिर प्रवेश, यज्ञ या ऐसे ही कुछ कार्योंका अधिकार शूद्रों तथा अन्त्यजों को न देने में ऋषियोंका जातीय गर्व कदापि नहीं माना जा सकता। यह आज्ञाएँ उन जातियोंके हितकी दृष्टिसे और कर्मको पूर्ण रखनेकी दृष्टि से दी गई हैं। केतकी पुष्प शंकरजी की पूजामें नहीं आता। इसका अर्थ यह नहीं कि वह अस्पृश्य है। उसके अणुओंका कम्पन पूजाका प्रतिगामी है। अतः उसे निषिद्ध ठहराया गया।

मनुष्य के शरीर और विचारोंपर उसके कार्योंका प्रभाव न पड़े, यह असम्भव है। कसाई दयालु कदाचित ही निकले। सैनिकमें स्वाभिमान अवश्य कुछ न कुछ रहेगा। इस कारण शूद्रादि अपने कार्योंके अनुरूप विचारसे असंस्पृष्ट नहीं माने जा सकते। उन विचारोंके कम्पन जिन कार्योंके प्रतिगामी हैं, उन कार्यों में उनका जाना निषेध है। इंग्लैण्डमें कसाईके लड़के को न्यायाधीश बननेका अधिकार नहीं। सेना में कुछ जातियों को विशेष महत्ता दी जाती है और वह वीर समझी जाती हैं। दो-चार अपवाद निकलने से नियम नहीं टूटता। जातिके व्यक्ति में कर्म और रक्तका प्रभाव अवश्य होता है।

प्रकृतिका नियम है कि कहीं भी दो विरोधी धर्म नहीं रहते। यदि किसी वस्तुको दो विरोधी अवस्थाओंमें एकके पश्चात् एक रखते रहें, तो वह नष्ट हो जायगी। एक लोहेको तप्त करके शीघ्र जल में डाल दो। दो-चार बार ऐसा करनेपर लोहे के टुकड़े-टुकड़े हो जावेंगे। वह किसी कार्य का नहीं रहेगा। एक शीशेको गर्म करके शीघ्र जल में डालें तो वह टूट जाता है।

यदि कोई पुरुष अत्यधिक गर्मी से सर्दीमें पहुँच जाय तो न्यूमोनिया हो जायगा। सर्दीसे तुरन्त गर्मी में आनेपर उसे ज्वर अवश्य आवेगा। दूसरे रोग भी हो सकते हैं। ज्वरकी तीव्र उष्णतामें सर्दी पहुँचने से जीवन असम्भव हो जाता है। दूरसे चलकर या कोई ऐसा कार्य करके आनेपर जिसमें शरीर में उष्णता

बढ़ गयी हो, जल पीना अथवा वस्त्र उतार कर खुली हवा में बैठना हानिप्रद होता है।

यहां एक सज्जनकी जूतेकी दुकान है। दिन भर वे जूतेका कारोबार करते हैं। पहले उन्हें इत्र लगानेका व्यसन था। दुकानसे निकलते ही इत्र लगाकर घूमते थे। अब उनकी घ्राण शक्ति नष्ट हो गई है। वे कुछ भी सूंघ नहीं सकते। डाक्टरोंने बताया कि लगातार चमड़े की बदबूसे निकल कर, इनकी सुगन्धि और उससे फिर उसी दुर्गन्धिमें जानेसे घ्राणेन्द्रिय पर जो दबाब पड़ा, उससे वह नष्ट हो गई।

यह बात कर्ण, नेत्र, रसना प्रभृति सबके लिये एक-सी है। कोई रात्रिको सुमधुर संगीत सुने और दिन में युद्ध में तोपोंपर कामकरे तो वह कुछ दिनमें बहरा हो जावेगा। अत्यन्त दूर और अत्यन्त समीप की वस्तुओं पर लगातार दृष्टि डाली जाय तो हानि होगी। भोजनमें कड़वे और मधुर का क्रम बना लिया जाय तो पेटके साथ रसना भी विकृत हो जायगी।

विरोधी दृश्योंका मनपर भयंकर प्रभाव पड़ता है। बहुधा व्यक्ति रोगी, पागलपन या मृत्यु तक पहुँच जाते हैं। किसी कसाईको नित्य कोई ऐसा दृश्य दिखलाया जावे जो दयापूर्ण हो और उसे पशु वध भी करना पड़े तो वह पागल हो जायगा। सुखके पश्चात दुःख अथवा दुःखके पश्चात विपुल सुख पाकर कभी-कभी तो हार्टफेल तक हो जाता है। दो विरोधी वासनाओं में मनको उलझाये रहनेवाले का मस्तिष्क भी विकृत हो जाता है। सारांश यह कि किसी भी वस्तुपर या इन्द्रियपर दो विरोधी प्रभाव, एकके पश्चात् दूसरे, हानि करते हैं। धीरे-धीरे एकको छोड़कर दूसरा भले अपना लिया जावे, किन्तु उनका लगातार परिवर्तन घातक है।

एक शूद्र जो अपने कार्यके कारण एक वातावरणमें रहता है, मन्दिर में उसे ठीक विरोधी वातावरणमें जाना पड़ेगा। उसीमें रहना तो है नहीं, फिर अपने यहाँ आवेगा। भंगी और चर्मकार बराबर सुगन्धि और दुर्गन्धिमें पड़ेंगे। दूसरोंको भी विरोधी दशा मिलेगी। इसका प्रभाव उनकी इन्द्रियों और मनपर क्या पड़ेगा?

"वर्ण व्यवस्था" प्रकरण में स्पष्ट बता दिया गया है कि किस वर्णके कार्य किस गुणकी प्रधानता लिये होते हैं। शूद्रादिके कार्य तमः प्रधान हैं। मन्दिर और यज्ञशालाका वातावरण विशुद्ध सात्विक होता है। यदि वे बार-बार मन्दिर में जावें और पुनः अपने समाज में कार्य भी करें, तो यह लगभग ऐसी बात होगी जैसे एक व्यक्ति महापुरुषोंके समीप भी कुछ देर बैठे और फिर शराबखाने में भी। दो गुणोंका संघर्ष उसके शरीरको अस्वस्थ और मनको विकृत बना देगा।

दुर्गन्धि और सुगन्धिका संघर्ष तो स्पष्ट है। मन्दिर और यज्ञकी सुगन्धिमें जानेवाला भंगी, अपनी घ्राणशक्ति दो वर्ष भी नहीं बचा सकेगा। वातावरणका संघर्षसे होनेवाला प्रभाव सूक्ष्म होने के कारण भले अनुभूत न हो, पर वह मन पर बहुत घातक पड़ता है। महर्षियोंके, शूद्रादिकों के हित के लिये, उनका मन्दिर और यज्ञमें जाना रोका गया था। उनकी मर्यादाओं का उल्लंघन करनेसे वे अपनी हानि करेंगे और फिर विवशतः उन्हीं नियमोंको मानना होगा।

वेदाध्ययन या वेदश्रवणका अधिकार शूद्र प्रभृतिको न देने में भी कुछ ऐसा ही तात्पर्य है। धर्मका ज्ञान उन्हें न हो, यह तो कभी भी ऋषियोंने नहीं सोचा। भगवान् वेदव्यासजी ने महाभारत और पुराणों में स्पष्ट लिखा है कि इनका निर्माण, विशेषतया स्त्री-शूद्रादि जिनका वेदमें अधिकार नहीं, उनको भी धर्मका ज्ञान करानेके लिये किया जा रहा है।

वेदका उच्चारण सस्वर होता है। स्वर, वर्ण, मात्रा प्रभृति किसी प्रकारकी उच्चारण में अशुद्धि हानि करती है। वेद परमात्मा के शब्द हैं। ब्रह्माने समाधिमें उन्हें पाया था - उनका साक्षात किया था। वे दिव्यनाद हैं, प्रकृतिपर उनके उच्चारणका महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। तनिक भी अशुद्धिसे उनके कम्पनमें जो त्रुटि आती है, वह प्रकृति में विकृति उत्पन्न करती है। उससे हानि होती है।

जो सदा कार्य व्यग्र हैं, जिनका सेवाके सदृश सर्वदा अनियमित कार्य है, उन्हें इतना अवसर कहां कि नित्य नियमित समयपर वेदाभ्यास करें। यदि उन्हें वेद पढ़ाया भी जावे तो अभ्यासके अभाव में उच्चारण ठीक न रहेगा। यदि

कभी वे उच्चारण करेंगे तो अशुद्ध, उससे हानि होगी। बड़े-बड़े नित्याभ्यासी महर्षियोंसे उच्चारणकी त्रुटियां हो गई और उसके दुष्फलका वर्णन मिलता है। ऐसा भयंकर शस्त्र सर्व साधारणके हाथ में कौन देना चाहेगा?

सबसे प्रधान बात तो यह है कि वैदिक शब्द ईश्वरीय होनेके कारण विशुद्ध सात्विक हैं। मस्तिष्कपर उनका प्रभाव विशेष पड़ता है। जिनका स्वभाव राजस या तामस है, जिनमें सत्वगुण अत्यन्त अप्रधान है, वे उसके सम्पर्क में आकर दो गुणोंके द्वन्द्व में पड़ेंगे। अनधिकारी शिष्य में यदि योगी शक्तिपात करे तो शक्ति सह्य न होनेसे शिष्य पागल या रोगी हो जाता है। ऐसा न हो तो मस्तिष्क विकारसे वह उलटे व्यसनी हो जाता है, यही दशा वैदिक शब्द शक्तिका प्रभाव पड़नेपर उनकी भी होगी। ऋषियोंने अधिकार का निर्णय प्रत्येक विषयमें बहुत सावधानीसे किया है। उस निर्णयमें सबकी भलाई निहित है।

***

# ऋषियोंका विज्ञान

आजके अधूरे भौतिक विज्ञानको लेकर कोई अहंमानी प्राचीन सभ्यताका भले उपहास कर ले, किन्तु विचार करनेपर उसे यह मानना होगा कि प्राचीन महर्षियोंने विज्ञान के प्रत्येक भागों में अत्यधिक उन्नति की थी। प्रकृतिके नियमोंपर उनका पूर्णतया अधिकार था और वे विश्वको स्वेच्छा से संचालित करने में समर्थ थे।

कम्पन विज्ञानको शास्त्रोंमें हम प्रधानतः पाते हैं। अभी आज तक विज्ञानको उसकी छाया भी दृष्टि गोचर नहीं हुई। किस वस्तु, क्रिया या शब्दका कैसा कम्पन होता है और वह प्रकृतिको कैसे प्रभावित करता है, इसकी पूर्ण विवेचना हो चुकी थी। इससे प्रायः तीन चौथाई काम लिये जाते थे। वर्षा कराना, पुत्रेष्टि यज्ञ, मन्त्र- शास्त्र, संगीतमें दीपक प्रभृति राग इसी विज्ञानके विस्तार हैं।

आज वैज्ञानिकोंने भौतिकताको जितनी प्रधानता दी है, वह मनुष्यके लिये लाभसे अधिक हानिका कारण हुई है। प्राच्य और पाश्चात्य दोनों देशोंके विचारशील, यन्त्र-युगको मनुष्य के लिये अभिशाप कहते हैं। यन्त्रोंने युद्धको भयंकर किया, मनुष्यको आलसी बनाया और साथ ही पूंजीवाद की सृष्टि की। बेकारीकी भयंकर पुकार यन्त्रोंके कारण है। महात्मागांधीका चर्खा आन्दोलन पुराने युगकी एक सुन्दर स्मृति दिलाता है।

यन्त्रके द्वारा पूंजी एकत्र हो जाती है और समाजका शोषण होता है। साम्यवादकी रीति से अवश्य यह अव्यवस्था दूर की जा सकती है, किन्तु वह आस्तिकता के साथ सम्भव नहीं। उसमें आवश्यक है कि मनुष्यका दृष्टिकोण आर्थिक आधार रहे। मानव परमार्थसे दूर अवश्य हो जायगा। यन्त्रों की सबसे बड़ी देन हैं रोग, मृत्यु, अल्पायु। निरन्तर वायु दूषित होती रहे, रेल पृथ्वीको

और हवाई जहाई आकाशको मथते रहें, जलकी विद्युत निकाल ली जावे तो प्रकृतिमें शक्ति कहां से रहे।

महर्षियोंको यन्त्रोंका ज्ञान था। वे चाहते तो यन्त्र बना सकते थे। किन्तु यन्त्रोंसे होने वाली हानिका भी उन्हें ज्ञान था। प्रकृतिपर अत्यधिक दबाव देकर समाज में वे नये रोग नहीं बुलाना चाहते थे। तपस्वियोंकी तपस्या के योग्य वनोंका उन्हें उन्मूलन नहीं करना था। उनके यज्ञों तथा संयम के प्रभावसे उस समय बाल मृत्यु या अकाल मृत्यु नहीं होती थीं। रोग होते होंगे, लेकिन आज जैसे भयंकर नहीं। उनसे कोई अकाल मृत्यु नहीं पाता था। समाज सम्पन्न था। किसीको भोजन-वस्त्रका अभाव नहीं था। सबसे बड़ी बात तो यह कि सब लोग धार्मिक थे। सब ईश्वर विश्वासी थे।

आवश्यकता पड़ने पर ऋषियोंका भौतिक ज्ञान भी काममें आता था, लेकिन उसी आवश्यकता तक। उसे सार्वजनिक रूप नहीं दिया जाता था। प्रायः कम्पन विज्ञानके द्वारा धार्मिक क्रियाओंसे काम चला लिया जाता था। अवर्षण दूर करनेके लिये यज्ञ होते थे। दूसरी सृष्टि उत्पन्न करने में समर्थ विश्वामित्रजी अपनी शक्तिसे वर्षा नहीं कराते, वे भी यज्ञका सहारा लेते हैं।

जो धर्म और विश्व कल्याणको नहीं मानते थे, जिनके लिये अपनी शक्ति और वैभवकी उन्नति प्रधान लक्ष्य थी, ऐसे राक्षस राजाओंने उस समय भी भौतिक विज्ञानको अपनाया। विमानोंका वर्णन ऐसे ही राजाओं के पास मिलता है। भौमासुरने अग्निदुर्ग, जलदुर्ग, वायुदुर्ग और मुर नाम के पाशसे अपने नगरको रक्षित किया था। अनेक यन्त्रोंसे उसका प्राकार पूर्ण था। शाल्वका यान आकाश, जल और पृथ्वी में समान रूपसे चलता था। उसमें पूरी सेना बैठ सकती थी। आजके विमानोंके समान वह चील की टक्कर से गिरता नहीं था। उसने अपनी टक्करसे द्वारिकाके मकानों के शिखर गिराये। रावण के यहां वायु, अग्नि, जल सबसे गृह कार्य लिया जाता था। अदृश्य होना, आकाशसे गमन करना, नाना प्रकारके भ्रान्त दृश्य उत्पन्न कर देना, यह सब विद्याएँ उन सबों के समीप थीं।

ऋषि इन्हें न जानते हों, ऐसा माननेका कोई कारण नहीं। दैत्योंके इतने विज्ञानके रहते भी राजाओंने उन्हें परास्त किया। ध्यान देनेकी बात है कि दैत्योंको परास्त करके भी उनके विज्ञानको सीखने या उसे उपयोग करने की चेष्टा नहीं की जाती। भगवान रामने अयोध्या पहुँचते ही पुष्पक कुबेर के यहाँ लौटा दिया। यद्यपि वे उसे रख सकते थे और इसमें कुबेर अपना सौभाग्य समझते। मयके समान दैत्योंका कलाकार युधिष्ठिरजीके पास आकर सेवा करना चाहता है, पर भवन बनाने के अतिरिक्त उसे कोई असाधारण विमान बनानेको नहीं कहा जाता। यद्यपि सब जानते थे कि मय उस त्रिपुरका निर्माता है जिसे सब देवता मिलकर भी नहीं नष्ट कर सके और शंकरजी को भी विशेष प्रयास करना पड़ा।

यह सब बातें बतलाती हैं कि ऋषि यन्त्रोंके ज्ञानसे परिचित थे, पर वे उन्हें विश्व कल्याण और पारमार्थिक उन्नति में बाधक समझते थे। उन्होंने इसी कारणसे उस ज्ञानको विस्तार नहीं दिया। अवसर आनेपर भी दैत्योंसे उनके यन्त्र नहीं लिये गये। राजाओंने, जो धार्मिक थे, सदा ऐसे यन्त्रोंकी उपेक्षा की। वे केवल उन अस्त्रोंको ऋषियोंसे प्राप्त करते थे, जिनसे यन्त्रोंका युद्धमें प्रतिकार हो सके। ये अस्त्र भी सबको नहीं बतलाये जाते थे। जिससे दुरुपयोगकी आशा न होती, उसीको दिये जाते थे।

तोपका गोला आज शत्रु के नगरपर फेंक दिया जाता है, पर वहाँ स्त्री-बच्चे मरेंगे इसका कोई ध्यान नहीं। बम वर्षामें निरीह नागरिक मारे जाते हैं। पहले युद्ध में केवल वे मारे जाते थे जो लड़ते हों। उनमें भी भागता हुआ, निरस्त्र और अशक्त, आहत प्रायः बचाया जाता था। छिपकर या धोखे से मारना अधर्म समझा जाता था। पापी और अधर्मी राजा भी इसका बहुत ध्यान रखते थे। जरासंध एक अधर्मी राजा कहा जाता है, किन्तु अतिथि रूपसे आये कृष्ण, अर्जुन और भीमको उसने मारा नहीं। भीमने अखाड़े में जरासन्धको मार डाला, फिर भी सेनाने उनपर आक्रमण नहीं किया। अधार्मिक नरेशोंमें भी इतना धर्म था।

यन्त्रों के प्रयोग में धर्मकी और नियमकी मर्यादा रह नहीं सकती थी। आज जैसे भयंकर यन्त्र उस समय जान-बूझकर नहीं बनाये जाते थे। ऐसा

करना घोर पाप था। भयंकर अस्त्रोंका प्रयोग कोई असमय नहीं करता था। महाभारत में भीष्मने अस्त्रोंकी शक्ति बतायी है - "मैं कौरव-पांडव दोनों दलको पांच दिनमें मार सकता हूँ, आचार्य द्रोण तीन दिनमें, कर्ण एक दिन में, अश्वत्थामा केवल एक प्रहरमें और अर्जुन एक बाणसे, उसे दूसरा बाण नहीं लेना होगा।" इन यन्त्रोंका प्रयोग मरते-मरते भी नहीं किया गया। अर्जुन कई बार प्राणान्त संकट में पड़े लेकिन उन्होंने कभी अपने भयंकर अस्त्र नहीं उठाये। क्योंकि ऐसा करना मर्यादा विरुद्ध था। उससे निरपराधोंके वध का सन्देह था।

बात यह है कि प्राकृतिक शक्तियां हमें जीवन में सहायता देती हैं। जब हम एक शक्तिको उससे छीन लेते हैं तो हमें वह सहायता मिलना बन्द हो जाती है। पृथ्वी में पेट्रोल और कोयला था, पृथ्वीकी गर्मी उसके निकालने से कम हुई, फलतः उपजाऊ शक्ति नष्ट हो गई। जल में से विद्युत निकली और जलकी जीवनी शक्ति घट गई। रेल जाती है और साथ ही मकानों और दिलको हिलाती जाती है। मनुष्य में यात्राका साहस जाता रहा, वायु आलोकित होकर विकृत हुई, नये-नये रोग आये। हम एक अभावको दूसरेसे पूरा करना चाहते हैं और तीसरा उठ खड़ा होता है। भूमिमें वैज्ञानिक खाद देकर उत्पादन बढ़ाया तो अन्नमें स्वाद और शक्ति नहीं। अब शक्ति के लिये विटामिनके पीछे पड़ो। यह तांता बढ़ता जाता है।

आरोग्य, बल, शान्ति यह प्रकृतिकी गोद में हैं। मनुष्य प्रकृतिसे जितना दूर होगा, उतनी दूर उससे स्वास्थ्य, बल और सुख हो जायेंगे। धर्मसे भी वह उतनी दूर जा पड़ेगा। आज यही सब हो रहा है। सर्वज्ञ महर्षियोंने यह सब भौतिक विस्तार इसीलिये नहीं किया। अपने आधिभौतिक विज्ञानको इसी कारण से सार्वजनिक रूप नहीं दिया। मनुष्यका यह ह्रास उन्हें अभीष्ट नहीं था।

ऋषियोंको आजसे कहीं अधिक भौतिक ज्ञान था और वे उसके उपयोगकी हानियोंको जानते थे, केवल इसीलिये उन्होंने उसका उपयोग नहीं किया। यह बात कोरी कल्पना नहीं है। यत्र-तत्र पुराणों में इसके पर्याप्त प्रमाण हैं। कुछ भिन्न-भिन्न विषयोंके प्रमाण लेकर विचार कीजिये।

च्यवन वृद्धसे युवा हो गये थे। वैद्यकका यह कायाकल्प विज्ञान, आज तक डाक्टरोंको प्राप्त नहीं। इला जो जन्मसे लड़की थी, सुद्युम्नके रूपमें बदल दी गई। आज कलमके द्वारा नये फल एवं पुष्प बनाये जाते हैं, खच्चर संयोगज पशु बनाया गया है, लेकिन इनकी प्रजनन शक्ति नष्ट हो गई। कलमी पौधे या पुष्पके बीज पुनः वैसा ही पौधा उत्पन्न करने में समर्थ नहीं। पूर्वकाल में विश्वामित्रजीने नवीन सृष्टि की थी। उनकी सृष्टि में ऐसा कोई दोष नहीं। उनकी उड़द, गेहूँ सबके बीज समान पौधे देते हैं। उनकी भेड़ें आदि भली-भांति सन्तानोत्पत्ति करने में समर्थ हैं।

योग और मनोविज्ञानकी तो यहां पराकाष्ठा तक उन्नति हुई थी। विदेश अभी उसका शतांश भी नहीं पा सका। जिस परिचित विज्ञान और रोग निवारणको विदेशी मनोविज्ञानकी उच्चतम भूमिका समझते हैं, वह यहाँ एक सामान्य सिद्धि समझी जाती है। अणिमा प्रभृति सिद्धियोंका तो कई शताब्दी में कदाचित आजके वैज्ञानिक अन्वेषण कर सकें।

गृह निर्माण कला और रथ प्रभृति के लिये, युधिष्ठिरका सभा भवन एवं अर्जुनका रथ पर्याप्त दृष्टान्त है। सभा भवन एक स्थानसे कहीं भी उठाकर ले जाया जा सकता था। उसपर किसी अस्त्र-शस्त्रका प्रभाव नहीं पड़ता था। उसमें बैठनेपर शोकादि मानस और रोगादि शारीरिक व्याधियाँ नहीं होती थीं। अर्जुन के रथकी ध्वजा न तो पेड़ोंमें रुकती थी और न किसी प्रकार काटी जा सकती थी। रथ समान रूपसे पृथ्वी, जल और पर्वतों में चल सकता था।

युद्धके अस्त्रों में कौटिल्यका अर्थशास्त्र और कामसूत्र विचित्र प्रयोगों से भरे हैं। बम, विषैली गैसें, रोग फैलाने के उपाय उसमें भरे पड़े हैं। साथ ही महीनों भूखे रहना, योजनों अश्रान्त यात्रा, वेष परिवर्तन, इन सबके भी बहुत प्रयोग हैं। महाभारतके दिव्यास्त्र आज कल्पनासे भी परे हैं। आग्नेयास्त्र, वारुणास्त्र, वायव्यास्त्र, नागास्त्र, गरुड़ास्त्र, ब्रह्मास्त्र प्रभृति अप्रतिम अस्त्र-शस्त्रोंका वर्णन हम पाते हैं। भुशुण्डी (बन्दूक), शतघ्नी (तोप) उस समय कोई महत्वपूर्ण अस्त्र नहीं समझे जाते थे।

अभी न तो पुष्पकके समान कोई विमान बन सका और न तो शाल्वके सौभके समान। पूरी सेना उसमें बैठकर युद्ध करती थी। भौमासुर के समान अग्नि हवा के दुर्ग बनाकर गढ़की रक्षाका भी कोई आविष्कार अभी तक नहीं हुआ। आकाशमें मेघनादका विमान अदृश्य हो जाता था। यद्यपि वह पास रहता था और मेघनादके शब्द सुनाई भी पड़ते थे।

रत्नोंकी परीक्षा और पशु विज्ञान तो अब नाममात्रको रह गया है। चन्द्रकान्ताका कहीं पता नहीं। गजमुक्ता अप्राप्य वस्तु है। आजके रासायनिक, कौटिल्य की भाँति स्वर्णको लाल, हरा, नीला, श्वेत, कृष्ण आदि रूप नहीं दे पाते। जलपर चलनेवाले अश्वोंका पता नहीं। श्याम कर्ण किसी स्थान पर नहीं मिलता। श्वेत, कृष्ण और कपिला गौ के दुग्धका अन्तर आजका कोई रासायनिक बताने में समर्थ नहीं। ज्योतिष में राहु और केतुका अब तक पता नहीं लगा। भूगोल में नील नदीके उद्गमका पता पुराणोंके भूगोलकी शरण लेनेपर मिल सका है। हँसका नीर-क्षीर विवेक और चकोरका अग्नि चुगनेसे मुख न जलना अब भी आश्चर्य जनक है। शब्द शक्ति या मन्त्र विज्ञानके विषयमें तो आज पूरा अन्धकार है। यही दशा स्वर विज्ञानकी भी है। दीपकराग, मेघराग प्रभृति अभी कोई प्राप्त नहीं कर सका।

किसी भी एक विज्ञानको हम लेकर देखें तो पता लगेगा कि ऋषियों ने उसमें पराकाष्ठा की सफलता प्राप्त कर ली थी। उस विषय में उन्हें जो ज्ञान था और उन्होंने जो कार्य किये, वह अभी शताब्दियों में कहीं हो सकें यह भी आशा नहीं। किसी-किसी विषयका तो आज तक अनुमान भी नहीं किया जा सका है। वैज्ञानिक अन्धकार में टटोल रहे हैं, कुछ हाथ लग जाता है और उसी पर वे सिद्धान्त बनाने बैठते हैं। वैज्ञानिक सिद्धान्त इसी कारण परिवर्तित होते रहते हैं।

महर्षियोंने चरमसीमा तक भौतिक विज्ञानको प्राप्त किया था। उसका आवश्यकतानुसार उन्होंने प्रयोग भी किया। इसके साथ वे उसे विश्वके लिये मंगलकारी नहीं समझते थे। वे जानते थे कि उससे विश्व में अशान्ति बढ़ेगी और लोग बहिर्मुख हो जायेंगे। बहिर्मुख असुरोंने कुछ भौतिक विज्ञानका उपयोग

किया, लेकिन महर्षियोंने सर्वदा उसके विस्तार का विरोध किया। अत्यावश्यक होनेपर यदि कहीं उन्होंने उसका उपयोग भी किया तो वह वहीं सीमित रहा। उसे कभी सार्वजनिक रूप नहीं दिया गया। च्यवनको युवा कर देनेकी क्रिया च्यवन तक रही, विश्वामित्रने नवीन सृष्टि करना किसीको बताया नहीं।

जिससे बहिर्मुख प्रवृत्ति बढ़े, ऐसा कोई छोटे-से-छोटा कार्यका अवसर भी समाज के सामने आना शास्त्रकारोंको अभिप्रेत न था। वे कोई ऐसे छोटे-से-छोटे अवसरको भी हाथ से नहीं जाने देना चाहते थे जिसमें अन्तर्मुख प्रवृत्तिको जागृति देनेकी थोड़ी भी शक्ति हो। इन्हींको दृष्टिमें रखकर नियमोंका निर्माण शास्त्रों में हुआ है।

महर्षियोंने जितने भौतिक ज्ञानको मानव समाजके लिये हितकर समझा उतने का प्रसार किया। जिसके द्वारा अशान्ति एवं अनर्थकी सम्भावना थी, उसे उन्होंने किसीको नहीं सिखलाया। अधिकारीको महर्षि दिव्यास्त्र देते थे, परन्तु उनका निर्माण उन्हें भी नहीं बताया जाता था। अर्जुन पाशुपतका प्रयोग कर सकते थे, बना नहीं सकते थे। इस प्रकार हानिकर विद्याको सब प्रकार फैलने से उन्होंने रोका।

जिन मन्त्रोंपर एकाग्र होकर उन्होंने वह विद्याएँ प्राप्त की थीं, उनमें संयम करके कोई भी पा सकता है। कठिन तो यह है कि ऐसी समाधि लगावे कौन ? उपनिषदोंमें उन विद्याओंका सूत्र रूपसे वर्णन कहीं कहीं मिलता है। सब उपनिषद प्राप्त होते तो सम्भवतः कुछ मिल सकता। पुराणों में उनका सैद्धान्तिक रूप है, प्रक्रिया नहीं। सिद्धान्त के आधारपर प्रक्रियाका अन्वेषण करनेसे कुछ सफलता हो सकती है।

एक विद्या जब परोक्ष रहती है तो उसे समझना बहुत कठिन है। किसी ग्रामीणसे आप कहें कि पृथ्वीपर खड़े-खड़े गणितके द्वारा वृक्षकी ऊँचाई नापी जा सकती है तो वह आपको पागल समझेगा। इसी प्रकार पुराणोंका महान विज्ञान परोक्ष होने के कारण हमारी समझमें नहीं आता। पाश्चात्य वैज्ञानिक सिद्धान्तोंका अभी कोई स्थिर रूप नहीं। वे अधूरी खोजके प्रान्त परिणाम हैं। उनका रूप परिवर्तित होता रहता है। अतः यदि कोई बात पाश्चात् सिद्धान्तोंसे

पुराणोंकी विरोधी जान पड़े या हमारी समझमें न आवे तो पुराणोंको भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। उस पर विश्वास करके अन्वेषण करना चाहिये। वह एक सत्य है जिसे हम अभी नहीं पा सके। सर्वज्ञ महर्षियोंके ज्ञानका सार भगवान व्यासके द्वारा उनमें संग्रह हुआ है। वहाँ भ्रान्तिकी कोई सम्भावना नहीं। असत्यको स्थान नहीं। वह सत्य है - शुभ सत्य।

***

# पुराणोंकी भाषा

पुराणोंकी रचना सामान्य विद्वानोंके द्वारा नहीं हुई है। इसके रचनाकार विद्वान तो थे ही, वे तपस्वी, ज्ञानी और त्रिकालदर्शी थे। वे अधिकतर समाधिकी भाषा में लिखते थे। भौतिक जगतकी चर्चा करते-करते अध्यात्मके गूढ़ प्रसंगोंमें चले जाते थे। अध्यात्मकी चरम-स्थिति समाधि है। जहाँ समस्त सांसारिक शब्द मौन हो जाते हैं। उसकी सूक्ष्मता को अनुभव किया जा सकता है, व्यक्त नहीं। ऐसी गूढ़ अनुभूतिको शब्दोंसे व्यक्त करनेका प्रयास समस्त भारतीय आर्ष-ग्रन्थोंमें है। भौतिक शब्दोंके माध्यम से उन अनुभूति तक पहुँचनेका प्रयत्न किया जा सकता है, पूर्णत: उनका स्पर्श भी इन शब्दोंसे सम्भव नहीं है। भौतिक शब्दोंको प्रतीक वगैरह के माध्यम से लिखा गया है, जैसे कबीर की भाषा है। यही कारण है कि पुराणोंके विषय आज हमारे लिये अटपटा अनुभव होता है।

- राधा कृष्ण

***

# पुराण-रहस्य

# प्रस्तावना

पुराणोंकी कथाओंके तीन रूप होते हैं - आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। तीनके तीनों सत्य हैं। पिण्ड और ब्रह्माण्डके भेद से प्रत्येकके दो भेद हो जाते हैं। जो बात पिण्ड में होती है, वही ब्रह्माण्डमें। पिण्ड ब्रह्माण्डका ठीक मानचित्र है। "पुराण-रहस्य" में इन्हीं तीनों अर्थोंको दिखलानेका प्रयत्न किया गया है।

"मूल कथा" कथाका आधिभौतिक रूप है। पुराणों में उसी रूपमें कथाका वर्णन हुआ है। वह रूपक नहीं - सत्य है, इतिहास है। यद्यपि आज उसे सत्य माननेमें लोग आनाकानी करते हैं, पर वह उतना सत्य है, जितना दिनमें सूर्य। हमारी समझमें न आवे इसीसे प्रकृतिका कोई रहस्य असत्य नहीं होता। वह कैसे सत्य है? इसके वैज्ञानिक कारणोंका प्रकाश "पुराण-विज्ञान" खण्डमें हुआ है। पुराणों की कथाओंकी सत्यता समझनी हो और उनके महान विज्ञानको जानना हो तो "पुराण-विज्ञान" देखना चाहिये।

जो घटना ब्रह्माण्ड में होती है, वही सूक्ष्म रूपमें पिण्डमें भी। सृष्टिका इतिहास ही हमारे शरीरका इतिहास है। घटनाओंका शरीर में देखना, यह शरीर विज्ञान से सम्बन्ध रखता है। नस-नाड़ियों एवं गुल्मोंका गम्भीरतर अध्ययन इसके लिये आवश्यक है। मैं डाक्टर नहीं हूँ, अतः आधिभौतिक कथाको इतिहासके रूपसे शरीर विज्ञानके रूपमें देखना मेरे लिये सम्भव नहीं। "पुराण-रहस्य" में मेरा उद्देश्य कथाके आधिदैविक और आध्यात्मिक रूपका विश्लेषण करना रहा है। संक्षिप्त रूपमें कथा देकर वैसे ही संक्षिप्त ढंग से उनका विवेचन किया गया है। यह तो सम्भव ही नहीं था कि कथा पूर्ण विस्तारसे दी जाती और उसके रहस्य पूर्ण विस्तृत दिये जाते। ऐसा करनेपर तो सब पुराण देने पड़ते और उनके रहस्य देने में फिर उन जैसे तिगुने ग्रन्थ बनाने पड़ते।

कुछ चुनी हुई घटनाएँ ले ली गई और उनकी सीमा में रहस्यका विवेचन हुआ। उदाहरण के लिये "सीता हरण" ले लीजिये। सीताके विवाह का केवल सांकेतिक वर्णन है। बालि वधका दो शब्दों में संकेत हुआ। अब रहस्य में आप धनुषभंग, बालिवध या परशुराम संवाद तथा कैकयी प्रभृति का भी परिचय जानना चाहें, तो इसका अर्थ होगा कि पूरी रामायण लिख कर उसका विवेचन करना चाहिये। इस छोटी पुस्तक में ऐसा कैसे हो सकता है? इसका उद्देश्य तो यह है कि आपके सम्मुख कथाके आधिदैविक रूपका एक चित्र आ जावे। अठारहके स्थानपर छत्तीस पुराण लिखने मेरे बसके नहीं।

एक प्रश्न हो सकता है कि अन्ततः पुराणकारने इन रहस्योंका स्पष्ट वर्णन न करके इस प्रकार गुप्त वर्णन क्यों किया? स्पष्ट वर्णन तो शास्त्रों में भरे पड़े हैं। यदि सब शास्त्र ग्रन्थ प्राप्त हो जाते तो हम उस प्रत्यक्ष वर्णन को पाते भी। पुराणों में भी जहाँ-तहाँ स्पष्ट वर्णन भी हैं। दूसरी बात यह है कि पहले युग में आध्यात्मिक विषयोंको परोक्षता में महत्ता दी जाती थी। "परोक्ष प्रियो हि देवा:", देवता छिपे वर्णनको पसन्द करते हैं। यह श्रुतिका सिद्धान्त है। पुराण निर्माताने इसीका अनुकरण किया।

सृष्टिका रूप ही त्रिधा है। पहले बात मनमें आती है, फिर बुद्धि उसका चित्र बनाती है और तब वह हमारे द्वारा स्थूल जगतमें निर्मित होती है। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड में भी प्रथम मानस स्तर जागृत होते हैं, वहाँसे देवताओं में उसके लिये क्रिया होती है और फिर वह संसारमें निर्मित होती है। इस प्रकार यदि हम किसी एक का भी ठीक वर्णन करें तो दूसरे दोनों रूपोंका ठीक वर्णन हो जावेगा। पुराणकार सत्य इतिहासका वर्णन करते हैं, अतः उस वर्णनमें आधिदैविक एवं आध्यात्मिक रूप स्वभावतः आ जाते हैं। उनको लानेका प्रयत्न करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। इतिहास मात्रकी त्रिविध व्याख्या होती है।

"आधिदैविक अर्थ" के विवेचनमें मैंने जान बूझकर पिण्ड में उसे ग्रहण किया है। यद्यपि उचित तो यह था कि जब कथा ब्रह्माण्डके इतिहासकी दी गई तो आधिदैविक रूप भी ब्रह्माण्डका दिया जाता। कथाका पिण्ड में घटाना, मेरे लिये इस कारण कठिन था कि मैं शरीर रचनासे पूर्ण परिचित्त नहीं। कथाके

आधिदैविक रूपका ब्रह्माण्ड में विवेचन कोई लाभप्रद नहीं होता। पुराणों में देवताओं और उनके कार्योंका स्पष्ट वर्णन है। मुझे भी आधिदैविक वर्णन के लिये त्रिपाद्-विभूति तथा देव लोकोंका वर्णन करना पड़ता। अमुक देवता अमुक कार्य करता है, यह वर्णन कुछ रोचक न होता। जहाँ लोग देवता ही नहीं मानना चाहते, वहाँ उनके कार्य और लोकोंको कैसे मानेंगे? त्रिपाद्-विभूति और देवलोकोंकी स्थिति जिन्हें जानना हो, उन्हें "पुराण-विज्ञान" से बहुत परिचय मिलेगा।

"आधिदैविक अर्थ" को साधनोपयोगी एवं आजकल के लोगोंकी समझमें कुछ आने योग्य देखकर, उसका पिण्ड (शरीर) में जो रूप होता है, वही मैंने ग्रहण किया। वैसे दैव जगत में उसका रूप होता है, और देवता सृष्टि कार्यके किस अंशको कैसे करते हैं, इसमें उनका तात्पर्य है। ब्रह्माण्ड - उनका अर्थ इसी आधार पर होगा।

"अध्यात्मिक अर्थ" को लीजिये। ब्रह्माण्ड में मानस स्तरोंका अवतरण कैसे होता है, यह इसका विषय था। "पुराण-विज्ञान" में, मैं मानस स्तरोंका परिचय दे चुका हूँ। उनके द्वारा सृष्टि निर्माण कैसे होता है, यह भी वहीं बताया गया है। एक-एक कार्य में मानस स्तरोंका विवेचन सम्भव नहीं था। वे कोई वस्तुएं तो हैं नहीं कि हम-आप उनको देखते और उनका विश्लेषण करते। अतः यह अर्थ भी पिण्डको दृष्टिमें रखकर लिखा गया। मनोभावनाएँ सबके भीतर उठती हैं और सब उसका अनुभव कर सकते हैं।

मनोनिग्रहमें "आध्यात्मिक अर्थ" की उपयोगिता है। जिस भावना को दबाना है, वह कैसे दबती है एवं उसकी विरोधी भावनाएं कौन-सी हैं, उनका कैसे उपयोग किया जाना चाहिये, इत्यादि बातें इस विवेचनसे जानी जा सकती है। इस उपयोगको दृष्टिमें रखकर पिण्डमें ही उनका विवेचन मैंने ठीक समझा। स्तरोंका विवेचन कठिन भी था और किया भी जाता तो उसे समझता कौन? समझ कर भी उसे क्या करता?

सच्ची बात तो यह है कि कथाओंका पूर्ण आधिदैविक तथा आध्यात्मिक विवेचन ठीक-ठीक कोई व्यास भगवानके समान सर्वज्ञ योगी कर सकता है।

जिसने उनका साक्षात किया हो, वही अक्षरश: सत्य वर्णन भी कर सकता है। मेरे लिये तो यह नितान्त असम्भव है। बुद्धि चापल्यसे मैंने जो कुछ सोचा या लिखा वह निर्भ्रान्त हो, इसका कोई प्रमाण नहीं। उसमें बहुत त्रुटियां एवं भूलें हो सकती हैं। यह सब जानते हुए भी मैंने यह साहस इसलिये किया है कि पुराणोंके इन दो अर्थोंकी ओर जनता और विद्वानोंका ध्यान आकर्षित हो। यदि ऐसा होगा तो कभी कोई न कोई पूर्ण विवेचन करनेवाला भी निकल आवेगा।

"कुछ स्फुट बातें" शीर्षक देकर दो चार प्रकरणों में देवताओंके कलामय रूपकी ओर संकेत किया गया है। मैं उन रूपोंको केवल कला नहीं मानता। वे रूप सत्य हैं और यही कलासे सिद्ध होता है। कला सत्यकी अभिव्यक्ति करके ही उत्कृष्ट बनती है। वृक्षका चित्र वही उत्कृष्ट कला पूर्ण कहा जायगा जो ठीक वृक्षके समान बना हो। ऐसे ही यदि वे देव मूर्तियाँ किसी भावको पूर्णतया अभिव्यक्त करती हैं तो वे यह भी सिद्ध करती हैं कि उनकी आकृति उस भावके अधिष्ठाता देवताकी प्रकृति आकृति है। इसलिये उस आकृतिमें कला में उत्कृष्टतम अभिव्यक्ति हुई है। सत्यका अनुगमन छोड़ देनेपर तो कला भ्रष्ट हो जाती है।

उपासना के दो क्रम होते हैं - विकासी और नैष्ठिक। पहिले क्रममें साधक एक से दूसरे रूपकी आराधना करता है और दूसरे में एक निष्ठा करके एकाग्रताकी ओर बढ़ता है। विकासी साधक जैसे-जैसे चित्त शुद्ध होनेसे अन्तर्मुख होता है, वैसे-वैसे उसकी आराधना सूक्ष्म होती जाती है। नैष्ठिक साधक एक ही लक्ष्य में मनको एकाग्र करके वहीं स्थिरता प्राप्त करता है। स्थिरता मात्र उद्देश्य है और वह दोनों प्रकारसे प्राप्त होती है।

कुण्डलिनी जागरणमें स्मार्त पद्धतिका यह सामान्य विकासी क्रम है कि मूलाधार में गणेश, स्वाधिष्ठान में शक्ति, मणिपूर में ब्रह्मा, अनाहतमें विष्णु, विशुद्धमें शिव और आज्ञा चक्रमें शिवलिंग तथा सहस्रार में गुरुकी उपासना की जावे। इन चक्रोंके अधिष्ठाता देवताओंका यह सर्वसुगम रूप है। साधारण साधकके लिये यही सरल पड़ता है।

नैष्ठिक क्रम में निष्ठाके अनुसार यही शक्तियाँ विभिन्न रूपमें उपासित होती हैं। शैव तथा शाक्त - डाकिनी, शाकिनी, राकिनी प्रभृति एवं शिव के अनेक रूपोंकी उन स्थानों में उपासना करते हैं। शाक्त वहाँ केवल शक्तिके रूपकी आराधना करते हैं और शैव केवल शिवके रूप की।

वैष्णव मूलाधार में कूर्म, स्वाधिष्ठान में मत्स्य, नाभिमें वाराह, नाभि एवं हृदय के मध्य में तीन उपचक्र मानकर उनमें नृसिंह, वामन, परशुराम, हृदय में राम, कण्ठ में बलराम, भूमध्यमें बुद्ध, भ्रू से ऊपर त्रिकुटीमें कल्कि और सहस्रारमें कृष्णको मानते हैं। निष्ठा विशेषके अनुसार क्रममें भी परिवर्तन होता है।

केवल एक देवता में निष्ठा रखनेवाला उसीके विभिन्न रूप उन चक्रों में मानेगा। जैसे रामोपासक सबमें राम या उनके भ्रातादिकोंका ध्यान करेगा। निष्ठा और एकान्त होनेपर भ्रातादि भी नहीं, रामके ही अनेक वेशोंका ध्यान होगा। यदि कोई भाव प्रधान है जैसे सख्य, तो रामके सख्यरूपके ही अनेक वेशका वहाँ स्थानानुसार ध्यान किया जावेगा।

चक्रोंकी शक्तियाँ बदलती नहीं। वे रहती अपने मूलरूप में हैं। भावनाके अनुसार उनके रूप ग्रहणमें कुछ अन्तर आ जाता है। जैसे एक पक्षीके शब्द में, अनेक प्रकारकी भावनाके लोग अनेक शब्दोंकी कल्पना करते हैं। चन्द्रमाकी कालिमाको कोई मृग बतलाता है और कोई वाराह। इसी प्रकार निष्ठा, चक्रकी शक्तियों के रूप ग्रहण में कुछ अन्तर कर देती है।

केवल रूप ग्रहण मात्रमें अन्तर पड़ता है। कार्य एवं वेश प्रायः ठीक वैसा ही रहता है। मूलाधारमें चाहे गणेशको मानकर ध्यान करो, चाहे कच्छपको या रामके शिशु रूपको। सबकी ज्योति लाल रहेगी। गणेशका रङ्ग, कच्छपकी ज्योति और रामके वस्त्र उस लालिमाको सूचित करेंगे।

गणेश यदि सूँड़ वाले तथा लम्बोदार हैं, तो कच्छप या रामका ध्यान भी ऐसे रूपमें होगा कि कच्छपका मुख और पेट प्रधान रहे तथा भगवान राम शिशु रूपसे धनुष सिरपर रखे, पेटपर दधि लपेटे दर्शन देंगे।

मूलाधार में केवल बुद्धिकी जागृति होगी। ध्यान चाहे जिसका और जैसे भी क्यों न करो। चक्र जागरणकी क्रियाओं में भी बहुत कुछ एक प्रकार की क्रियाएँ होंगी और प्रायः विघ्नोंकी उपस्थिति और उनका निवारण भी एक ही प्रकार से होगा। निष्ठा थोड़ा-सा नामान्तर कर देती है। वह और कुछ नहीं बदलती।

नैष्ठिक क्रमों में कथाओं में कुछ अन्तर पड़ जाता है। जो साधक प्रारम्भसे प्रेमोपासना या कृष्णको आराध्य मानकर चला है और जो अन्तमें कृष्णका साक्षात् करता है, उन दोनोंका साधन एक नहीं हो सकता। जो आरम्भमें रामको आराध्य मान चुका, उसमें और श्रीकृष्णको आराध्य मानने वाले में अन्तर तो रहेगा ही, यद्यपि दोनोंको उन्हीं चक्रोंका भेदन करना है और उसी मार्गसे जाना है, पर एक विघ्नोंका शमन प्रेम शक्तिसे करेगा और दूसरा मर्यादाके आधार पर। दोनोंकी त्रुटियाँ भी भिन्न होंगी। प्रेम एवं मर्यादा में पूर्ण दृढ़ता न होनेपर जो विकार आवेंगे, उनमें भेद रहेगा, इससे विघ्नोंके उत्थान तथा शमनकी क्रिया में भी भेद पड़ेगा। विघ्नों की प्रबलता तथा दुर्बलता भी वैसी ही होगी।

पुराणोंकी नाना कथाएँ एक ही प्रकार की होती हुई भी उनमें अब अन्तर क्यों हैं, यह बात आप उपरोक्त विवेचनसे समझ सकेंगे। रामायण और महाभारत प्राय: एक कथाएँ हैं, पर राम और कृष्णके कारण उनमें बहुत कुछ अन्तर पड़ता है। पुराणकार स्पष्ट बतलाते हैं कि राम ही कृष्ण होते हैं। रावण और कुम्भकर्ण ही शिशुपाल और दन्तवक्र हो गये हैं।

किसी पुराण में किसी देवताको प्रधान और दूसरेको गौण बतानेका भी यही उद्देश्य है। जो कृष्णोपासक है, जो प्रेमकी आराधना करता है, उसमें मर्यादा पुरुषोत्तम मर्यादा से न आवें यह तो सम्भव नहीं। शिवके भी दर्शन होंगे ही। किन्तु वह उपासक कृष्णको प्रधान रखेगा। कृष्णमें निष्ठा होनेके कारण उसके लिये दूसरे अप्रधान रूपसे प्राप्त होंगे। इसी प्रकार रामोपासक के लिये कृष्ण गौण रहेंगे और शिवोपासक के लिये राम।

आधिदैविक दृष्टि से यह पुराणोंका समन्वय है। आधिभौतिक दृष्टि से तो बहुत कुछ आचार्यवृन्द लिख चुके हैं। कल्पभेदसे कथाओंमें अन्तर पड़ता है।

किसी कल्पमें कोई रूप प्रधान रहता है और किसीमें कोई। किसीमें ब्रह्मा विष्णु से उत्पन्न होते हैं और किसी में विष्णु ब्रह्मा से, कथाओं में भी थोड़ा बहुत रूपान्तर हो जाता है। जैसे कह चुके हैं कि निष्ठाके अनुसार मूलाधार में गणेशके बदले दूसरेका ध्यान होनेपर भी बहुत कुछ वह गणेशसे सादृश्यता रखेगा, वैसे ही कथाएँ कल्पान्त में बदलने पर भी बहुत अंशोंमें प्रथम कल्प जैसी रहती हैं।

आध्यात्मिक अर्थों में हम देखते हैं कि कोई व्यक्ति रजोगुण प्रधान है और कोई सत्व या तमोगुण प्रधान। किसीमें लोभ अधिक है, किसीमें काम, किसी में क्रोध, किसीमें दया, किसीमें मैत्री आदि। होते तो सभी गुण सब में हैं, पर उसमें जो गुण प्रधान हो उसके अनुसार दूसरोंमें तारतम्य होता है। एक ही क्रियाका सबपर भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। यह सब उनमें किस गुणकी प्रधानता है, इस पर निर्भर करता है। जिसमें मर्यादा पालनकी प्रधानता हो, उसमें रामचरितका हमें प्रत्यक्ष होगा। जो आत्म कल्याण मात्र चाहेगा वह शिवके समान योग तथा त्याग करेगा। जो प्रेम प्रधान होगा उसमें श्रीकृष्ण चरित्र आवेगा। प्रधानता के अनुसार दूसरे गुणोंमें तारतम्य भी हो जावेगा।

एक प्रकार की या मिलती जुलती कथाएँ प्रत्येक पुराणमें इसी नैष्ठिक क्रमकी प्रधानताका विवरण करनेके लिये आती हैं। उनका उद्देश्य विवाद या भ्रान्ति फैलाना नहीं। सब पुराण एक साधक के लिये नहीं हैं। विभिन्न निष्ठाओंके लोगोंके साधन मार्ग का उनमें वर्णन हुआ है। जो जैसी निष्ठा रखता हो, उसे उसी प्रकार के साधनका अवलम्बन करना चाहिये।

अपनी निष्ठापर चलते हुए भी व्यक्तिको ध्यान रखना चाहिये कि मेरे और दूसरी निष्ठाके व्यक्तिके आराध्य में कोई अन्तर नहीं। एक ही शक्ति दोनों में भावना भेदसे दो रूपों में व्यक्त होती है। साधन मार्ग भी कोई मूल भेद नहीं रखता। दोनों को एक ही मार्ग से जाना है। निष्ठाकी प्रधानता के कारण उसमें कुछ रूपान्तर अवश्य प्रतीत होता है, किन्तु वह प्रधानता और गौणता निष्ठाकी अपेक्षा से है। इनमें वस्तुतया सब समान हैं। यदि अपनी निष्ठाके अनुसार हमें अपना मार्ग सरल है, तो वह दूसरेके लिये भी सरल न होगा। दूसरेके लिये तो वह सरल होगा जो उसकी निष्ठाके अनुकूल पड़ेगा।

परोक्षतया पुराणों में प्रायः सभी विज्ञान हैं। "पुराण विज्ञान" में हमने बतलाया है कि पुराण वेदोंके अधिकारी क्रमके अनुसार भाष्य हैं। उनमें वेदोंका सब विज्ञान आ गया है। यह दूसरी बात है कि अधिकारीके अनुसार साधन उपस्थित करनेके कारण, एक ही विज्ञान का कोई अंश कहीं और दूसरा अंश अन्यत्र जा पड़ा है। उसे एकत्र करना असम्भव नहीं, किन्तु श्रम साध्य अवश्य है।

वृहस्पति एवं शुक्रका एक दो अध्यायोंमें परिचय देनेका तात्पर्य यह है कि पुराणोंके ज्योतिषका कुछ परिचय प्राप्त हो। आप देखेंगे कि ज्योतिषका कितना सूक्ष्म विश्लेषण पुराणों में हुआ है। उतना सूक्ष्म विवेचन सम्भवतः और कहीं नहीं मिलेगा।

भूगोल, वैद्यक प्रभृतिका वर्णन भी पूर्णतया पुराणोंमें है। एक कठिनाई अवश्य होती है कि वर्णन परोक्ष होने के कारण उसे वही ढूंढ सकता है जो उस विषयसे कुछ परिचित हो। जो ज्योतिषके ग्रहादिकोंसे सामान्य परिचय रखता है, वह पुराणों में ज्योतिष के गम्भीर तत्व प्राप्त कर सकता है। जो वैद्यकके सिद्धांत तथा निदान भागको जानता है, वह पुराणोंके आधारपर महान वैद्य बन सकता है। वही अग्नि एवं सूर्यके वर्णनोंको समझ सकता है कि उनसे कैसे नेत्र रोग एवं कुष्ठादि दूर होते हैं। वैज्ञानिक या रासायनिक अपने विज्ञान में आश्चर्यजनक सत्य पुराणोंसे पावेगा।

जो साधारणतया किसी विषयके मूल सिद्धांतों एवं उसके साधारण स्वरूपको नहीं जानता, वह उस विषयके परोक्ष वर्णनको नहीं समझ सकता। मेरे लिये या और भी किसीके लिये यह सम्भव नहीं कि वह सब विषयोंको जाने। फलतः पुराणोंके विषय उससे अज्ञात रहते हैं। यदि कोई एक विषयको समझने वाला पुराणोंमें लगे तो अपने विषयमें उसे बहुत रहस्य ज्ञात होंगे। इस प्रकार वैद्यकादि सभी विषयोंके जाननेवालों का एक समूह या कमेटी पुराणोंका अन्वेषण करें तो पुराण रहस्य प्रकट हो सकता है।

हम चाहें तो पुराणोंको 'गप्प' या 'मिथ्या' कह सकते हैं। बहुतसे भाई आज ऐसा कहने में अपना गौरव समझते हैं। वे अपनेको बुद्धिमान तथा विवेकी

मानते हैं कि ऐसा करके उन्होंने अन्धविश्वासका त्याग किया है। लेकिन वे यह नहीं सोचते कि यह त्याग विवेकपूर्ण होनेकी अपेक्षा अज्ञानपूर्ण अधिक है। पुराणोंका उन्होंने इसलिये त्याग नहीं किया कि उन्हें अन्वेषण करनेपर कोई तत्व नहीं मिला। त्याग इसलिये किया गया कि वे उन्हें समझ नहीं सके। यह त्याग उतना ही हास्यास्पद है जितना किसी वैज्ञनिक सिद्धान्तको न समझ सकनेके कारण किसी अविद्धान का उसका त्याग। यदि हम न्यूटनके आकर्षण सिद्धान्तको मिथ्या कहें तो उस सिद्धान्तका मिथ्यात्व नहीं सिद्ध होगा, सिद्ध होगा हमारे विवेक का का दौर्बल्य।

अपनी कठोर तपस्या तथा अरण्य निवासके त्यागमय जीवनमें, योगकी साधनाओंसे प्राणोंको तपाकर, महर्षियोंने जिन प्राकृतिक एवं आध्यात्मिक तथ्योंका आविष्कार किया, जिन सार्वभौम सिद्धान्तोंका अन्वेषण किया, बाह्य जगतके थोथे प्रलोभन में प्रलुब्ध, विषयोंके लिये अहर्निश उद्विग्न रहनेवाले, व्यसनी पाश्चात्य आसुरी सभ्यताके मदमें मत्त, आजके तार्किक लोगोंका तर्क वहां तक न पहुँच सके तो कोई आश्चर्य नहीं। ऐसे लोग उसे मिथ्या कह दें तो उसका कुछ बिड़गता नहीं। उलटे वे अपने अज्ञानमात्रका परिचय देते हैं।

पुराणोंको छोड़कर हम विज्ञानके अन्वेषण में लगते हैं और अनेक भ्रामक तत्वोंमें भ्रमित होते रहते हैं। शताब्दियोंके परिश्रम और सैकड़ों बलिदानसे एक सिद्धान्त बनता है, एक तथ्य प्रकट होता है। जगत चौंकता है "अरे ! यह तो बहुत पहलेसे आर्य ऋषियोंने पुराणोंमें अङ्कित कर रखा था ?" कितना अज्ञान ! यदि हम प्रथमसे पुराणोंका ही अन्वेषण करें तो वैसे सहस्रों सत्य बहुत थोड़े परिश्रमसे प्राप्त हो सकते हैं।

हमारे समीप हमारे पूर्वज हमारे लिये वैज्ञानिक, आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक सिद्धान्तोंके अमूल्य रत्नोंका अपार कोष छोड़ गये हैं। अवश्य वह कोष दबा हुआ है और उसे निकालनेके लिये हमें कुछ परिश्रम करना पड़ेगा। यदि उस कोषागारको परिश्रमके भयसे रिक्त कहकर हम दूसरोंके सम्मुख कौड़ियोंके लिये हाथ फैलावें, द्वार-द्वार मारे-मारे फिरें तो यह हमारी मूर्खता! हमारा दुर्भाग्य ! और क्या कहा जावे।

वे रत्न नष्ट नहीं होंगे। संसार एक दिन उनके सम्मुख मस्तक झुकायेगा और उन्हें प्राप्त कर अपनेको धन्य मानेगा। किन्तु तब जब उन्हें दूसरे उखाड़ ले जावेंगे। जब वे उसे पहचान सकेंगे। उस समय हमारे लिये पश्चातापके अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं रहेगा। वही दर-दर की भिक्षा तथा जूठे टुकड़े बटोरना शेष रहेगा।

पाश्चात्य देशों में पुराणोंकी अभीसे छानबीन होने लगी है। यद्यपि भारतीय संस्कृति से परिचित न होने के कारण वे लोग उन्हें ठीक समझ नहीं पाते, किन्तु प्रयत्न तो वे कर ही रहे हैं। कुण्डिलिनी योगपर अँग्रेजी में बहुत सुन्दर और बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। वर्षों पहले फ्रांस सरकारने कई सहस्त्र रुपये देकर एक सज्जनको भारत भेजा था। उनका उद्देश्य था कि भारतीय साधु-महात्माओं से मिलकर यौगिक सिद्धियों इन्द्रजाल के कौतुकों के विषय में ज्ञान प्राप्त करें और उन ग्रन्थोंका पता लगावें जिनसे पुराणोंके योग तथा चमत्कारी कार्योंका सम्बन्ध हो। उन सज्जनने कई सौ ग्रन्थ एकत्र कर लिये थे। साधुओं से पूछकर एक बड़ा पोथा नोट कर लिया था। भारत और तिब्बतका पूरा भ्रमण करके जब वे फ्रांस लौटे तो फांस सरकार उन पुस्तकों तथा उनके किये नोटोंसे अन्वेषण किया। वहां के विद्वानोंने उन सबकी छानबीन की।

एक पाश्चात्य विद्वानने पुराणोंके अनुसार पृथ्वीका मानचित्र बनाया है। कहते हैं कि अफ्रीकाकी नील नदीका उद्गम उसी मानचित्रके अनुसार प्राप्त हुआ। हम तो महर्षियोंके उन ग्रन्थोंकों मिथ्या बतलाते रहे और दूसरे उन्हीं में सिर मार कर रत्न निकाल ले जावें। कितने दुःखका विषय है।

इस "पुराण-रहस्य" को लिखने में मेरा उद्देश्य यह नहीं है कि मैं प्रकट करूँ कि मैं पुराणोंके मर्मको जानता हूँ। "पुराण विज्ञान" लिखते समय यह विचार उठा था कि पुराणोंका आध्यात्मिक और आधिदैविक रहस्य भी कुछ परिचयमें आना चाहिये। उसी विचारको लेकर यह तुच्छ प्रयत्न प्रकट हुआ।

इसका उद्देश्य यह है कि विद्वानोंका ध्यान पुराणोंके गम्भीर तथ्यों की ओर खिंचे। वे उन रत्नोंको प्रकट करने में प्रवृत्त हों। मेरा प्रयत्न उनके ध्यानको

इस ओर आकर्षित करनेके लिये एक नन्हा कार्यमात्र है। यदि ऐसा हो तो भारतका ही नहीं, अपितु विश्वका महान् कल्याण होगा। संसारको ज्ञानका अद्‌भुत भण्डार मिलेगा।

***

# गणेश

**मूलकथा** - मंगलमूर्ति श्रीगणेशजी माता पार्वतीके तनय हैं। एक दिन श्रीपार्वतीजी अन्तःपुरमें बैठी थीं। सखियां उन्हें उबटन लगा रही थीं। बीचमें शंकर जी आ गये, संकोचसे वे उठ खड़ी हुईं। शिवजीके चले जानेपर सखियोंने कहा "द्वारपर कोई अपनी ओरका रक्षक नहीं, यदि अपनी ओरका रक्षक होता तो इस प्रकार संकोच में न पड़ना पड़ता।" उबटन लगवाते हुए पार्वतीजी शरीर से निकलती मैलको एकल कर एक पुतला विनोदवश बना रही थीं। सखियोंकी बात सुनकर उन्होंने उस पुतले में प्राण डाल दिये। जीवित होकर पुतले ने मातासे आज्ञा मांगी "मैं क्या करूँ?", उसके हाथमें लाठी देकर माताने कहा "द्वारपर खड़े रहो। मेरी आज्ञा के विरुद्ध कोई अन्दर न आवे।"

गणेशजी द्वारपर लाठी लिये खड़े थे। शंकरजी भीतर जाने लगे तो उन्होंने रोका। इसी में बात बढ़ गई, गणोंको गणेशजी ने लाठी मारकर भगा दिया। सब देवता युद्धमें शंकरजी की ओर से आये। लाठियां मारकर गणेशजीने सबको पराजित कर दिया। अन्तमें शंकरजीने त्रिशूलसे उनका सिर काट दिया। इस समाचारसे गिरिजा अत्यन्त क्रोधित हुईं। उन्होंने कालीका रूप लिया। ऐसा प्रतीत होने लगा कि वे प्रलय करेंगी। देवताओं की प्रार्थनापर माता पुत्रको जीवित करने की शर्त पर शान्त हुईं।

शंकरजी के बताये अनुसार सद्य:जात शिशुका सिर गणेशजी के धड़पर लगाना था। निकट ऐसा हाथीका शिशु मिला, वही लगा दिया गया। गणेशजी का मुख हाथीका हो गया। एक युद्धमें उनका एक दांत भी टूट गया। गणेशजी का रंग अरुणवर्ण, उदर लम्बा और मोदक उन्हें प्रिय हैं। वे सम्पूर्ण देवताओं में प्रथम पूज्य हैं। ऋद्धि और सिद्धि उनकी दो पत्नियाँ हैं एवं वाहन चूहा।

**आध्यात्मिक अर्थ** - गणेश बुद्धिके अधिष्ठाता देवता हैं। शक्तिका सबसे प्रधान रूप बुद्धि है। बुद्धिके सदृश कोई बल नहीं होता। शक्ति कल्याणकी सहधर्मिणी है। उसके द्वारा कल्याणका प्रतिशोध नहीं होना चाहिये। पर शक्ति के पास जब तक विचाररूपी पुत्र न हो, वह कल्याणको चाहती नहीं। विचार उत्पन्न होनेपर पहले पहल वह ईश्वरको रोकना चाहती है। प्रायः प्रत्येक साधक एक ऐसी अवस्था में पहुँचता है, जब वह ईश्वरका अस्तित्व नहीं मानता। उसे सन्देह होता है कि ईश्वर नहीं है।

भौतिक शक्ति अथवा शक्तिके मैलसे उत्पन्न विचार कल्याणको रोकता है। वह केवल शक्ति का समर्थन करता है। उसके लिये शक्ति ही सब कुछ है। फलतः कल्याणकारी सात्विक भावोंसे उसका संघर्ष होता है। सब देवता उससे लड़ते हैं। तर्क सात्विकता में तथ्य नहीं पाता। वह दया प्रभृति सद्‌गुणोंको एक मानसिक दुर्बलता प्रतीत करता है। धर्मको मानना उसका काम नहीं। उस विचारसे सब सात्विक भाव पराजित हो जाते हैं।

जिसने कभी साधन किया होगा उसे अनुभव होगा - विचार जब धर्म और ईश्वरको अस्वीकार कर देता है तो वह कल्याण के द्वारा स्वयं नष्ट हो जाता है। जब धर्माधर्म कोई वस्तु नहीं तो विचारकी क्या आवश्यकता ? विचारकी यहाँ मृत्यु हो जाती है। किन्तु विचारहीन होते ही शक्ति चामुण्डा बन जाती है। वह जगतके विनाशमें प्रवृत्त हो जाती है। सात्विक भाव विनय पूर्वक उसे ऐसा करनेसे रोकते हैं, किन्तु विचार के बिना उसका शान्त होना सम्भव नहीं। अतः विचारको पुनः जीवित करना पड़ता है।

विचारको कल्याण - शिव के आदेशानुसार जीवित किया जाता है। उसका शरीर अर्थात् शक्ति तो वही रहती है पर सिर हाथीका लगा दिया जाता है। विचारका सिर विचारका विचार-क्षेत्र बढ़ जाता है। अब उसे केवल अपना नहीं विश्वका कल्याण सोचना है। वह सात्विक हो जाता है। सात्विक विचार सम्पूर्ण सात्विक भावोंसे श्रेष्ठ अतः प्रथम पूज्य है।

अब भी विचारके दो दांत हैं, वह तामसिकता और सात्विकतापर भी आघात करता है। स्वामिकार्तिक के युद्ध में, सद्‌भाव-विकारोंके संघर्षमें, उसका

एक दन्त टूट जाता है। उसे पता लग जाता है कि केवल तामसिकताका दमन करना है। विचार स्वयं रजोगुणका कार्य है, पर है सात्विक। उसका रूप अरुण और आहार सात्विक मधुर है। उसका उदर लम्बा है। विश्वकी समस्त बातें उसके पेटमें रहती हैं।

सात्विक विचार सर्वथा ऋद्धि-सिद्धिका दाता है। ऋद्धि और सिद्धि उसकी सहधर्मिणी हैं। चूहा उसका वाहन है। अकारण कुतरने वाला चपल चूहा, अहंकारपर विचार ही विजय पा सकता है। विचारके अतिरिक्त दूसरा कोई भी साधन अहंकारको वशमें नहीं ला सकता।

**आधिदैविक अर्थ** - योग के द्वारा कुण्डलिनी जागरण में मूलाधार के चक्रमें गणेशका साक्षात होता है। वहाँ साधनारंभ में बहुत से विघ्न आते हैं, उन गणों-विघ्नोंके नायक गणेशजी हैं। गणपतिका ध्यान उन सबको शमन कर देता है।

चक्र में ध्यान करते समय एक शक्ति प्रकट होती है। यह मनको प्रथम क्षुब्ध कर देती है। आनन्दको रोक देती है। साधक खिन्न हो जाता है। कोई भी प्राणायाम प्रभृति क्रिया उसे दबा नहीं पाती। आनन्द एवं शाक्तिकी उत्कट इच्छा के कारण वह शक्ति स्वयं मृतप्राय हो जाती है। यही कुण्डलिनी जागरणका समय है। कुण्डलिनीका प्रथम जागरण शरीर में एक अग्नि लगा देता है। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि अब मृत्यु समीप है। इस समय पुनः उस मृतप्राय शक्तिको जागृत करनेसे यह ताप शांत हो जाता है। पुनः जागृत होनेपर उस शक्तिमें बहुत कुछ परिवर्तन हो जाता है। वह ऐसी आकृति लेती है जिसे अरुण ज्योति कह सकते हैं। उसका अग्रभाग ठीक हाथीके मुखकी भांति है। कुण्डलिनी के तापको शमन करनेके लिये भी गणेशका ध्यान करना पड़ता है। इसी ध्यान से वह शक्ति जागृत होती है।

प्रथम चक्रके जागरणके साथ प्रतिभाका प्राकट्य होता है। काव्य शक्ति प्रादुर्भूत होती है। स्मरण रखना चाहिये कि सबसे प्रथम उपरोक्त शक्ति जागृत होती है और उसीका ध्यान करना पड़ता है, अतः वह प्रथम पूज्य कही गई।

शक्ति यदि पूर्णतः जागृत हो जाय तो साधकको इसी चक्र में सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। प्रतिभा रूपी ऋद्धि (धन) और सिद्धि यही दो गणेश की पत्नियां हैं।

इस शक्तिके जागृत होनेपर साधक अहंकारपर अंकुश रखने में समर्थ हो जाता है। उसे वह विचार शक्ति प्राप्त हो जाती है, जो अहंकारको नियन्त्रित करे। यह दूसरी बात है कि वह शक्तिका उपयोग न करे और अधिक अहंकारी हो जावे। इतना और ध्यान रखना चाहिये कि गणेशका उदर लम्बा और भोजन मोदक है। इस शक्तिके जागृत होते ही साधककी भूख बहुत बढ़ जाती है। उसे पौष्टिक, मधुर और धृतसे परिप्लुत आहार करना चाहिये।

**कुछ स्फुट बातें** - पशुओंमें सबसे बड़े सिरका हाथी है। सबसे अधिक समझदार पशु भी वही है। बुद्धिके देवताकी आकृति में उसका सिर सबसे बड़ा दिखाना चाहिये और यह हाथीका सिर हो सकता था। वैज्ञानिकोंने खोज करके यह पता लगा लिया है कि चूहा सबसे अहंकारी पशु है। कम-से-कम उससे अधिक चंचल तो पशु मिलेगा नहीं। चंचलता के साथ वह छोटा और दुर्जय भी है। उसकी नई-नई जातियां परिस्थितिके अनुसार बहुत शीघ्र बन जाती हैं। उष्ण देशका चूहा टुण्ड्रा में भले मर जाय, पर एक नई संतति ऐसी छोड़कर मरेगा जो वहाँ भी रह सके। अहंकारकी भी यही दशा है। गणेशजी बुद्धिके देवता हैं, चूहे पर बैठते हैं, अर्थात् अहंकारको वही दबा सकते हैं। बुद्धिके साथ अहंकार अवश्य रहता है, पर रहता है दबा हुआ। जो अहंकारको प्रकट रखे वह बुद्धिमान नहीं। बुद्धिका पेट तो लम्बा है ही। कल्पनाकी दृष्टिसे भी गणेशजीकी आकृति अत्यन्त श्रेष्ठ भावकी अभिव्यंजक कला है।

***

# शक्ति

**मूलकथा** - दक्ष प्रजापतिकी पुत्रियों में से एकका नाम सती है। उनका विवाह शिवसे हुआ। ब्रह्माकी सभा में दक्षके आनेपर शिवजी खड़े नहीं हुए, इससे दक्ष रुष्ट हो गये। इसी रोषके आवेश में उन्होंने शिवको शाप दिया। कालान्तर में दक्षने प्राजापत्य यज्ञ किया। उसमें केवल शंकरजी नहीं बुलाये गये थे। सती पिताके यहाँ यज्ञ होनेका समाचार पाकर वहाँ जानेको उत्सुक हुई और शिवके मना करनेपर भी चली गई। यहां यज्ञमें शिवका भाग न देखकर उन्हें क्रोध हुआ और उन्होंने योगाग्निसे अपने शरीरको भस्म कर दिया। सतीके भस्म होनेपर शिवगणोंने उत्पात किया, जिन्हें भृगुने दक्षिणाग्निसे ऋभु नामक गण उत्पन्न करके भगा दिया। समाचार पाकर रुद्रने वीरभद्रको भेजा और उन्होंने यज्ञ ध्वंस कर दिया। देवताओंकी पुनः प्रार्थना से प्रसन्न होनेपर शिवजीने बकरेका सिर दक्षके धड़पर रखकर उसे जीवन दिया।

सती हिमालय के घर पार्वती रूपसे प्रकट हुई। तपस्या करके उन्होंने पुनः भगवान् शंकरको पति रूपसे पाया। उन्हीं से कुमार कार्तिककी उत्पत्ति हुई। गणेश उनके पुत्र हैं। दैत्योंके वधके लिये उनसे समयपर चामुण्डा, काली, दुर्गा, तारा, छिन्नमस्ता प्रभृति शक्तियाँ प्रकट हुई हैं। प्रधानतया गौरी, काली और दुर्गा ये तीन रूप उनके हैं।

शक्तिका वाहन सिंह है। लाल वस्त्र, लाल पुष्प प्रभृति उनके आभूषण हैं। वे द्विभुजसे लेकर सहस्त्र भुज तक रूप धारण करती हैं। शिवकी वे अर्धाङ्गिनी हैं। गौरी रूपमें वे सदा शिवके संग रहती हैं। काली रूप में शिवके महाकाल रूपसे उनका साहचर्य है। वे शिवके वक्षपर चरण रखे खड़ी हैं। दुर्गा रूपमें वे पालिका और संहारिका दोनों हैं। वे जगन्माता और जगन्मयी हैं।

**आध्यात्मिक अर्थ** - शक्तिके तीन रूप राजसिक, सात्विक और तामसिक होते हैं। वह सात्विक शक्ति शिव - कल्याणकी सहचरी है, यह गौरी है। राजस शक्ति अहंकारमयी है, वह अपनोंका पालन और दूसरों का संहार करती है। वह शिवके साथ नहीं, पर शिवकी विरोधिनी भी नहीं। उसीको दुर्गा कहते हैं। तामस शक्ति काली है। मदोन्मत शक्ति दूसरोंका रक्तशोषण करती है, जगतमें भय फैलाती है और शिवकी छाती पर नाचती है। अपने कल्याणको रौंदती है। यह तो प्रधान भेद हुए, और भी अनेक भेद प्रवृत्तिके अनुसार शक्तिके होते हैं।

दक्ष-कुशलताकी पुत्री हैं सती। कुशलता प्रजाका पालन करती है। पर जब उसमें अहंकार आ जाता है तो वह कल्याणका विरोध करती है। फलत: उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है। उसकी पुत्री शक्ति जो शिव (कल्याण) की सहधर्मिणी है, शरीर छोड़ देती है। कौशल्य अहंकारवश अपने को कुछ समय सात्विकताके ढोंग में बचाये रहता है, पर कल्याणका विरोधी होनेसे रुद्रके गण, वीरभद्र अर्थात् कालके परिणाम आघात से उसका भण्डा फूट जाता है। समय उसकी पोल खोल देता है। कुशलता थोड़ी देरको मर जाती है। सात्विक वृत्तियोंकी प्रार्थनापर शिव उसे पुन: जीवन देते हैं। कल्याणकारी कार्योंसे कुशलता की फिर प्रतिष्ठा होती है, पर उसका रूप विकृत रहता है। उसे पुनः वही सम्मान नहीं मिलता।

सती हिमालय के यहां प्रकट होती हैं। शक्तिका स्थिर रूप कुशलता में नहीं, धैर्यमें प्रकट होता है। धैर्यकी शक्ति कल्याणको प्राप्त करने के लिये बहुत उद्योग करती है। पर्याप्त कष्ट सहनके पश्चात वह शिवको पाती है। वह कल्याणकी अर्धांगिनी बन जाती है।

सात्विक शक्ति शान्त होती है। जब-जब दुर्वृत्तियाँ सात्विक वृत्तियोंका दमन करने लगती हैं, शक्तिको उनका दमन करना पड़ता है। देवताओंकी असुरोंपर विजय शक्तिके द्वारा होती है। दुर्वृत्तियोंके प्रकार भेदसे शक्तिके रूप अनेक हो जाते हैं जो उनका दमन करते हैं।

षडानन और गणेश शक्ति पुत्र हैं। उद्योग और विचार दोनों शक्तिसे प्रकट होते हैं। उद्योगके छः मुख हैं - स्थिति, बढ़ना, घटना, प्रत्यक्ष, गुप्त,

स्वाकल्प। वनराज शक्तिका वाहन है। वीरतापर शक्ति बैठती है। लाल रंग शक्तिका सूचक अथच उसका प्रिय वस्त्राभूषण है। द्विभुजसे लेकर सहस्त्र भुज तक समस्त प्राणियों में शक्तिका निवास है और उसके उतने ही रूप हैं।

**आधिदैविक अर्थ** - मूलाधारके ऊपर स्वाधिष्ठान नामक चक्र है। वह मूत्रेन्द्रियकी सीध में मेरुदण्डमें है। यही शक्तिका स्थान या पीठ है। अधिकांश तान्त्रिक साधन-प्रणालियां इसीको जागृत करनेके लिये होती हैं। यदि मूलाधारको न जागृत करके इसे जागृत किया जाय तो भी कोई हानि नहीं। शक्ति जागृत होनेपर नीचेका चक्र स्वयं जागृत हो जाता है। शक्तिसे गणेश प्रकट हो जाते हैं। शक्तिके जागृत होनेपर दूसरी शक्ति साधकको असीम उद्योगकी मिलती है। दुर्वृत्तियों के दमनके लिये उसमें अपार उद्योग आ जाता है। यही षड़ानन कुमार कार्तिक हैं।

चक्र जागत करते समय नाना प्रकारकी बाधाएँ आती हैं। जैसी बाधा हो उसके लिये शक्तिका वैसा रूप है। शक्तिके उस रूपके ध्यानसे बाधा निवृत्त हो जाती है। दुर्गा, काली आदि उसी ध्यानके भिन्न-भिन्न रूप हैं। इस चक्र के जागरणसे साधकको अपार शक्तिका लाभ होता है। शारीरिक और मानसिक शक्तियाँ उसे मिलती हैं।

शक्तिका प्राकट्य तो दक्षतासे होता है। चक्र जागृत करनेमें दक्षता चाहिये। किन्तु दक्षता में अहंकार आते ही कल्याणका विरोध होता है। यह प्रायः प्रत्येक साधक में अनिवार्यतः होता है, इस समय शक्ति अदृश्य हो जाती है। अविचल धैर्यसे साधन करनेपर, वह धैर्यसे फिर प्राप्त होती है। दक्षताका रूप विकृत हो जाता है। साधक समझता है "प्रभुकी शक्ति से मैं कर रहा हूँ, मेरी चतुरता पूर्णतः काम नहीं देगी।" शक्ति के प्रकट होने पर भी, शिव कण्ठचक्र तक पहुँचानेके लिये उसे बहुत तपस्या करनी पड़ती है। बीचमें ब्रह्मा उसकी सहायता करते हैं और विष्णुका प्रलोभन उसे दिया जाता है।

एक बार चक्र जागृत हो जानेपर पुनः साधकसे वह शक्ति जाती नहीं। किन्तु यदि साधक तामसिक हो गया तो वह उसके कल्याणको कुचल देती है। साधक अपना अकल्याण करने लगता है। राजसवृत्तियों में पड़ने पर शक्ति से

साधकका पालन अवश्य होता है, पर वह शिवकी ओर गति नहीं कर पाता। उसकी गति वहीं रुक जाती है।

वृतियोंके प्रबल होने पर यदि साधक स्थिर होकर शक्तिका ध्यान करे तो उसे अनेक प्रकारकी शक्तियां प्राप्त होती हैं जो उनका दमन करती हैं। शक्तिके साधकको रक्त-वस्त्र, लालपुष्प प्रभृतिका स्वयं तथा पूजा में उपयोग करना चाहिये। इससे शीघ्र चक्र जाग्रत होता है। शक्तिका वाहन सिंह है। जो साधक शक्ति चक्रको जागृत करके शक्तिका वहन करता है, वह सिंहके समान वीर, बलशाली और विरोधियोंके लिये भयंकर हो जाता है। वह इस प्रकृति वनका राजा होता है।

कुण्डलिनी शक्ति इस चक्र में पहुँचकर साधककी भावनाके अनुसार अनेक रूप धारण कर लेती है। द्विभुजसे लेकर सहस्त्रभुज पर्यन्त उसके रूप होते हैं। किसी भी रूपका साधक ध्यान कर सकता है। यह उसकी रुचि और प्रवृत्तिपर निर्भर है। भिन्न-भिन्न रूपों में कुछ अन्तर भी होता है जो शास्त्रों में वर्णित है।

**कुछ स्फुट बातें** - कोई नहीं कह सकता कि शक्तिका यही एक रूप है। राजस-तामस आदि भेदसे शक्ति के रूप अनेक हो जायेंगे। यदि शक्ति की देवीका चित्र बनाना हो तो रक्तवसना, सिंहवासिनी यही उपयुक्त चित्र होगा। सौम्या हुई तो वह गौरी और ओजस्विनी हुई तो दुर्गा। युद्धकी रणचण्डीका रूप शवपर खड़ी, मुण्डमाला पहने, हाथमें रक्त सना खड्ग और रक्त भरा खप्पर लिये, जलती अग्नि और नर कपाल उठाये, रक्त पीनेको जीभ निकाले, काली, केश बिखराये, अरुण नेत्रोंवाली, भयङ्कर क्रोधपूर्ण मूर्तिके अतिरिक्त दूसरी कल्पना हो नहीं सकती। शक्तिकी दूसरी मूर्तियाँ भी अपने विषय के अनुरूप बनी हैं।

***

# मदन दहन

**मूलकथा** - दक्षकी पुत्री सतीसे भगवान शिवका विवाह हुआ था। ब्रह्माकी सभा में आसनसे उठकर सम्मान न करनेके कारण दक्ष शंकरसे रुष्ट हो गये। जब दक्ष प्राजापत्य यज्ञ करने लगे तो उन्होंने शिवको निमन्त्रित नहीं किया। पिता के घर यज्ञका समाचार पाकर सती शंकरजी के मना करनेपर भी जा पहुँचीं। यज्ञमें शिवका भाग न देखकर उन्हें बड़ा अपमान बोध हुआ और उन्होंने योगाग्निसे शरीरका त्याग कर दिया।

सतीका दूसरा जन्म पार्वती रूपसे हिमालय के घर हुआ। नारदके आदेशसे उनका शिव-चरणोंमें बाल्यकाल से अनुराग था। इधर शंकर हिमालयपर तपस्या करने आये। पर्वतराजने पुत्रीको उनकी सेवा में नियुक्त कर दिया। पार्वती शंकरजीकी सेवा करने लगीं। देवताओंको तारक नामक दैत्यने पराजित करके स्वर्ग से भगा दिया था। उसे परास्त करने के लिये शिवके वीर्यज पुत्रकी आवश्यकता थी। शिवको पार्वती में अनुरक्त करने के लिये देवताओंने कामको भेजा।

काम आया, उसने समस्त चेष्टा करके जब सफलता होते न देखी, बसन्तकी मादकता और कोकिलकी काकली जब व्यर्थ हो गई तो उसने धनुष उठाया। सम्मोहन बाण चला, एक क्षणके लिये शिवकी समाधि टूटी। तनिक विकार हुआ, पार्वतीपर दृष्टि गई। तुरन्त सावधान होकर विकारका कारण ढूँढने लगे। कामपर दृष्टि पड़ी, तृतीय नेत्र खुला और वह उसकी ज्वालामें भस्म हो गया। रति बिलखती रोती आई। उसे वरदान मिला कि तेरा पति श्रीकृष्ण के पुत्रके रूपसे प्रकट होगा। शिव वहाँसे चले गये। निराश पार्वतीने घोर तप किया। विष्णुके आग्रहसे शिवने उमाका पाणिग्रहण किया। उनसे कुमार कार्तिक उत्पन्न हुए, जिन्होंने तारकको मारा।

**आध्यात्मिक अर्थ** - दक्षताकी पुत्री सती - पवित्रता या शक्ति, शिवकी पत्नी हैं। कर्ममें दक्ष चाहता है कि कल्याण उसका अनुगमन करे। यह नहीं होनेपर वह रुष्ट होता है और वास्तविक आत्मकल्याणकी उपेक्षा करके यज्ञादिमें लग जाता है। शक्ति दक्षके यज्ञका समाचार पाकर बिना बुलाये आती हैं। आत्म-कल्याण को यह स्वीकार नहीं कि दक्षके बहिर्मुख यज्ञमें शिवकी पत्नी जावें। यज्ञमें शिवका भाग न देखकर तनिक भी आत्मदृष्टि न होनेके कारण वह शक्ति नष्ट हो जाती है।

जब आत्म-कल्याणके इच्छुकके पास शक्ति नहीं होती तो वह तपस्या करता है। शिव सती से रहित होकर तपस्वी हो जाते हैं। वह सती जो हिमालय से धैर्यके यहाँ, पार्वती स्थिरता रूपसे जन्म लेती हैं, मनकी प्रेरणा से शिवपर अनुराग रखती हैं। तपस्वी शिवकी सेवा स्थिरता रूप पार्वती करती हैं। तपस्वी के साथ स्थिरताकी शक्ति होती ही है।

जब शिव तपस्वी हो जाते हैं तो सात्विक वृत्तियोंपर तारक असुर विजय पा लेता है। मुक्तिकी कामना है और वह सात्विक भावोंसे बलवान हो जाती है। तपस्वी सत्वगुणको भी छोड़ देना चाहता है। तारकको मारने के लिये शिवका औरस पुत्र चाहिये। आत्मानन्दका प्रादुर्भाव ही उस वासनाका नाश कर सकता है।

देवता चाहते हैं कि शिव स्थिरता रूपी शक्ति में प्रतिबिम्बित हों। वे स्थिर शक्तिमें अनुरक्त हों। तपस्या में वासना आती है। तपस्या में जब ऋतु आदिके प्रभाव विकार नहीं उत्पन्न कर पाते तो उसे अपनी स्थिरतापर गर्व होता है। वह उससे अनुराग करता है। केवल एक क्षणके लिये ज्यों ही वह स्थिरता में अपनी आसक्ति देखता है, उसे मूल में वासनाओं का मूल अहंकार दिखाई देता है। ज्ञान नेत्र खुलता है। विचार के द्वारा अहंकार नष्ट हो जाता है।

रति अर्थात् आनन्दानुभव वृत्ति जो कामनाओं में आनन्द पाती थी, वह अनाश्रित होकर शिवकी शरण आती है। तपस्वी शिव उसे वरदान देते हैं कि श्रीकृष्णका पुत्र उसका पति होगा। आत्माका आकर्षण उसे आनन्द देगा। आत्मानन्दकी इच्छा में उसे सुख मिलेगा।

तपस्वी स्थिरतामें आसक्ति देख उसे छोड़कर विचारमें लग जाता है। शिव तपस्या से विरत हो, वहाँ से चले जाते हैं। पार्वती घोर तपस्या करती है। जब तपस्वीमें एक बार अपनी स्थैर्य शक्तिपर गर्व हो जाता है, तो पुनः उसे तपस्या में आत्मदर्शन नहीं होते। पर वह उसी स्थिरता से तपस्या करता है। अन्तमें स्थिरताका पाणिग्रहण विष्णुके आग्रहसे शिवको करना पड़ता है। व्यापक तत्व स्थिरता युक्त चित्त में प्रतिबिम्बित होता है और स्थिरता आत्म कल्याणसे संयुक्त हो जाती है। जब शिव शक्ति युत हो जाते हैं तो उनसे कुमार कार्तिक होते हैं। अपनी स्थिरता में कल्याण को पानेके पश्चात् योगी लोक-कल्याणके लिये उद्योग करता है। यह लोक कल्याणका उद्योग जो षट्मुख है (स्थित आदि रूपसे) उस मुक्ति कामना को नष्ट कर देता है।

**आधिदैविक अर्थ** - दक्षके और पार्वती के जन्मका रहस्य शक्ति प्रकरण में बताया जा चुका है। जब स्वाधिष्ठान में साधन करते समय, दक्षता में अहंकार होने के कारण, वह नष्ट हो जाती है और शक्ति पुनः धैर्य पुत्रीके रूप में उपलब्ध होती है, तो वह साधनमें सहायता करती हैं। यह शिवकी सेवा है।

मुक्तिकी उत्कट कामना तारकासुर है। इससे सात्विक वृत्तियोंका तो दमन हो जाता है, और साधन में घोर राजस प्रवृत्ति बढ़ जाती है। आवश्यकता यह है कि सात्विक वृत्तियोंके साथ लोक-कल्याणका उद्योग हो। यदि साधक विश्व हितको भी ध्यान में रखेगा तो मुक्तिकी कामना राजसिक नहीं बनेगी। लोक कल्याणका उद्योग कल्याण पुत्र है। वह मुक्ति की आसुरी कामनाका नाशक है।

स्वाधिष्ठान चक्र में अहंकारका नाश तो हुआ नहीं होता। स्थिरता साधनसे मिलकर बहुत-सी सिद्धियाँ उपस्थित करती है। ये सिद्धियाँ सात्विक शक्तियों की प्रेरणा से आती हैं। सत्वगुण उन्हें प्रेरित करता है। एक बार साधकमें कामना होती है, उन्हें स्वीकार कर लेनेके लिये। सिद्धि जो स्थिरताका रूप है, उसमें आसक्तिका उदय होता है। विचार इस आसक्तिको नष्ट कर देता है। कामना जल जाती है। जैसे ही साधक प्रलोभनके मूलकारण कामनापर विचार करता है, वह ज़ान नेत्रका प्रकाश पड़ते ही नष्ट हो जाती है।

आनन्द तो चाहिये। रति यदि कामनामें न हो तो कहीं तो रहे। उसे आत्मानन्दके आकर्षण में स्थान मिलता है। विषयोंसे आनन्दकी इच्छा न होकर आत्मानन्दकी इच्छा होती है। वह आत्मानन्द तब तक प्राप्त नहीं होता। साधक विषयोंकी कामनाको नष्ट करके रति (रुचि) को केवल वरदान देता है कि कृष्ण (आत्मा) का पुत्र तेरा पति होगा। आत्मानन्द की जब उपलब्धि होगी तो रुचि वहीं लगेगी।

अब कल्याण के लिये तपस्या होती है। शक्ति कल्याण के पास पहुँचने के लिये कठोर साधन करती है। साधन बराबर चलता रहे तो हृदय चक्र में पहुँच कर विष्णुकी प्रेरणासे, शक्ति पुनः कण्ठचक्रमें शिवसे मिलती है। शिव उसका पाणिग्रहण करते हैं। शक्ति कल्याणकी सहधर्मिणी तो वहीं बनती है। उससे पूर्व उसे साधन करना है। यदि वह पार्वती होकर तपस्या न करेगी तो अधःपात होगा। पार्वतीकी गति तो एकमात्र शंकर हैं। स्वाधिष्ठान चक्र जागृत होनेपर साधकको भ्रष्ट होने का डर नहीं रहता। यद्यपि विघ्न बहुतसे आते हैं, पर शक्ति उसे कठोर साधनमें स्वतः प्रेरित करती है। शक्तिकी यह प्रेरणा कण्ठचक्र तक पहुंचनेके लिये है। साधक वहां पहुँचे बिना रह नहीं सकता। कण्ठचक्र आचार्य भूमि है। यहां साधक में लोक-कल्याणका उद्योग प्रकट होता है। इसके ऊपर तो फिर साधकको शरीरका भान भी नहीं रहता। कण्ठमें अपनी मुक्तिकी चिन्ता छूट जाती है। शिव कल्याणके लिये उद्योग होता है।

***

# रक्तबीज वध

**मूलकथा** - शुम्भ और निशुम्भ ये दोनों महादैत्य थे और उन्होंने देवताओंको परास्त कर दिया था। विश्व के सब प्रमुख ऐश्वर्य उनके पास थे। देवता उन दोनोंसे अत्यन्त तंग आ गये थे। देवताओंने शक्तिकी प्रार्थना की। पार्वतीसे एक शक्ति गौरी प्रगट हुई जिन्होंने असुरोंके वधका वचन दिया। गौरीके पृथक होने से पार्वती काली हो गई।

गौरी हिमालय के शिखरपर बैठी थीं। शुम्भ के एकदूतने उन्हें देखा और शुम्भसे जाकर उनके सौन्दर्यकी प्रशंसा की। दूत भेजकर शुम्भने गौरीसे अपना पत्नीत्व स्वीकार करनेको कहा। गौरीने उत्तर दिया "मैं उससे ब्याह करूंगी जो मुझे युद्ध में पराजित कर देगा।" शुम्भने पहले धूम्रलोचन को कुछ सेनाके साथ भेजा जो गौरीके हुंकारसे भस्म हो गया।

शुम्भका सेनापति रक्तबीज युद्धमें आया। इसी समय समस्त देवताओं की शक्तियाँ भी युद्ध में देवीकी सहायता के लिये अपने-अपने वाहन और वेशमें आईं। जैसे ब्रह्माकी शक्ति हंसवासिनी और इन्द्रकी शक्ति वज्रहस्ता। रक्तबीज का एक बिन्दु रक्त पृथ्वीपर गिरने से सहस्त्र रक्तबीज उत्पन्न होते थे। शक्तियोंके प्रहार से रक्तबीजों की संख्या बहुत बढ़ गई। अन्त में देवीने चामुण्डाको उत्पन्न किया। वह कङ्काल मात्र और काली थी। देवी रक्तबीजको मारती और चामुण्डा मुख फैलाकर उसका रक्त पी लेती। इस प्रकार रक्तबीज मारा गया।

रक्तबीज मारे जाने पर निशुम्भ युद्धमें आया और वह भी देवी के हाथों यमलोक पहुँचा। शुम्भने आकर कहा "तूने इन सब शक्तियोंके बलसे युद्ध किया।" देवीने सब देव-शक्तियोंको अपने में अन्तर्हित कर लिया। अकेले उन्होंने युद्ध में शुम्भका वध किया।

**आध्यात्मिक अर्थ** - राजस और तामस अहंकार के प्राबल्यसे समस्त सात्विक वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं। ओज, तेज प्रभृति समस्त सात्विक वृत्तियोंके ऐश्वर्य का ये अपहरण कर लेते हैं। देवताओंको शक्तिकी शरण में जाना पड़ता है। स्थिरता रूपी पार्वतीसे सात्विक शक्ति प्रकट होती है। स्थैर्य के कार्य क्षेत्र में दो रूप हो जाते हैं - शान्त और उग्र। गौरी और काली यही हैं।

अहंकार चाहता है कि शान्ति पत्नी होकर रहे। वह शान्तिके सौन्दर्यपर मुग्ध है। पर शान्ति उससे संघर्ष चाहती है। शान्ति उसे मिलेगी, जो जीवन संघर्षमें विजयी हो। शान्ति के लिये पहले कठोर श्रम होता है। पर वह धूम्रलोचन शान्तिके सम्मुख टिक नहीं पाता। शान्ति और आवेशपूर्ण श्रमका क्या समन्वय? अहंकारका सेनापति मन युद्धमें आता है।

समस्त सात्विक भावोंकी शक्तियाँ शान्ति के साथ हैं। मनको एक ओरसे दबाओ, तो वह दूसरी अनेकों कल्पनाएँ खड़ी कर देता है। रक्तबीजका रक्त बहुतसे रक्तबीज उत्पन्न करता है। मन जब तक एक ओर जाता है, उसे जाने दो तो ठीक, जहाँ उसे रोका, उसपर आघात किया, वैसी सैकड़ों वासनाओंके रूपमें वह सम्मुख आवेगा।

रक्तबीजके वधका उपाय है कि चामुण्डा उसका रक्त पीती जावे और गौरी उसे मारती जावे। साधन शक्ति मनके संकल्प-विकल्पों का शमन करती रहे और शान्ति मनको दबाती रहे। यह साधन शक्ति तीव्र साधन रूप होनी चाहिये और शान्तिकी इच्छासे ही यह प्रकट होती है। मनके संकल्प-विकल्प नष्ट होनेपर वह सूखकर मर जाता है। उसके पश्चात् आलस्य प्रभृति तामस अहंकार आता है और वह भी सात्विक शक्तियोंके द्वारा शान्तिसे मारा जाता है। तामसिक नष्ट होनेपर सब सात्विक भाव शान्तिमें विलीन हो जाते हैं। शान्तिकी आनन्दमयी स्थिरता राजस अहंकारको स्वयं नष्ट कर देती है।

**आधिदैविक अर्थ** - यह शाक्त साधन है और इस प्रणालीके अनुयायी शक्तिको परम देवता मानते हैं। वे स्वाधिष्ठानमें कुण्डलिनी शक्तिको जागृत करके वहीं अहंकारकी इति करते हैं। उस चक्रसे ऊपर गतिकी आवश्यकता न

मानते हुए वहीं जागृत शक्तिपर, अनवरत संयम द्वारा, अहंकारका नाश उन्हें अभीष्ट है।

गति हो ही यह आवश्यक नहीं। गति एक विकासी साधन है और स्थानपर संयम नैष्ठिक। कहीं भी साधनको दृढ़ करनेपर लक्ष्यकी प्राप्ति हो सकती है। पूर्ण एकाग्रता किसी भी चक्र में होनेपर वह अहंकार नाशका कारण बनेगी। गति केवल साधनको सरल कर देनेके लिये होती है। मूल लक्ष्य एकाग्रता है जो कहीं भी दृढ साधन से होती है।

शान्तिका साधक जब स्वाधिष्ठानको जागृत करने लगता है तो उसमें रजोगुण और तमोगुण दोनों बढ़ जाते हैं। घोर उद्योग करनेको जी चाहता है और निद्रा तथा आलस्य भी बढ़ते हैं। सात्विक भावोंका संयम करके साधन करनेसे जागृत कुण्डलिनी शक्तिका प्रादुर्भाव होता है। वह तेजोमय और अत्यन्त आकर्षक है। कुण्डलिनी उसके प्रकट होनेपर काली हो जाती है।

साधनका अहंकार उस शक्तिपर भी अधिकार करना चाहता है। दूसरी सिद्धियोंकी भांति वह उस शक्तिको भी एक सिद्धि बनाना चाहता है। ऐसा सम्भव नहीं। उस शक्तिको पाने और अधिकार करनेके लिये युद्ध होता है। साधनके द्वारा शक्तिपर अधिकार न पानेसे क्रोध होता है, झुंझलाहट आती है। किन्तु यह तुरन्त नष्ट हो जाती है। देवी के सम्मुख वह साधक में नहीं रह सकती। कुण्डलिनी, जो शक्तिके निकलने से क्षीण हो गई है, वह आसुरी भावोंको खाती रहती है। प्रायः सब आसुरी भाव उसके द्वारा उदरस्थ कर लिये जाते हैं। मनका संकल्प-विकल्पमय रूप सामने आता है।

राम-रावण युद्ध, महाभारतका संग्राम और शुम्भ-निशुम्भ वध प्रायः एक ही प्रकारके रूपक हैं। केवल उपासना भेदसे कुछ नामों और शेष क्रियाओंमें अन्तर पड़ता है। नहीं तो सबमें राजस और तामस अहंकार प्रधान हैं और सात्विक तथा आसुरी भावोंका युद्ध बतलाया गया है। देवासुर संग्राम इसका मूल रूप है। ऋग्वेद के इस संग्रामको उपासना भेदसे पुराणोंमें कई रूप मिले। युग और कल्प भेदसे घटनाओं में अन्तर भी होता है। पर अन्तर कम होता है, अधिकांशत: केवल आवृत्ति होती है।

देवी के साथ सम्पूर्ण सात्विक भावोंकी शक्ति है। सब सात्विक भाव उस समय साधक में जागृत हो जाते हैं। मनके ऊपर एक प्रहार करो तो वह अनेक रूप धारण करता है। साधकके सम्मुख अनेक दृश्य आते हैं। यदि एक मनको हटाओ तो सहस्त्रों दूसरे आ जाते हैं। शक्तिका ध्यान तो होता नहीं, एक नवीन विश्व दृष्टिमें आता है। उसे सात्विक भावोंका आश्रय लेकर जितना दूर करना चाहो, उतना ही बढ़ता जाता है। इस समय शक्ति का ध्यान छोड़कर कुण्डलिनीको प्रेरित करो। सारे दृश्य कुण्डलिनी में लीन होते रहेंगे। एक बार कुण्डलिनीको प्रेरित करके, फिर शक्तिका ध्यान मनमें संकल्प-विकल्पोंका नाश कर देगा।

कुछ कालके लिये आलस्यादि बढ़ जाते हैं, पर शक्तिका साधन उसे नष्ट कर देता है। अब केवल साधनका राजस अहंकार "मैं साधन करता हूँ" और सात्विक भाव शक्तियाँ रह जाती हैं। इनमें से पहिले सात्विक भाव शक्तियाँ शक्ति में लीन हो जाती हैं। शान्तिके ध्यानसे उनका लय होता है। अन्तमें साधनका अहंकार भी नष्ट हो जाता है। यह साधन साध्य नहीं। इसे शक्ति स्वयं करती है। शक्तिके साधककी यही त्रिगुणातीत अवस्था है। केवल आराध्य मात्र अवशेष रहता है। आराधक का अहं भी नहीं रह जाता।

***

# ब्रह्मा

**मूलकथा** - भगवान् विष्णु जब प्रलयके समय क्षीरसिन्धु में शयन कर रहे थे तो उनकी नाभिसे एक कमल प्रगट हुआ। उस कमलके विकसित होनेपर उसमें ब्रह्मा प्रकट हुए। उनके चारों ओर देखनेके कारण चार मुख हो गये। ब्रह्माने कमलका उद्‌भव स्थान जानना चाहा और इसलिये कमल-नाल पकड़कर जल में प्रविष्ट हुए। वे बहुत दिनों तक जलमें जाते ही रहे पर कमलका उद्‌भव न मिला। निराश होकर जब वे लौटे तो अपने हृदयमें उन्हें भगवान् विष्णुके दर्शन हुए।

सृष्टि कार्य में प्रवृत्त होनेके लिये उन्हें ज्ञानकी आवश्यकता थी। उन्हें तप करनेका भगवानसे आदेश मिला और तपस्याके अन्त में अपने भीतर उन्होंने समस्त सृष्टिको देखा। वे मानसिक सृष्टि करने लगे। इस सृष्टिमें यह दोष था कि वह बढ़ती नहीं थी। अन्त में ब्रह्माने मैथुनी सृष्टि की जो बढ़ने लगी।

सृष्टि कार्य में कई बार ब्रह्माको अपना शरीर छोड़ना पड़ा। जिस गुणके शरीर से उन्होंने राजसिक या तामसिक सृष्टि की, उसे तुरन्त छोड़ दिया। अपनी ही लड़कीके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर वे उसके पीछे दौड़े। उनके मानस पुत्रोंने प्रार्थना करके उन्हें रोका और लज्जासे ब्रह्माने वह शरीर छोड़ दिया। वे सृष्टि के कर्ता हैं।

ब्रह्माजीके चार मुख हैं। वेदोंका उन्हींसे प्रादुर्भाव हुआ है। उनका वर्ण लाल है और वाहन हंस है। सरस्वती उनकी पत्नी हैं। दैत्योंने तपस्या के द्वारा प्रायः उन्हें प्रसन्न करके वरदान प्राप्त किया। साधारणतया ब्रह्मा की उपासना नहीं होती। कोई सात्विक पुरुष उनको इष्ट नहीं बनाता। उनका एक नाम हिरण्यगर्भ स्वरूप सूचक है।

**आध्यात्मिक अर्थ** - अन्तःकरण ब्रह्माका स्वरूप है। उसके चार मुख या भाग हैं - मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। प्रलय के समय जब प्रकृति साम्यावस्था में होती है, चेतन के संयोग से उसमें क्षोभ होता है। व्यापक तत्वकी नाभि या केन्द्र वही है जहाँ हम उसका सानिध्य प्राप्त कर सकें। कमल स्वयं जलज होनेपर भी सूर्योन्मुखी है, ऐसे ही अन्तःकरणका अधिष्ठाता चेतन जीव परमात्माको चाहता है। जीवका विकास परमात्मा के सम्मुख होनेपर होता है। जीव उस परमात्माका अंश है, वह उसीकी नाभि से प्रकट हुआ कमल है। इसी जीवके आधारपर अन्तःकरणका प्राकट्य होता है।

बुद्धि चित्तादि चाहते हैं कि हम अपने उद्गमका पता लगा लें। वे प्रयत्न भी करते हैं, पर यह उनके बसका नहीं। निराश होकर जब एकाग्र होते हैं तो अपने भीतर परमात्माका साक्षातकार होता है। तपस्याका आदेश हमें उसी प्रभुसे मिलता है। भीतरसे प्रेरणा होती है "ज्ञान प्राप्ति के लिये कष्ट सहो"। अन्तःकरणकी तपस्या है एकाग्रता। एकाग्र होनेपर उसे अपने भीतर ही कार्यका ज्ञान प्राप्त होता है।

पहले विचार मन में आते हैं। जब तक, विचार तक ही चित्त सीमित है, तब तक वे केवल अपना स्थिर संस्कार छोड़ जाते हैं। विचार सृष्टि बढ़ती तो तब है जब वह कार्यरूपमें परिणित हों। एक प्रकार के विचार मनमें तब आते हैं जब चित्त एक गुणकी प्रधानता में होता है। किसी भी प्रकार के विचारोंके पश्चात् चित्त उस गुणका आश्रय छोड़ देता है। जैसे वह रजोगुण प्रधान होकर राजस विचार कर रहा था, तो उस गुणको छोड़कर सात्विक हो जाता है। यही उसका शरीर त्याग है। यह परित्यक्त शरीर नष्ट नहीं होता। उस समय के विचारोंके संस्कार उसी गुणके आधारपर चित्तमें रहते हैं।

सौन्दर्य एक भावना है, अपनी भावनापर चित्त मुग्ध हो जाता है। स्वयं किसी में सौन्दर्य मानता है और उसे पाना चाहता है। चित्तकी सात्विक वृत्तियाँ इसका विरोध करती हैं। यदि सचमुच चित्त लज्जित हो जावे, तो वह अपने उस वासना शरीरको छोड़ देता है। यह सारी सृष्टि ब्रह्माकी बनाई है। ब्रह्माका कार्य है सृष्टि करना। वे कभी विराम नहीं लेते। हमारी भावना इस संसारको व्यक्त

करती है, इस वेदान्त सिद्धान्त को न भी मानें, तो भी मानना पड़ेगा कि अन्तःकरण सृष्टिका कर्ता है। पहले कोई विचार आता है और तब कार्य होता है। मनके संयोगके बिना कोई कार्य नहीं होता। वह कभी शान्त बैठता भी नहीं, सदा कार्य में लगा रहता है। ज्ञानका प्रकाश अन्तःकरणकी एकाग्रता में होता है। वेदके आविर्भविका स्थान ब्रह्माकी एकाग्रता है।

कार्यशीलता रजोगुणका धर्म है और उसका रंग लाल है। नीर-क्षीर विवेकी हंस ब्रह्माका वाहन है। अर्थात् अच्छे बुरेके विचार करनेकी शक्तिपर अन्तःकरणकी स्थिति है। बुद्धिकी देवी सरस्वती उसकी सहधर्मिणी हैं। अन्तः करणकी उपासना असुर करते हैं। वे कामनाओंके लोलुप हैं। कोई सात्विक पुरुष अन्तःकरणकी पूजा नहीं करेगा। ब्रह्माका नाम हैं हिरण्यगर्भ यह नाम सूर्यका भी है। समस्त इन्द्रियोंको अन्तःकरण से प्रकाश मिलता है।

**आधिदैविक अर्थ** - जो नरमें रहे वही नारायण। जीव नारायणका अंश है अतः नारायण ही है। प्रत्येक प्राणीके नाभि कमल में ब्रह्माका निवास है। ब्रह्मा हिरण्यगर्भ हैं। तेजसतत्व उसी कमलमें रहता है। कुण्डलिनी जागरण में नाभिकमल में लाल रंगके चतुर्मुख ब्रह्माजी का ध्यान करना पड़ता है। हंस उनका वाहन है। साधक जब इस चक्रको जागृत कर लेता है तो सद्-असत् का उसे पूर्ण ज्ञान हो जाता है। किसी भी भौतिक विषयमें, उसे भ्रान्त होनेकी सम्भावना नहीं रहती है।

बुद्धिकी देवी सरस्वती ब्रह्माकी पत्नी हैं। वाणीपर, इस चक्र को जागृत करनेके पश्चात्, साधकका पूर्ण अधिकार हो जाता है। स्मरण रहे कि ब्रह्मा रजोगुणके देवता हैं। साधकको यहाँ स्थिरता नहीं मिलती। निरन्तर उद्योग में उसका मन लगता है। वह शान्त नहीं बैठ सकता। यहीं अनेक शरीर धारण तथा किसीके आकारको परिवर्तित कर देनेकी सिद्धि प्राप्त होती है। यह सृष्टि कर्म है।

यह चक्र बहुत विघ्नपूर्ण है। इसे जागृत करते समय जहाँ उच्च सात्विक भावोंका विकास होता है, वहाँ बड़े-बड़े विकार और रोग भी आते हैं। दैत्य कभी ब्रह्माको ही भक्षण करना चाहते हैं। सावधानीसे परमात्माका आश्रय लेनेपर रक्षा

होती है। साधक प्रायः अपनी साधनासे उत्पन्न सिद्धियोंपर मुग्ध होकर उनके पीछे दौड़ता है। इस समय उसे सात्विक भावसे बचाते हैं। कई बार साधक राजस-तामस भावों में भटक जाता है। विकार उठनेपर आमूल-चूल उसे बदलना पड़ता है। चक्रका अधिष्ठाता ऐसे समय अदृश्य हो जाता है। इसीको ब्रह्माका शरीर त्याग कहते हैं। पुनः साधन ठीक करनेपर वह सम्मुख आता है।

नाभि कमल में साधन करना बहुत विघ्नपूर्ण है। प्रायः वहाँ सिद्धियाँ मिलती हैं। सिद्धि-कामी वहाँसे साधन भले प्रारम्भ करें, पर साधारण सात्विक भक्ति और ज्ञानमार्गी, हृदयसे या इससे ऊपरके चक्र से साधन प्रारम्भ करते हैं। ब्रह्माका नाम हिरण्यगर्भ है, जो सोने को भी कहते हैं। यह नाम सूचित करता है कि वह चक्र ऐश्वर्य देता है। साधककी शक्ति वहाँ चतुर्मुखी, अत्यन्त व्यापक हो जाती है।

**कुछ स्फुट बातें** - ब्रह्मा सृष्टिके देवता माने गये हैं जो रजोगुणका कार्य है। ब्रह्माका रक्त वर्ण इस रजोगुणका सूचक है। सृष्टिके देवताको एक साथ चारों और देखनेकी शक्ति चाहिये। ब्रह्मा के चारमुख इसे स्पष्ट अंकित करते हैं। वह सृष्टि क्या करेगा जिसके पास बुद्धि प्रतिभा नहीं ? बुद्धिकी देवी सरस्वती ब्रह्माकी सहधर्मिणी हैं और वेद उनके हाथ में रहते हैं। नीर-क्षीर विवेकी हंस ब्रह्माका वाहन है। सृष्टिका देवता भले-बुरे की पहचान करनेवाली शक्तिपर अपना आधिपत्य रखता है। वह उसी पर बैठता - आधार रखता है। यदि ब्रह्माकी मूर्तिको हम केवल कला मानें, तो भी देखेंगे कि सृष्टिकर्ताकी कल्पना इससे सुन्दर और कुछ नहीं हो सकती। स्मरण रहे कि ब्रह्मा वृद्ध दिखाये जाते हैं जो उनके अनुभवी होने का सूचक है।

***

# वाराह

**मूलकथा** - सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माजी जब मानसिक सृष्टि कर चुके और अपने शरीर से उन्होंने मनु तथा शतरूपाको प्रकट करके सृष्टि विस्तारका आदेश दिया, तो मनुने सृष्टिके लिये स्थान मांगा। अपने तपः लोकमें सृष्टि निमग्न ब्रह्माजीको पृथ्वीका ध्यान नहीं था। उन्होंने देखा कि पृथ्वी समुद्र में डूबकर पातालमें चली गई है। वे उसे ऊपर लानेका यत्न सोचने लगे।

जब ब्रह्माजीको स्वयं कोई उपाय धरोद्धारका न सूझा तो मन ही मन उन्होंने भगवान् का स्मरण किया। इसी समय उनकी नाकसे अंगूठे के बराबर एक वाराह निकला जो बाहर आकर कुछ क्षण में गजराजके समान हो गया। वह बार-बार गर्जन करने लगा। ब्रह्मा के साथ उनके मानस पुत्र सनकादिने उस वाराहकी स्तुति की। वाराह भगवान् समुद्र में घुसे और पृथ्वीको उन्होंने दांतोंपर उठा लिया।

दैत्यराज हिरण्याक्ष युद्ध के लिये अपने समान योद्धा अन्वेषण करते हुए पाताल पहुँचा। उसके सम्मुख से सब देवता भाग चुके थे। देवर्षि नारद के बताने से वह वाराहसे युद्ध करने यहाँ आया था। पृथ्वी ले जाते वाराह को उसने रोका और संग्रामके लिये ललकारा। वाराहने इस आह्वानकी उपेक्षा की और वे पृथ्वीको लेकर ऊपर आये। हिरण्याक्ष उनका पीछा करता हुआ आया। पृथ्वीको समुद्रपर स्थापित करनेके पश्चात् वाराहका उस दैत्य से घोर संग्राम हुआ। एक बार तो भगवान् के हाथ से गदा गिर भी गई। अन्त में वाराह भगवान् के कठोर तल प्रहारसे दैत्यका सिर चूर्ण हो गया।

स्तुति करते हुए देवताओंने वाराहको यज्ञ स्वरूप बतलाया। उनके मुख, नासिकादिमें उन्होंने यज्ञपात्रोंकी कल्पना की। वाराहके स्पर्शसे पृथ्वीको एक

पुत्र हुआ था जिसे भौम या नरकासुर कहते हैं। उसने देवताओंको बहुत तंग किया। श्रीकृष्णजीने उसे द्वापर में मारा।

**आध्यात्मिक अर्थ** - कर्म में तन्मय मनुष्य बहुधा अपने उद्देश्यको भूल जाता है। उत्पादक शक्ति स्थितिके आधारको नहीं देखती। वह अधिकाधिक उत्पत्ति करना चाहती है। उसके उत्पादनकी सहायक शक्ति जब आधार मांगती है तो वह देखता है कि मेरे पास कोई आधार नहीं। कर्म तन्मय ब्रह्मा, अपने सृष्ट लोकों के आधार, पृथ्वीका डूब जाना जान भी न पाये। विश्वमें कौन पुत्र उत्पन्न करनेसे पूर्व उसकी जीविकादिकी सोचता है? वह तो तब स्मरण आता है जब पुत्र बढ़ जाते हैं और उनके रहने को स्थानकी माँग होती है।

क्रिया शक्ति स्वयं धैर्य नहीं प्राप्त कर सकती। स्थितिके लिये जिस धैर्य रूपी धराकी आवश्यकता है, वह स्थितिके देवता नारायणसे प्राप्त होगी। स्मरण करनेपर सूक्ष्मरूपसे वाराहका प्राकट्य ब्रह्माकी नाकसे होता है। भगवान् को पुकारनेपर उसी क्रिया में तनिक आशाका दर्शन होता है जो तुरन्त विशाल हो जाती है - सत्वयुक्त रजोगुण। अर्थात् यज्ञादि उद्योगकी ओर प्रवृत्ति होती है। ऐसी प्रवृत्ति तभी होती है जब कर्ममें व्यस्त पुरुष परिणाम और स्थिति से दूर पहुँच जाता है और धैर्यहीन हो जाता है। यज्ञ अर्थात् सात्विक उद्योग स्वरूप वाराह उसको धैर्य प्रदान करते हैं।

धैर्य कहीं नष्ट नहीं हुआ होता। वह निराशाके समुद्र में डूब गया होता है। उद्योग उसका उद्धार करता है। हिरण्याक्ष दैत्य इस मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। वह सोनेके आँखवाली लुभावनी आशंका, धैर्यको लाने नहीं देती। आशंका के सम्मुख सभी सात्विक वृत्तियाँ पराजित हो जाती हैं। मनरूपी नारद से उसे सात्विक उद्योगमें एक विशेष सहायता होती है। वह आशंका रहनेपर भी उसकी उपेक्षा करता है। जब तक पुरुष पूर्णतया धैर्य प्राप्त न कर ले, वह आशंकासे उलझना नहीं चाहता। आश्वस्त होने पर वह उसकी मीमांसा करता है। उस समय वह कभी-कभी इतनी भयावह होती है कि उसके कारण उद्योग में शिथिलता आ जाती है। किन्तु अन्तमें उद्योग उसे निर्मल सिद्ध कर देता है।

धैर्य के लिये सात्विक उपासनादि उद्योग करते समय पुरुष जब समर्थ होता है तो उसमें स्वभावतः गर्व हो जाता है। यह गर्व नरकका देनेवाला है। इसके द्वारा सात्विक वृत्तियोंको बहुत आघात पहुँचता है। उसी समय वह दबाया भी नहीं जा सकता। वह तो कालान्तरमें हृदयके स्वाभाविक आकर्षण (कृष्ण) के संघर्ष में पड़कर नष्ट होता है।

**आधिदैविक अर्थ** - शास्त्रोंने स्पष्टतया कहा है कि वाराह यज्ञ स्वरूप हैं। हमें इस बात को कभी भूलना नहीं चाहिये। इस यज्ञकी उत्पत्ति कर्मसे होती है। क्रिया-शक्ति ब्रह्माके द्वारा यह उत्पन्न होता है और बहुत शीघ्र बढ़ता है। यज्ञके द्वारा धराकी प्राप्ति होती है। ऐश्वर्यकी प्राप्तिके लिये यज्ञ किया जाता है। भौतिक उद्योगमें लगा व्यक्ति अपनी सम्पत्तिका नाश नहीं देख पाता। उसके पुत्र जब उससे मांग करते हैं, तब कहीं उसे उसकी प्राप्तिकी चिन्ता होती है और तब वह यज्ञका विचार करता है।

यज्ञ पहले विचार में आता है फिर क्रिया रूपमें बढ़ जाता है। चमकीली आँखोंवाले विघ्नोंकी उपेक्षा करके उसके द्वारा ऐश्वर्य लाया जाता है और फिर विघ्न भी शान्त हो जाते हैं। यज्ञके द्वारा ऐश्वर्य कैसे मिलता है, इसके लिये "पुराण-विज्ञान" का "यज्ञ" प्रकरण देखें।

योग सम्बन्धी अर्थ भी इसका होता है। मणिपूर (नाभि) चक्रको जागृत करनेपर क्रिया शक्ति का उदय होता है। साधकका मन कार्य में अत्यधिक लगता है। फलतः वह अपनी साधन-भूमि से गिरता है और फिर मूलाधार में जा पहुँचता है। इस समय जब वह आगे फिर क्रिया करने के लिये अपनी उन शक्तियोंका उपयोग करना चाहता है, जो उसे नाभिचक्र जाग्रत करने से प्राप्त हुई हैं, तो वह अपनेको असमर्थ पाता है। वह उस भूमि (अवस्था) में नहीं रहा, क्रिया में लगनेके कारण उसकी भूमिका पात हो गया है। वह समुद्रके नीचे, स्वाधिष्ठान चक्र जिसका तत्व जल है, उसके नीचे मूलाधार में पहुँच गया है।

इस भूमिका की पुनः स्थापना यज्ञके द्वारा होती है। विधिपूर्वक यज्ञ करनेसे हवनका सात्विक वायुमंडल साधकको स्वतः उच्च भूमिका में पहुँचा देता है। उस क्रिया-शक्तिकी चंचलता में जब मन चंचल होता है, ध्यानादि नहीं

हो सकते। क्रिया जन्य सात्विक यज्ञ अर्थात् ऐसी रजोगुण की क्रिया जो सात्विक हो, उसे शान्ति देगी। उपासना, जप, हवन प्रभृति यज्ञ ही उसे पुनः उच्चभूमिकामें लाते हैं। भगवान् की वाराह मूर्तिका ध्यान उसे बहुत सहायता देता है।

आशंका यहाँ भी बनी रहती है। यह यज्ञ करते हुए भी सन्देह रहता है कि मैं पुनः उच्चभूमिमें पहुँचूगा या नहीं। यज्ञ इससे कभी शिथिल भी हो जाता है। इस संदेह स्वरूप हिरण्याक्षका नाश पुनः भूमि की प्रतिष्ठा के पश्चात होता है। उससे पूर्व उसकी उपेक्षा करनी चाहिये।

पुनः भूमिका प्रतिष्ठापनमें एक यज्ञके सानिध्य से नरक (कष्ट) देने वाला गर्व हो जाता है। "मैं यज्ञसे विघ्नोंका नाश कर लूँगा।" इस भौमासुरसे सात्विक वृत्तियोंकी उपेक्षा होती है। साधक दया प्रभृति गुणोंपर उतना ध्यान नहीं देता, जितना देना चाहिये। इस गर्वका नाश कृष्ण करते हैं। सहस्त्रार के पूर्णचक्रमें षोडश कला सम्पन्न पूर्णतत्व को प्राप्त करके ही, इस गर्वका नाश होता है। उससे पूर्व नहीं।

**कुछ स्फुट बातें** - यज्ञकी मूर्ति वाराह। जिसने वैदिक यज्ञोंके स्रुव, श्रुवा प्रभृति पात्रोंकी आकृति देखा होगा, वह झट इसे समझ लेगा। यदि उन पात्रोंको ठीक सजाकर रखें तो एक वाराहकी आकृति बन जायगी। यज्ञ इन्हीं पात्रोंसे सम्पन्न होता है, अतः यज्ञके यही रूप हैं। यज्ञ लोग करते हैं ऐश्वर्य के लिये और वह कर्मसे सम्पन्न होता है। वाराहको पृथ्वीको लानेवाला और ब्रह्माका पुत्र बताया गया है। जलमें घुसकर वाराह जब जलको मथता है तब मिट्टी ऊपर आ जाती है। गाँवों में जलको मथते शूकर को देखकर पृथ्वी उद्धारका स्मरण हो जाता है। अपने कार्य में वाराह कोई दूसरी बाधा नहीं सुनता। शिकारी जानते हैं कि शूकर किसी लक्ष्य पर जा रहा हो तो बीच में गोली मारनेपर भी मुड़ता नहीं। अपने लक्ष्य पर पहुँच कर तब आक्रमणकारी पर झपटता हे। हिरण्याक्षकी उपेक्षा में यही स्वभाव बताया गया।

***

# हिरण्यकशिपु

**मूलकथा** - भगवान् विष्णुके दो पार्षद थे। ये दोनों द्वारपाल थे। सनकादि कुमारोंको एक बार इन्होंने वैकुण्ठमें जानेसे रोका और उन्हींके शापसे च्युत हुए। दितिने सन्ध्याकाल में कश्यपसे पुत्र प्राप्तिकी याचना की। कालकी विषमता देखकर ऋषिने उस समय रोकना चाहा। दितिके आग्रहपर उन्हें उसकी इच्छा पूरी करनी पड़ी। घोर समय में गर्भाधान होनेके कारण उसके गर्भसे दो असुर उत्पन्न हुए।

दितिका बड़ा पुत्र स्वर्णके शरीरका था, अतः उसे हिरण्यकशिपु कहते हैं और दूसरे की आंखें स्वर्ण की थीं, अतः वह हिरण्याक्ष हुआ। हिरण्याक्षको पृथ्वी उद्धारके समय वाराहने मार डाला। हिरण्यकशिपु भाई का बदला लेनेके लिये तपस्या करने लगा और उसने घोर तपस्या से ब्रह्माको प्रसन्न कर लिया। उसे वरदान मिला कि वह ब्रह्माके द्वारा सृष्ट किसी प्राणीसे, किसी शस्त्रसे, दिन या रात्रि में, घर में या बाहर और आकाश में, तथा किसी रोगादिसे नहीं मरेगा।

वरदानके प्रभावसे हिरण्यकशिपुने सारे देवताओंको जीत लिया। उसने विष्णुको बहुत ढूँढा, पर वे उसे मिल नहीं सके। देवताओंके भाग वह स्वयं ग्रहण करने लगा। दैत्य जब तपस्या में लगा था तो देवताओंने उस नगरको लूट लिया था। नारदने उसकी गर्भवती पत्नीको बचाया था। उसीसे प्रह्लाद उत्पन्न हुए। ये जन्मसे भगवद् भक्त थे। बलि इन्हीं का पौत्र हुआ।

हिरण्यकशिपु प्रह्लादकी विष्णुपरता से बहुत चिढ़ा। उसने पहले समझाने की चेष्टा की और फिर मार डालने की। विष, सर्प, पर्वत से गिराना, समुद्र में डुबाना, अग्नि में जलाना प्रभृति सब व्यर्थ रहीं। जब दैत्य स्वयं पुत्रको मारने लगा तो खम्भेसे नृसिंह भगवान् प्रकट हुए और सन्ध्याकाल में, दरवाजे में जानुपर रखकर नखसे उन्होंने दैत्यका पेट फाड़ डाला। यही दोनों भाई रावण

और कुम्भकर्ण तथा शिशुपाल और दन्तवक्र हुये। नृसिंहका आवेश देवता शान्त न कर सके, प्रह्लाद ने किया।

**आध्यात्मिक अर्थ** - व्यापक जीवात्मा जो परमात्माका अंश है, उसमें सात्विक अहंकार और आगा-पीछा सोचने की सौम्य शक्ति होती है। इन दोनों शक्तियों में गर्व आ जानेपर वे सात्विक त्याग वृत्तियोंको भी रोकती हैं। सर्वदा शुद्ध ज्ञान, अनुभव, अध्ययन और श्रवण भी उनके द्वारा रोके जाते हैं। फलतः ज्ञानादि उनकी उपेक्षा कर देते हैं। अहंकार राजस हो जाता है और विचार शक्ति आशंका बन जाती है।

उपासना कालमें माया जब कश्यप अर्थात् साधनको अपनी ओर आकर्षित कर लेती है, तो उसे उससे राजस अहंकार और आशंकाकी उत्पत्ति होती है। आशंका पुत्रहीन है और उसके वधका वर्णन "वाराह" के प्रकरण में दिया जा चुका है। तेजोमय स्वर्ण शरीर - राजस अहंकार, आशंकाके नष्ट होनेपर तपस्या करता है और चाहता है भौतिक सिद्धि। वह कर्म शक्ति को प्रसन्न भी कर लेता है। राजस पुरुष घोर तपस्या कर सकता है। सृष्टिकर्ता शक्तिको प्रसन्न करके वह उससे अपनी रक्षाका वचन ले लेता है। सीधे शब्दोंमें रजोगुणी कर्ममें कष्ट उठाकर अपनी रक्षाकी व्यवस्था कर लेता है।

रक्षित रजोगुण, सात्विक वृत्तियोंपर विजय पाता है। वह स्वयं देवताओं का भाग ग्रहण करने लगता है। रजोगुणसे जो धार्मिक कृत्य होते हैं, उनमें सात्विक भावोंका स्थान राजस अहंकार ले लेता है। तपस्यादि पुण्य कर्मोंमें जब राजस अहंकार प्रवृत्त होता है तो स्वतः सात्विक वृत्तियाँ उस समय बढ़ जाती हैं। अहंकार के अतिरिक्त दूसरे सब कामादि दैत्य नष्ट हो जाते या छिप जाते हैं। राजस अहंकार में भी श्रद्धा होती है, इसी श्रद्धा पत्नी से उसे सात्विक विश्वास नामका पुत्र प्रह्लाद होता है। थोड़ा विकार आनेपर विश्वास विकृत होता है। उसीके वंश में प्रपौत्र बलि अर्थात् सात्विक अहंकार होता है।

राजस अहंकार सात्विक विश्वासका विरोधी है। वह चाहता है कि विश्वास ईश्वरादिमें न होकर कर्म और शक्ति में हो। किन्तु वह सात्विक विश्वासको नष्ट नहीं कर पाता। शक्तिके मद में अन्धा कितने कष्ट देता है

विश्वासीको, पर सच्चा भगवद् भक्त विचलित नहीं होता। विश्वास शक्ति विघ्नोंपर विजय पाती है।

जब राजस अहंकार स्वयं विश्वासको नष्ट करना चाहता है, तब नृसिंह प्रकट होते हैं। इससे पूर्व जब तक वह उपाय करता है, तब तक उपाय व्यर्थ जाते हैं। विश्वास में सिंहका पौरुष और मनुष्यका चातुर्य है। जब वह जागृत होता है तो राजस अहंकार नष्ट हो जाता है। पर विश्वास को सात्विक उत्तेजन सहय नहीं। दया प्रभृति उसे शान्त नहीं कर सकतीं। वह स्वयं उसी आधार में शान्त होता है।

राजस अहंकारका नाश क्रिया या परिस्थिति नहीं कर सकती। क्रियाके मध्य में और दो विषम परिस्थितियों के संयोग में, विश्वासजन्य सात्विक आवेश उसे नष्ट कर सकता है। उसके लिये साधन अस्त्र कारगर नहीं। सात्विक आवेश स्वयं उसे नष्ट करेगा। इसी राजस अहंकारका रूपान्तर फिर रावण होता है। उसका वर्णन "सीतान्वेषण" में करेंगे।

**आधिदैविक अर्थ** - उपासना के समय जब साधक मायामें आसक्त होता है तो साधकमें राजस अहंकार और आशंका आती है। मायाका परिणाम होता है कि साधक अपनेको कर्ता मानने लगता है और सन्देह भी करता है। वस्तुतः यह कार्य शक्ति और विवेचन शक्ति हृदय कमलमें रहती हैं। किन्तु सात्विक वृत्तियोंमें भी जब इनका अड़ंगा लगता है तो ये राजस-तामस होकर साधकको विक्षिप्त करती हैं।

यह अवस्था नाभि चक्र में प्राप्त होती है। हिरण्याक्ष वाराहके द्वारा मारा जाता है, सन्देह नष्ट हो जाता है किन्तु "मैं करता हूँ", यह राजस अहंकार नहीं जाता। नाभि चक्रमें कठोर संयम के ब्रह्माको पाकर, वह और दृढ़ हो जाता है। संयमके समय अवश्य उसमें दानादि सात्विक वृत्तियाँ रहती हैं। क्रोधादि नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार उस समय देवता विजयी होते हैं। परन्तु चक्र जागृत करनेके पश्चात् वही अहंकार स्वयं देवताओंका स्थान ले लेता है। अप्राप्त भूमि (अवस्था) का यही रूप है। वह सब कार्य अहंकारसे करता है। अपनेको ईश्वर

समझता है और ईश्वरको ढूंढ़ता है, विष्णु उसे प्राप्त नहीं होते। जब तक राजस अहंकार है, हृदय चक्रसे संयम करने से भी विष्णु के दर्शन नहीं होंगे।

इस समय साधककी एक विचित्र अवस्था होती है। उसमें विश्वास होता है कि विष्णु हैं, पर उसका राजस अहंकार इसे मानता नहीं। वह इस विश्वासको नष्ट कर देना चाहता है। क्योंकि वह विष्णुको पाता नहीं। अहंकारवश साधक अनेक प्रकारके साधन करता है। वह हृदय चक्र और विश्वास दोनोंपर विजय पानेका प्रयास करता है। जलमें खड़े रहना, पंचाग्नि तपना प्रभृति जाने क्या- क्या करता है, पर विश्वास में कोई अन्तर नहीं आता और न विष्णु के दर्शन होते हैं।

एक समय आता है जब साधकका अहंकार बिना कारण साधकके विश्वास को स्वयं मिटा देना चाहता है। वह अस्वीकार करनेपर उद्यत हो जाता है विश्वासके आधार को। नाभिचक्रसे ऊपर लगा हुआ एक उपचक्र है जो हृदय चक्रसे प्रकाशित होता है, इसके द्वार पर पहुँच कर उपरोक्त अवस्था आती है। विश्वासका परिणाम ऊपरका आकर्षण स्वयं साधकको खींचता है। अस्वीकार के पूर्ववर्ती क्षणमें उसे वहाँ नृसिंहके दर्शन होते हैं। यह रूप विष्णुका है। हृदयका प्रकाश यहाँ ऐसा हो जाता है। जागृति और सुषुप्तिके मध्यकी तन्द्रावस्था में साधक पहुँच जाता है। एक क्षण राजस अहंकार वहाँ भी भ्रम समझता है, पर नृसिंह उसे नष्ट कर देते हैं।

इस उपचक्रमें स्थिति असम्भव है। शरीर तेजसे जलने लगता है, मन बुद्धि प्रभृति सब विक्षिप्त हो जाते हैं। कोई सात्विक वृत्ति या साधन नृसिंह को शान्त नहीं कर पाता। साधकका भगवानपर विश्वास ही उस शक्तिको शान्त करता है। वहाँ से ऊर्ध्व गति होती है। नृसिंह अन्तर्हित हो जाते हैं। हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष पुनः हृदय चक्रमें दो रूपों में मिलते हैं। अहंकारका वहाँ भी उदय होता है। लेकिन वहाँ चक्रके देवता विष्णुसे उनका पोषण न होकर नाश होता है। विष्णुकी लीलाएँ और उनके अवतार चरित्र प्रायः सब चक्रकी साधन पद्धति से सम्बन्धित हैं। ऐसे ही शिव चरित कण्ठ चक्रके साधनसे सम्बन्ध रखता है।

***

# वृत्र संहार

**मूलकथा** - देवराज इन्द्र एक दिन सिंहासन पर बैठे थे। सभामें गुरु वृहस्पति आये, पर इन्द्रने उठकर उनको प्रणाम नहीं किया। वृहस्पति इस अपमानसे रुष्ट होकर चले गये। उनके चले जानेपर इन्द्रको पश्चाताप हुआ। वे गुरुको मनाने के लिये उन्हें ढूंढ़ने लगे, पर पा नहीं सके। दैत्योंने जब सुना कि वृहस्पति देवताओंसे अप्रसन्न हैं तो देवताओंपर आक्रमण कर दिया। वृहस्पति के अभाव में देवता पराजित हो गये।

इन्द्रने ब्रह्माकी शरण ली। ब्रह्माने बतलाया कि तुम त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपको पुरोहित बना लो। देवता विश्वरूपके पास गये और प्रार्थना करनेपर उन्होंने पौरोहित्य करना स्वीकार कर लिया। उनके दिये नारायण कवच के प्रभावसे इन्द्रने देवताओंको साथ लेकर दैत्योंको परास्त किया। विश्वरूपके तीन मुख थे। एक से वे वेद पढ़ते थे, दूसरेसे सुरा पीते थे और तीसरेसे भोजन करते थे। वे देवताओंके साथ दैत्योंको भी बलि देते थे। इस कार्यसे रुष्ट होकर इन्द्रने उनका सिर काट डाला।

पुत्र वध से रुष्ट त्वष्टाने दक्षिणाग्निमें हवन करके वृत्रको उत्पन्न किया। वृत्रके तेजके सम्मुख देवता टिक न सके। वे भागकर इधर-उधर छिपने लगे। वृत्र दैत्योंके साथ स्वर्गाधिप हुआ। इन्द्र देवताओंके साथ ब्रह्माको लेकर भगवान् के शरणापन्न हुए। भगवान ने बताया "दधीचिकी हड्डीसे बना वज्र वृत्रको मार सकता है।" इन्द्रने जाकर महर्षि दधीचि से अस्थि मांगी। उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक दे दी। वज्र लेकर इन्द्रने वृत्रपर चढ़ाई की। भयंकर युद्ध में वृत्र मारा गया और दैत्य पातालको भाग गये।

वृत्र दैत्य होनेपर भी भगवद् भक्त था। भगवानपर उसका अटल विश्वास युद्ध के समय भी था। वह युद्धमें न्यायका पालन करता था। एक बार

उसने इन्द्रको खा लिया। इन्द्र उसका पेट वज्रसे फाड़कर निकले और तब उसका सिर काटा। वृत्रहत्याने इन्द्रका पीछा किया। भागकर एक वर्ष तक इन्द्र कमल तन्तुमें छिपे रहे। ऋषियोंके अश्वमेव करनेपर हत्याका पाप निवृत्त हुआ।

**आध्यात्मिक अर्थ** - बल एवं ऐश्वर्य के मदमें मत्त जीव विचारका समुचित आदर नहीं करता। बलवान चाहता है कि विद्वान मेरा अनुगमन करें। वह उन्हें मस्तक झुकाना नहीं चाहता। विद्वान स्वाभिमानी होते हैं, वे अपमान नहीं सह सकते। उपेक्षा होनेपर विचार (विद्वान) नहीं रहता। विचारके जाते ही बल को अपनी भूलका पता लगता है, पश्चाताप भी होता है। बल ढूँढ़कर विचारको नहीं ला सकता। बलवान बुद्धि और विद्याकी परीक्षा नहीं कर सकता। विचारके जाते ही दैत्योंका आक्रमण होता है। विचारहीन मनमें से सद्वृत्तियाँ दूर हो जाती हैं। उन्हें कुवृत्तियां परास्त करके स्वयं आ जाती हैं। जिस बलशालीके साथ विवेकी आचार्य नहीं रहता, उसके पास चापलूस और दुष्ट एकत्र हो जाते हैं। वे अपनी धूर्ततासे सज्जनोंको वहाँ से निकाल देते हैं। इस प्रकार यह कथा समाज और हृदय दोनों के लिये है।

हारकर इन्द्र ब्रह्माकी शरण लेते हैं। कुवृत्तियोंसे पराजित उद्योग शक्ति, सद्ग्रथों की शरण आती है। वेद यहाँ ब्रह्माके रूप हैं। उससे विश्वरूपका पता लगता है। विश्व भगवानका रूप है, यह वेदका आदेश है। इस भावकी शरण लेनेपर नारायण कवच प्राप्त होता है। यह भाव बतलाता है "भगवान सब ओर से हमारे रक्षक हैं। हम उनकी गोद में हैं।" यही कवच दैत्योंपर विजय देता है। विश्वमात्र भगवानका स्वरूप और अपने को भगवानकी गोद में समझने से कुवृत्तियोंका शमन हो जाता है। विश्व त्रिगुणात्मक है, उसमें सात्विक, राजस, तामस सब क्रियाएँ होती हैं। विश्वमें देव और दैत्य सब पोषण पाते हैं। इंद्रको यह सहन नहीं। उनका आग्रह सात्विकता में है। अतः वे विश्वमें भगवद्भाव छोड़ देते हैं। यही विश्वरूप का वध है।

विश्वरूप त्वष्टाके पुत्र हैं। विश्वमें विराट रूपकी भावना हृदयसे होती है। बुद्धिसे यह पता लगता है। इस भावनाके त्यागमें बुद्धि असंतुष्ट होती है। "यदि विश्व भगवानका रूप नहीं तो क्या है?", पुनः वेदोंका अनुशीलन होता

है। पर यह इन्द्र नहीं करते। यह विक्षिप्त बुद्धि रूपी त्वष्टा का दक्षिणाग्निमें अभिचार है। इससे वृत्र उत्पन्न होता है। यह भाव होता है कि जगत त्रिगुणात्मक है। तीन गुणोंसे घिरा है। यह भाव सत्व गुणकी उपेक्षा करता है। वह उद्योग करना पसन्द करता है। सात्विक वृत्तियों को उससे परास्त होना पड़ता है। इस भावमें आसुरी वृत्ति साथ होती है।

वृत्र स्वयं भगवद् भक्त है। विश्वको त्रिगुणात्मक समझनेवाला प्रभु पर विश्वास किये बिना रह नहीं सकता। पर वह इस लोकमें उद्योगी होगा, सात्विक वृत्तियोंकी उपेक्षा होनी स्वाभाविक है, क्योंकि वह स्वर्गादिक नहीं चाहता। उसमें अधिकांशतः राजस उद्योग होता है। फिर भी वह सात्विकता के साथ संघर्ष में अन्याय नहीं करता।

सात्विक वृत्तियां वृत्रको परास्त करने में समर्थ नहीं। वे भगवानकी शरण लेती हैं। भगवानकी ओर एकाग्र होनेपर ज्ञात होगा कि दधीचिकी अस्थि अर्थात् तपस्याका सार सहनशीलता, वृत्रका नाश कर सकती है। इन्द्र तपस्या से इसे मांगते हैं। विचारके द्वारा तपस्यासे उसे लेना पड़ता है। सहनशीलता निकाल देनेपर तपस्याका जीवन संभव नहीं। इस सहनशीलताके अस्त्र के सम्मुख सब आसुरीभाव परास्त हो जाते हैं। वे मरते तो नहीं, किन्तु संस्कार रूपसे हृदयतल में लीन हो जाते हैं। वृत्र मर जाता है। पता लग जाता है कि विश्व त्रिगुणोंसे घिरा अवश्य है, पर उसमें सत्वगुण सबसे अधिक शक्तिशाली है।

वृत्रको मारकर भी सात्विक बल शान्त नहीं होता। उसका आधार कमल तंतुके समान मृदु होता है। वृत्र हत्या से वह त्रस्त होता है। उसे भय होता है कि त्रिगुणोंकी प्रधानता के अस्वीकारसे जड़-वाड़ आक्रान्त न करले। अन्तमें सत्वगुणका विकास यज्ञ उसे इस भयसे मुक्त करता है। युद्ध में एक बार वृत्र इन्द्रको खा लेता है। सात्विक उद्योग भी तो त्रिगुणात्मक है। वह भी उसके पेटमें आ जाता है। पर वह धैर्य से अपनी प्रधानता का अनुभव कर लेता है। वृत्र उसी समय मरता है।

**आधिदैविक अर्थ** - उद्योग में लगा साधक जो हृदय चक्र में प्रविष्ट होने जा रहा है, प्राप्त शक्तिके मद में विचारका तिरस्कार करता है। विचारका उसी समय लोप हो जाता है। पश्चाताप और उद्योग विचार का उदय नहीं करता। मनमें राजस-तामस भावोंका प्राबल्य हो जाता है। एक क्षण के लिये भी नाभिचक्र से हृदयके मार्ग में गर्व नहीं आना चाहिये। यदि ऐसा हो जावे और कुवृत्तियाँ मनपर अधिकार कर लें, तो नाभि चक्र में ध्यान करो। ब्रह्मा की शरण लो।

संसार जो एक रूप है, वह तुम्हें वहाँ भगवानका रूप दृष्टि पड़ेगा। वहाँसे नारायणकी स्मृति प्राप्त होगी। यही विराट् दर्शन है, इससे आसुरी भाव दूर हो जायेंगे। पर संसार की मीमांसा मत करो। उसके त्रिगुणोंपर विचार मत करो। विश्वरूपको देखने में जब त्रिगुणोंपर ध्यान जाता है, तो असुरोंको भी बलि मिलने लगती है। सात्विक और राजस दोनों भाव बढ़ते हैं। साधक घबड़ाकर वह भावना छोड़ देता है।

विश्व निर्माता रजोगुण विश्वरूपके मरते ही वृत्रको उत्पन्न करता है। साधक विराट रूपकी भावना छोड़कर यज्ञादि करने लगता है। वह समझता है "इससे सात्विकता बढ़ेगी", पर वह राजस यज्ञ ईश्वर में विश्वास के साथ वृत्रको उत्पन्न करता है। घोर रजोगुण उत्पन्न होता है जो हृदयको व्याप्त कर लेता है। सात्विकता दूर हो जाती है। राजस तामस भाव से मन भर जाता है। पर भगवानपर दृढ़ विश्वास भी रहता है।

नाभि चक्र में एकाग्र होकर ब्रह्माकी शक्तिको उत्थित करके, उसके सहारे हृदयकी ओर एकाग्र हो। ऐसा होनेपर एक छोटा-सा उपचक्र मिलेगा जो दधीचिका स्थान है। यहाँ की शक्ति सहनशीलता है। तपका यही मुख्य केन्द्र है। इस शक्तिको लेनेपर उपचक्र नष्टप्राय हो जायगा। साधक में स्थिरता आवेगी। यही स्थिरता रजोगुणपर विजय पा सकती है। पर यदि तपस्याका तिरस्कार हुआ तो वृत्रके बदले बलिसे हारना पड़ेगा। "अमृत मन्थन" के अगले प्रकरण में इस विषयको स्पष्ट करेंगे।

दधीचिकी अस्थि रूपी उपचक्रकी स्थिर शक्ति प्राप्त करके भी रजोगुणसे घोर संघर्ष होता है। अन्तिम संघर्ष में तो ऐसा प्रतीत होता है कि स्थिरता और सत्वगुण रजोगुणसे नष्ट हो गये। वज्रके साथ इन्द्र वृत्रके पेट में पहुँच जाते हैं। पर यही स्थिरता वृत्रको परास्त करती है। रजोगुणका उद्योग नष्ट हो जाता है। असुर भाग जाते हैं। दुर्भाव लीन हो जाते हैं।

वृत्र वधके पश्चात् सात्विक उद्योग लय हो जाता है। कमल तन्तुमें वह सूक्ष्म रूपसे रहता है। हृदय कमलकी नालमें सात्विक उद्योग लुप्त हो जाता, साधनकी गति रुक जाती है। इसका कारण वृत्र हत्या है। राजस उद्योग जिसमें ईश्वरपर श्रद्धा थी, नष्ट होकर सात्विक उद्योगकी स्थिति डांवांडोल कर देता है। उद्योग मात्रमें भय लगता है। यज्ञादिके द्वारा उपासनासे वह भय दूर होता है। सात्विक कार्योंकी प्रवृत्ति जागृत होती है।

***

# अमृत मन्थन

**मूलकथा** - एक दिन महर्षि दुर्वासा देवलोक पहुँचे। इन्द्र उस समय कहीं ऐरावतपर बैठे जा रहे थे। दुर्वासाने एक माला को, जो वे लिये हुए थे, इन्द्रपर फेंक दिया। इन्द्रने माला ऐरावतके मस्तक पर रख दी। हाथीने उसे सूंडसे उठाकर पृथ्वीपर डाला और कुचल दिया। अपने उपहारका यह अपमान देखकर महर्षिने शाप दिया कि विश्वकी श्री नष्ट हो जाय। इन्द्रने बहुत अनुनय करके उन्हें तुष्ट करना चाहा, पर वे तुष्ट नहीं हुए। देवताओंको श्रीहीन सुनकर दैत्यराज बलिने स्वर्गपर चढ़ाई की। देवता युद्ध में हार गये। वे स्वर्ग छोड़कर भाग खड़े हुए।

पराजित देवताओंने ब्रह्माके साथ क्षीर सिन्धुके तटपर जाकर भगवान् से प्रार्थना की। भगवान् ने प्रकट होकर, उन्हें दैत्योंसे सन्धि करके, सम्मिलित उद्योगसे अमृतके लिये समुद्र मन्थनका आदेश दिया। इन्द्र बलि के पास पहुँचे। अमृतमें भाग पाने के लोभसे दैत्योंने इन्द्रका प्रस्ताव मान लिया। क्षीर सिन्धु में सब औषधियाँ डाली गईं। मन्दराचल पर्वतको देवता-दैत्य उठाकर लाने लगे, वह उनसे न आया, तो भगवान ने सहायता की। वासुकी नागको रस्सी बनाकर मन्थन प्रारम्भ हुआ। दैत्योंने नागका मुख पकड़ा और देवताओं ने पूँछ।

कच्छप रूपसे भगवान मन्दार को पीठपर लिये थे, जिससे वह डूब न जाय। दूसरे रूपसे वे पर्वत पर बैठकर उसे दबाये भी थे। देवताओंमें देव रूपसे, दैत्योंमें दैत्य रूपसे और नागमें प्राण रूपसे प्रविष्ट होकर शक्ति दे रहे थे। इतनेपर भी काम न चला तो उन्होंने स्वयं मन्थन किया। पहले हालाहल विष निकला जिससे लोक नाश होता देख, उसे शंकरजीने पीकर कण्ठमें रख लिया। बारह रत्न और भी निकले, जिनमें कौस्तुभ और लक्ष्मी भगवान् को मिलीं। कामधेनु, कल्पवृक्ष, ऐरावत, अप्सराएँ स्वर्गको चली गईं। मदिरा और विश्वश्रवा

घोड़ा दैत्योंने लिया। अन्तमें अमृत लिये धन्वन्तरिजी प्रकट हुए। इस प्रकार कुल चौदह वस्तुएँ निकलीं।

दैत्योंने धन्वन्तरि के हाथसे अमृत छीन लिया। उनमें परस्पर विवाद होने लगा। इतने में विष्णु मोहनी रूपसे प्रकट हुए। उनपर मुग्ध होकर दैत्योंने उन्हें अमृत घट दिया और उचित बँटवारा करने को कहा। भगवान् ने देव और दैत्यों को पृथक-पृथक पंक्तियोंमें बैठाकर देवताओंको अमृत पिलाया। मुग्ध दैत्य आशामें बैठे रहे। गुप्त रूपसे देव पंक्ति में बैठकर, स्वर्भानु दैत्यने अमृत पी लिया। चन्द्रमाके बतानेपर भगवान् ने चक्रसे उसका सिर काट डाला। वह सिर राहु हुआ और धड़ केतु। अमृत देवताओंको पिलाकर विष्णुने अपना रूप प्रकट किया। झुंझलाये दैत्योंसे देवताओंका घोर संग्राम हुआ। दैत्य हार गये, बलि मूर्छित हो गया। नारदने आकर देवताओंको युद्धसे रोका। उनका स्वर्ग उन्हें प्राप्त हो गया।

**आध्यात्मिक अर्थ** - दुर्वासा जो तपकी मूर्ति हैं, उनके उपहारको जब गर्वीला बल अपमानित करता है तो शोभा नष्ट हो जाती है। श्री तभी तक रहती है जबतक बलवान तपस्याका उपहार, संयम रखे। श्री नष्ट होते ही सात्विक वृत्तियां नष्ट हो जाती हैं और कुवृत्ति तथा अहंकार उनका स्थान ले लेता है।

सात्विक वृत्तियोंके जीवन के लिये श्री चाहिये। उद्योग करके कर्म शक्ति ब्रह्माके साथ क्षीर-सिन्धुके किनारे जाते हैं। दुर्बल सात्विक वृत्तियां कर्म-शक्ति के साथ सत्यमें स्थिर होकर भगवान् की प्रार्थना करती हैं। उन्हें ज्ञात होता है कि इसी स्थिरताकी विवेचनासे जो अमृत ज्ञान निकलेगा, वह हमें शक्ति देगा। विवेचना में राजस, तामस वृत्तियोंका साथ भी चाहिये। दैत्योंसे सन्धि होती है।

मन्दराचल सा अटल धैर्य उसकी विवेचना करता है। प्राण रूपी वासुकी नाग उसकी रस्सी है। प्राणोंकी क्रियाके साथ राजस, तामस और सात्विक वृत्तियां रहती हैं। रेचक में दैत्य और पूरकमें देव। धैर्य पूर्वक प्राण संयमसे अमृत-मन्थन होता है। सबमें भगवानकी शक्ति रहती है। प्रभुका विश्वास ही बल देता है। पहले हलाहल निकलता है। अशान्ति, ग्लानि आदि पहले होती हैं। कल्याणकी इच्छा उसे दबा लेती है। शिव उसे पी जाते हैं।

बहुत-सी वस्तुएँ प्राप्त होती हैं। ऐरावत (ऐश्वर्य), कामधेनु (पवित्रता), कल्पतरु (दृढ भावना), अप्सरा (आनन्द) - ये सात्विक वृत्तियोंको मिलते हैं। श्री तो भगवान में ही रहती है और कौस्तुभ (अखण्ड ऐश्वर्य) भी। केला (पुष्टि) शरीरको मिलता है। मदिरा (आलस्य), अश्व (उद्योग) - ये तमोगुणी और रजोगुणी वृत्तियोंको मिलते हैं। शंख (श्रद्धा) - यह सात्विक उपासकोंकी वस्तु है। चन्द्र (प्रकाश) जगतको मिलता है। धन्वन्तरि (विचार) अमृत (ज्ञान) लिये अन्तमें आते हैं। आसुरी वृत्तियां ज्ञानपर आधिपत्य तो कर लेती हैं किन्तु वे उसे अपना नहीं सकतीं। वे आनन्द जो भगवान् का रूप है, उसे काम समझ लेती हैं। उन्हें हृदयका विशुद्ध आनन्द काम जान पड़ता है। उनका ज्ञान इसी कामके पीछे मुग्ध होनेसे नष्ट हो जाता है। सात्विक वृत्तियाँ उसे प्राप्त कर लेती हैं। वे काममें से वास्तविक आनन्दका विचार कर लेती हैं। ज्ञानका ग्रहण करते समय कुछ रजोगुण भी साथ होता है। वह अमर हो जाता है। मनकी सूचनासे भगवान उस रजोगुणको छिन्न कर देते हैं। वह शरीर और बुद्धिमें बँट जाता है।

काम में मुग्ध आसुरी वृत्तियोंको जब ज्ञान नहीं मिलता और कामके आनन्दका भी वास्तविक रूप उनके प्रतिकूल जान पड़ता है, तो वे प्रबल होकर सात्विक वृत्तियोंको नष्ट कर देना चाहती हैं। घोर द्वन्द होता है। ज्ञान प्राप्त सात्विकता उनका दमन कर देती है। अहंकार मूर्च्छित हो जाता है। ज्ञान अभी परोक्ष ही होता है, अतः अहंकारके जागरणकी सम्भावना है। मन सात्विक वृत्तियोंको रोकता है, पराजित वासनाओं के अत्यन्त दमन से। सात्विकताको सुख मिल जाता है।

**आधिदैविक अर्थ** - राजस अहंकार बलि है और राजस-तामस भाव असुर। सात्विक भाव देव हैं और बल इन्द्र। हृदय चक्र में प्रविष्ट होते समय अमृत-मन्थन और देवासुर संग्राम होता है। साधनसे बढ़ा बल तपस्या के उपहारका तिरस्कार करता है। यह स्वाभाविक है। उस समय संयम में कुछ शिथिलता आती है। ओज नष्ट हो जाता है। अहंकार और आसुरी भाव बढ़ जाते हैं। नाभिचक्रकी शक्ति के साथ सात्विक भावनासे हृदय में एकाग्र होना चाहिये। सत्वमें स्थिति होनेपर अन्तर के शब्द हृदय चक्र के क्षीर-सिन्धुका

मन्थन करनेका आदेश देंगे। जो भी राजस-तामस भाव उठे, उसे वहीं एकाग्र करो।

न्याय दर्शनकी यही भूमिका है। जो भाव उठे, उसका विश्लेषण करो। मन्दारके समान धैर्य होना चाहिये। प्राणके वासुकी को मथो। रेचक और पूरकके साथ इष्ट मन्त्रका जप करो। रेचकमें "अहं" की भावना और पूरक में "सः" की भावना करो। फलतः वैशेषिक की भूमिका आवेगी। भगवान् को पहचान तो न सकोगे, पर सब भावोंमें एक-सी व्याप्त, एक विशेषता दृष्टि पड़ेगी। इससे आगेकी भूमिकाका वर्णन "बलि-निग्रह" में होगा।

वही विशेषता सफलताकी जननी है। भगवान् पर विश्वास ही मन्दर को धारण कर सकता है। धैर्य भगवान् के आधार पर रहेगा। शक्ति प्रभुसे प्राप्त होगी। उस समय एक ज्वाला प्रकट होगी। ऐसा लगेगा कि सारा शरीर भस्म हुआ जाता है। हृदय चक्र में प्रवेश करते ही यह दशा होगी। यही विष है। शिवका ध्यान करो, वह ज्वाला कण्ठचक्रमें खिंचकर शान्त हो जायगी। इसके पश्चात् बहुत-सी सिद्धियाँ मिलती हैं।

इच्छा सिद्धि (कल्पतरु), विश्वास सिद्धि (कामधेनु), ऐश्वर्य सिद्धि या महिमा (ऐरावत), लघिमा या आनन्द (अप्सरा), स्वेच्छा निद्रा (सुरा), अश्रांत उद्योग (अश्व), शरीर पुष्टि (केला), सौम्य तेज (चन्द्र), पवित्रता या अटूट श्रद्धा (शंख), आरोग्य (धन्वन्तरि), ये सब मिलते हैं। परोक्ष ज्ञान रूप अमृत अंत में आता है। श्री (शोभा) और कौस्तुभ (अटूट ऐश्वर्य) केवल भगवान में ज्ञात होते हैं। सात्विक वृत्तियाँ वहाँ से उसे पाती हैं। वह उनको पूर्णतया नहीं मिलती।

परोक्ष वैशेषिक ज्ञानमें अहंकार फिर बढ़ता है। पर विचार शक्तिके कारण सात्विक वृत्तियाँ भी प्रबल होती हैं। अहंकार विषयोंमें सुख मानता है, जो भगवान् में वस्तुत: है। सात्विकता इस तथ्यको पा लेती है। भगवान् का विषयों में प्रतीत होता सुख रूप, असुरोंको भ्रान्त करता है। सात्विकता भ्रान्त नहीं होती। इस समय साधकको मोहिनी रूपका ध्यान करना चाहिये। यहीं भावोंका संघर्ष होता है, साधक में दोनों प्रकारके भाव प्रबल होते हैं। जिसमें सत्वकी विजय होती है।

विचार शक्ति युक्त देव असुरोंके नाशसे नारदकी आज्ञानुसार रुकते हैं। परोक्ष ज्ञान दुर्वासनाओंका पूर्णतया नाश नहीं करता। वैशेषिक दर्शन में मनकी प्रधानता रहती ही है। वह आसुरी भावोंकी भी रक्षा करता है। भगवान् के द्वारा मारा गया अमृत पानेवाला दैत्य तामस अहंकार है, जो बुद्धि और शरीर के साथ शरीरान्त तक रहता है।

***

# बलि निग्रह

**मूलकथा** - देवासुर संग्राममें हार जानेपर बलिने बड़े प्रेमसे आचार्य शुक्रकी सेवा की। आचार्यकी सेवासे बलिको वह शक्ति प्राप्त हुई जिससे उन्होंने देवताओंको जीत लिया। देवता स्वर्ग छोड़ कर भाग गये। विजयी बलि अश्वमेध यज्ञ करने लगे। देवमाता अदिति पुत्रोंके पराजयसे बहुत दुखी रहती थीं। अपने पति महर्षि कश्यपसे उन्होंने पुनः पुत्रोंकी विजयका उपाय पूछा। कश्यपजीने उन्हें भगवान् की आराधना करने को कहा और द्वादश दिन दुग्धपान व्रत बतलाया। इस व्रत और उपासनाके फलसे अदितिको भगवद् दर्शन हुए। भगवान् ने कहा "बलि ब्राह्मणोंकी कृपा से विजयी हुआ है। उन्हींके रुष्ट होनेसे नष्ट होगा। दूसरी शक्ति उसे इस समय परास्त नहीं कर सकती।" प्रभुने अदितिका पुत्र होना स्वीकार कर लिया।

कश्यपके औरस से अदितिमें भगवान् वामन रूपमें प्रकट हुए। वे बलिके यज्ञमें पहुँचे और उन्होंने तीन पद भूमि दान मांगी। बलि इस समय सौवां अश्वमेध कर रहा था। बलिने पहले तो उपहास समझा, पर आग्रह करनेपर दान देनेको तत्पर हुआ। शुक्रने उसे रोका और बतलाया कि ये विष्णु हैं। आचार्यकी बात बलिने अनसुनी कर दी। वह वचनको तोड़ना नहीं चाहता था। आचार्यने उसे श्री भ्रष्ट होनेका शाप दिया। जल पात्र में प्रविष्ट होकर आचार्य बलिको संकल्पसे रोकना चाहते थे, किन्तु वामन ने तृणसे वहाँ उनकी एक आँख फोड़ दी।

दान ग्रहण करके वामनरूप विराट हो गया। एक पद में पृथ्वी और दूसरे में स्वर्ग माप लिया। तीसरेके लिये बलिने अपना मस्तक आगे कर दिया। वामनने बलिको बांध लिया। ब्रह्माकी प्रार्थनापर बलि बन्धन से मुक्त हुआ और पाताल भेज दिया गया। भगवान् उसके द्वारपर सदा गदापाणि उपस्थित रहते

हैं। बलिका आसुर भाव भगवत् सान्निध्यसे दूर हो गया। आगामी मन्वन्तर में बलि इन्द्र होगा। वामनको ब्रह्माने जगतकी रक्षा के लिये उपेन्द्र बनाया।

**आध्यात्मिक अर्थ** - हिरण्यकशिपुसे प्रह्लाद, उनसे विरोचन और उससे बलि - यह वंश परम्परा है। राजस अहंकारसे आनन्दमय विश्वास, उससे उत्साह और उससे सत्व मिश्रित राजस अहंकार। बलि राजस है, पर सत्वगुण प्रधान। जब अहंकार और कुवृत्तियाँ सत्व प्रवृत्तियोंसे हार जाती हैं तो वे ब्राह्मणोंकी शरण लेती हैं। अहंकार दान-पुण्यादि सात्विक कर्मोंकी सेवा करता है। इस समय सात्विक प्रवृत्तियोंको हारना पड़ता है। जब तक राजस अहंकार सात्विक कार्योंमें लगा है, सात्विक वृत्तियाँ उसे दबाने में समर्थ नहीं। स्वर्गका स्थान असुर ले लेते हैं। जिन भावनाओं का उदय शुभ वृत्तियोंसे होता था, वे अब रजोगुणसे मिल जाती हैं। अब केवल उद्योग, साहस प्रभृति आसुरी कार्योंमें सुख मिलता है।

देवमाता अदितिको इससे दुख होता है। सात्विक बुद्धि जो सात्विक वृत्तियोंकी जननी है, वह इससे कष्ट पाती है। वह विचार-स्वरूप कश्यप की शरण लेती है, जो उसे पयोव्रतके द्वारा भगवान् की उपासना करनेको कहते हैं। विचार बुद्धिको बतलाता है कि निरन्तर शुद्ध सत्वगुणमें स्थित रह कर भगवान् की आराधना करना चाहिये। द्वादश दिनकी अखण्ड उपासना या समाधि, जो पूर्ण सत्व सेवनसे हुई हो, वामनको प्रकट करती है। बुद्धिको भगवद् दर्शन होते हैं और सूक्ष्मरूपसे बुद्धि में भगवद् रूपका उदय होता है।

रजोगुण सात्विक यज्ञकी पराकाष्ठा पर होता है। पराकाष्ठा ही प्रभुको प्राप्त कराती है। सात्विक कार्य (यज्ञ) को पराकाष्ठा पर पहुँचानेके समय सूक्ष्म रुपेण भगवद् दर्शन वहाँ होता है। आत्मानन्दकी धुंधली छाया मिलती है। वह दर्शन त्याग चाहता है। रजोगुण समझता है "उसे तनिक सा स्थान चाहिये", तनिक देर उसको अपने में स्थान देने को वह तत्पर हो जाता है। पर शुक्र उसे रोकते हैं। ब्रह्मचर्यका ओज राजस पुरुषको समाधिसे विरत करता है और बतलाता भी है कि इससे उसकी राजसिकता नष्ट हो जायगी। वह ओज सूचित करता है "इस दर्शनको सूक्ष्म समय या स्थान नहीं चाहिये।" बलिके साथ शुक्र

दो आंखोंके होते हैं। सात्विक कार्यों में लगे राजस व्यक्तिका ओज लोक और परलोक दोनोंको सम्भालता है। परन्तु यह लोक उसे प्रधानतया प्रिय होता है।

राजस व्यक्तिकी यथेच्छा और दृढ़ता ओजकी उपेक्षा करती है। "मैंने समाधि भी प्राप्त की" यह कहलाने की इच्छा अथवा "चंचल होना भीरुता है", यह दृढ़ता उससे लोककी चिन्ता छुड़ा देती है। आनन्दका आकर्षण भी खींचता है। ओज एकाग्र होने में बाधा देता है, पर भगवान उसकी एक आंख फोड़ देते हैं। अन्तर में के आकर्षण द्वारा ओजका भी सम्बन्ध छूट जाता है और वह केवल इस लोककी वस्तु रह जाता है। ओजकी उपेक्षा ऐश्वर्यनाश की सूचना देती है।

राजस अहंकार जहाँ सात्विक आनन्दकी ओर खिंचा, वामन विराट हो जाते हैं। वह सूक्ष्मानन्द महान हो जाता है और अहंकारी जीवके सारे फैलावेको व्याप्त कर लेता है। भौतिक राज्य और स्वर्गकी आशा दोनों, उस आनन्दके चरणोंमें आ जाते हैं। वह विराट है। "अहं" को भी अपना मस्तक उसके पदमें रखना पड़ता है। अहंकार के सिरपर वह पैर रखता है। उसे नष्ट नहीं करता, पर बांध लेता है। शिथिल कर देता है।

जीवन और सृष्टिके लिये अहंकारका रजोगुण भी आवश्यक है। सृष्टि शक्ति उसे चाहती है, ब्रह्माकी प्रार्थनापर बलि छोड़ा जाता है। समाधिसे उठने के लिये अहंकार मुक्त होता है। वह पाताल भेज दिया जाता है। हृदयके अंतरतम प्रदेशमें सूक्ष्मतासे निवास रहता है। भौतिक वस्तुओंमें "अहं" और "मम" नहीं रह जाता। अहंकार जिस सूक्ष्मतामें रहता है, वहाँ उसे भगवत् सान्निध्य रहता है। हृदयकी उस अन्तरदशामें परमात्मा की उपस्थिति रहती है। अहंकार आसुरी नहीं रह जाता। वह सात्विक हो जाता है।

यही सूक्ष्म अहंकार प्रधान देवता इन्द्र होता है। बलकी सात्विक नियामक वृत्ति इसीका रूप है। बलि कालान्तर में इन्द्र होते हैं। एकाग्रता में जो आत्मानन्द अभिव्यक्त हुआ था, उसकी सूक्ष्म स्मृति सात्विक वृत्तियों की रक्षा करती है। यद्यपि समाधिप्राप्त योगी या पूर्णज्ञानी कर्म-बन्धनसे मुक्त होता है और उसके लिये शुभाशुभ सब वृत्तियां समान हैं, परन्तु व्यवहार में उसे उस अन्तरके आनन्दकी उपलब्धि शुभ वृत्तियोंसे होती है। इसीसे वह शुभ कार्य

करता है। वही आत्मानन्द वामन (सूक्ष्म) रूपसे उपेन्द्र होकर देवता (शुभवृत्ति) वर्गका रक्षक होता है।

**आधिदैविक अर्थ** - बलिकी एक ऐसी आध्यात्मिक कथा है जिसका साधक पात्र यज्ञादि द्वारा हृदय शुद्ध होनेपर साध्य प्राप्त करता है। रजोगुणी साधकका साधन मार्ग उसमें बतलाया गया है। हृदयमें जिस पद्धतिसे साधना पूर्ण हो जाती है, उसीके अनुसार इस कथाका आधिदैविक समन्वय है।

साधक नाभिचक्र से ही यज्ञादि कार्यों में तो लगा ही रहता है। हृदय चक्रमें प्रविष्ट होते ही अमृत-मन्थन होता है जो सात्विक वृत्तियोंको बलवान बनाता है। पर शुभ कर्मोंमें अहंकार आता है और वह देवताओंको परास्त कर लेता है। एक बार साधक में भरपूर अहंकार जागृत होता है। यज्ञादि कर्म ही सब कुछ जान पड़ते हैं। मीमांसा दर्शनकी यही अवस्था है। साधक कर्म में लगता है।

इस समय बुद्धिको स्थिर करके केवल दूध पीते हुए साधन करना चाहिये। केवल बारह दिनमें विचारसे बुद्धि कर्मसे ऊपर उठ जायगी। "कर्म ही सब कुछ है।", यह विचार जाता रहेगा। सूक्ष्मतया बुद्धि भगवान् को समझ सकेगी। मीमांसासे यह साधना योगकी भूमिका में प्रविष्ट करेगी। इसका प्रभाव कर्मपर पड़ेगा। वह आनन्द तनिक स्थान चाहेगा मन में। यद्यपि कर्मोंकी प्रवृत्ति जिस शुक्रकी जीवन शक्तिसे होती है, वह बाधा देगी, उसकी उपेक्षा करनी चाहिये।

सिद्धियां नष्ट हो जाती हैं, क्योंकि वे अहंकार से होती हैं। लौकिक विद्या, प्रतिभा और पारलौकिक अणिमा, ईशत्व प्रभृति सिद्धिकी शक्ति उस एकाग्रता में लय हो जाती है। अहंकार बन्ध जाता है। यह सांख्यकी भूमिका है। वह पुरुष विराट हो जाता है। अहंकार परिच्छिन्न रहता है।

बलि पाताल में पहुँचकर सदा भगवान् को समीप पाता है। वेदान्त की यह दशा है। सर्वदा सब कहीं परमतत्व प्रतीत होता है। अहंकार से शरीर चलता है, पर उसकी प्रतीति नहीं होती। वह पातालमें रहता है। आनन्दकी सूक्ष्म दशा

चित्तमें सदा उपस्थित रहती है और उसीके कारण केवल शुभ वृत्तियां ही उठती हैं। वे उपेन्द्र देवताओंकी रक्षा करते हैं।

***

# विष्णु

**मूलकथा** - क्षीर सागर में सहस्त्र शीर्षा शेषकी शय्या पर भगवान् विष्णु शयन करते हैं। माता लक्ष्मी उनके चरण दबाया करती हैं। उनके नाभि कमल से ब्रह्माकी उत्पत्ति होती है। सृष्टिमें जब-जब दैत्योंका प्राबल्य होता है तो वे नाना प्रकारके अवतार धारण करके दैत्यों का शमन करते हैं।

भगवान विष्णु स्थितिके देवता हैं। उनका काम विश्वका पालन करना है। उनके चार बाहु हैं और उनमें शंख, चक्र, गदा और पद्म ये आयुध रहते हैं। उनका वर्ण दूर्वादलके समान नील है। उनके वक्षपर भृगुके प्रहार से पड़ा चरणचिह्न है। कौस्तुभ और वैजयन्ती माला उनके प्रधान आभूषण हैं। वे पीताम्बर धारण करते हैं और गरुड़ उनका वाहन है।

**आध्यात्मिक अर्थ** - सत्वगुणके अनन्त उज्ज्वल समुद्र में सहस्त्र शीर्षके ऊपर अर्थात् सात्विक अन्तःकरण में, अनेक कथा वृत्ति युक्त चित्रके भीतर ज्ञान की स्थिति होती है। लक्ष्मी ज्ञानकी चरण सेविका है। सृष्टिकारी रजोगुण युक्त प्रवृत्तिमय ज्ञान, इसी सात्विक ज्ञानसे उत्पन्न होता है। जब-जब राजस-तामस वृत्तियां अधिक उपद्रव करती हैं, तब-तब वह सात्विक ज्ञान अनेक सात्विक वृत्तियोंके रूपमें अवतीर्ण होकर उनका दमन करता है।

पालन सत्वगुणका कार्य है। सात्विक ज्ञानसे, सात्विक वृत्तिसे आयु का रक्षण होता है। वह विष्णु है - प्रत्येक स्थान में वह व्यापक है। उसका मूल केन्द्र सात्विक अन्तःकरण है। ज्ञानके चार आयुध हैं, शंखघोष (बुद्धि), चक्र (तेज), गदा (शक्ति) और पद्म (सौन्दर्य)। विद्या, तेजस्विता, निर्भीकता और कला ये चारों आयुध संकेत करते हैं। सात्विक ज्ञानी, पूज्यजनों की ताड़नाका भी हृदयसे सम्मान करता है - यह है भृगुलताका संकेत।

कौस्तुभ-प्रकाश और वैजन्ती अर्थात घुटनों तक की माला विष्णुके भूषण है। ज्ञान - प्रकाश और सर्वांग सौंन्दर्यको धारण करता है। पीताम्बर धारी है वह, पर उसका वर्ण नील है। नीलवर्ण रंगहीनता का और सीमा का द्योतक है। क्षितिजका कोई रंग न होनेपर भी वह नील दिखाई पड़ती है, क्योंकि नेत्रोंकी शक्ति वहाँ रुक जाती है। ज्ञानका कोई रंग नहीं, पर वह सात्विक ज्ञान मानव ज्ञानकी सीमा है, उसके परेका तत्व हम नहीं जान सकते, यह उसकी नीलिमा बतलाती है। नील रंग प्रकाशका अत्यन्त उत्कर्ष है। ज्योति प्रखर हो तो उसका केन्द्र नीला रहेगा। उस ज्ञानकी प्रकाश स्वरूपता भी इस रंगसे सूचित है। ज्योतिका केन्द्र नील होनेपर भी किरण पीली होती है। विष्णु पीताम्बरधारी हैं। पुराणोंमें स्पष्ट कहा गया है कि वैदिक श्रुतियाँ ही सुपर्ण अर्थात गरुड़ हैं। वह सात्विक ज्ञान श्रुतियोंके द्वारा प्राप्त होता है, वह उसी पर आरूढ़ रहता है।

**आधिदैविक अर्थ** - हृदय-कमल के अनाहत चक्रमें भगवान विष्णुका निवास है। नाभिके मणिपूरक चक्रको जागृत करनेके पश्चात् इसे जागृत करने का क्रम है। भक्ति मार्गीय लोग यहीं से उपासना आरम्भ करते हैं। सात्विक लोग विष्णुके उपासक है। आराध्यका ध्यान इसी चक्रमें होता है।

सहस्त्रों वृत्तियोंवाले मनपर इस चक्रको जाग्रत करनेवाला विजयी हो जाता है। लक्ष्मी उसकी आज्ञावर्तिनी हो जाती है। तर्क (शंख), तेज (चक्र), शक्ति (गदा) और सौंदर्य (पद्म) उसके वश में होते हैं। वह सम्पूर्ण निधियोंका स्वामी हो जाता है, क्योंकि प्रधान मणि कौस्तुभ इसीकी द्योतक है। वैजयन्ती वनमाला उसे सुखी करती है। कामके पंचपुष्प उसे विकृत नहीं कर पाते। वह उन्हें धारण करके संसार में रहकर भी निर्विकार रहने में समर्थ हो जाता है। पर अब भी उसे गुरुके शासनको मानना होगा। चक्र के अधिदेवता अपने वक्षपर भृगुलता धारण करके उसे यह सूचित करते हैं।

अम्बरको भी यहाँ कुण्डलिनी पी लेती है। साधक पीताम्बरधारी, उस कुण्डलिनीको धारण करनेवाला हो जाता है। हृदयाकाशमें कुण्डलिनी स्थित हो जाती है। साधनमें जो विघ्न आते हैं, वह शेषशायी भगवान विष्णुके ध्यानसे

नष्ट होते हैं। वे सभी दैत्योंका नाश करते हैं। स्थिति यहीं होती है। साधक यहाँ सत्वगुण में शान्ति और स्थिरता पाता है।

भगवान् विष्णु क्षीर सागरमें रहते हैं। यह हृदयाकाश सत्वगुणसे परिपूर्ण है। प्रकाशका केन्द्र नीला होता है और शान्ति द्योतक है। यहाँ साधक को शान्ति मिलती है। विष्णुका वाहन गरुड़ है। यदि साधक चाहे तो इसी कमल में एकाग्र होनेपर वह दैविक श्रुतियोंका साक्षात कर सकेगा। ऋषियोंनें ऐसे ही किया था। श्रुतियां विष्णुका वहन प्रतिपादन भी करती हैं।

शारीरिक दृष्टिसे भी इसकी एक व्याख्या हो सकती है। श्वेत मस्तिष्कके भागमें रहनेवाली शाक्तिको विष्णु कहेंगे। वहां से सहस्त्रों नाड़ियां निकलती भी हैं। वह ज्ञानतन्तु शरीर में व्यापक हैं। शरीरमें व्याधि होनेपर वह मानसिक शक्ति उसके निवारणका उद्योग करती है। कार्य शक्ति ब्रह्मा उसीसे उत्पन्न होते हैं। वह शक्ति प्रकाशका केन्द्र अतः नीलवर्ण है। लक्ष्मी सदा ज्ञानकी चरण सेविका है।

तर्क, तेज, शक्ति और सौन्दर्य ज्ञान तन्तुओंका आधार रखता है। ये सब उसीके आयुध हैं। ज्ञान गुरुजनोंके सम्मुख नत रहता है। गरुड़ अर्थात श्रुति प्रभृतिका अध्ययन उसे बढ़ाता या उसे विकसित करता है। एकसे दूसरे स्थानपर ज्ञातका वहन वाक्यों द्वारा होता है, फिर वे चाहे लिखे हुए हों या बोले हुए। मेरा ज्ञान दूसरेके पास पहुँचनेके लिये वाक्यों पर सवार होगा। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं। ज्ञान पीताम्बरधारी अर्थात् आकाशसे भी सूक्ष्म और उसे धारण करने वाला है।

हृदयचक्रको "अनाहत" कहते हैं। वह सत्वगुणका अधिष्ठान है, सत्वगुणको कोई आहत कर नहीं सकता। "मूलाधार" कुण्डलिनीका आधार होनेके कारण कहा जाता है। दूसरा चक्र जीवकी शक्तिका केन्द्र है, अतः उसे "स्वाधिष्ठान" कहते हैं। नाभिचक्रमें सिद्धियां प्राप्त होती हैं। वह समस्त ऐश्वर्य का दाता अतएव "मणिपुर" कहा जाता है। आगे दो चक्रोंका विवरण अगले प्रकरणोंमें होगा।

कोई भौतिक शक्ति अनाहत चक्रको जागृत करनेवाले साधकको आघात नहीं पहुँचा सकती। समस्त ऐश्वर्यका वह स्वामी होता है और बौद्धिक ज्ञान उसका वाहन होता है। उसपर उसका पूर्ण अधिकार होता है। नाभिचक्र में सरस्वती आराध्यकी सहधर्मिणी रूपसे प्राप्त होती हैं और यहाँ विद्या वाहन बन जाती हैं। उसपर पूर्णतः अधिकार हो जाता है। स्मरण रहे कि आधार चक्रमें बुद्धिके देवता आराध्य रूपसे प्राप्त हुए थे, द्वितीयमें शक्तिका उनके माता रूपसे सान्निध्य हुआ, तृतीयमें विद्या, आराध्य न होकर आराध्यकी सहधर्मिणी हो गयी और चौथे में लक्ष्मी आराध्य की सहधर्मिणी और विद्या वाहन। आराध्यका रूप - अनुभूति स्वरूप ज्ञान। इस प्रकार उत्तरोत्तर विकासक्रम चला है।

**कुछ स्फुट बातें** - स्थितिके देवताकी मूर्ति है भगवान विष्णुकी मूर्ति। स्थितिका निर्विकार रूप क्षितिज है और यही उनका रंग है। पालन के लिये धन और ज्ञान चाहिये। लक्ष्मी उनकी चरण सेविका और गरुड़ उनका वाहन है। पालनकर्ता को विघ्नोंसे सामना करना पड़ता है, अस्त्र और शस्त्र दोनों चक्र और गदाके रूपमें पास हैं। मंगलघोषी शंख और कलाका सूचक कमल भी हाथों में है। स्थितिके देवताकी मूर्ति कुछ कंगाल तो होगी नहीं। वह कौस्तुभमणि सर्वश्रेष्ठ रत्न, वैजयन्तीमाला और पीताम्बर पहनता है। साथ ही वह बड़ोंकी कटु शिक्षाका हृदयसे सम्मान करता है, वह भृगुके पाद-प्रहारका चिह्न हृदयपर धारण करके बतलाता है। पत्नी उसे प्राण-सी प्यारी है। श्रीवत्सका चिह्न उसके हृदय में है। कल्पनाकी पराकाष्ठा इस कलामें अभिव्यक्त हुई है।

***

# सीता हरण

**मूलकथा** - महाराज विदेहकी पुत्री जो पृथ्वीसे उत्पन्न हुई थीं, धनुषयज्ञमें भगवान रामने वरण किया। सीता केवल रामको चाहती थीं और धनुष तोड़ने में राम ही समर्थ हो सके। विश्वामित्र रामको जनकपुर तक पहुँचाने में कारण हुए थे।

वनवासके समय मारीच कनकमृग बनकर आया। सीताने उसका चर्म चाहा। राम मृगके पीछे दौड़े, दूर जाकर मृगकी करुण पुकारको, भ्रमसे रामकी पुकार समझ सीताने लक्ष्मणको भी भेज दिया। रावण अवसरकी प्रतीक्षा में था। वह साधु वेशमें आया और सीताको चुरा गया। मार्ग में जटायुने रावणपर आक्रमण किया, पर राक्षस उसे अधमरा कर गया।

रामने भाई के साथ लौटनेपर आश्रमको सूना देखा। व्याकुल होकर वे रोने लगे। रोते और प्रत्येक लता-तरुसे सीताका पता पूछते हुए उन्हें जटायु मिला। उसने उन्हें रावणका पता दिया। जटायु मर गया। राम शबरीके आश्रम में होते, कबन्धको मारते, पंपापुर पहुँचे। यहाँ हनुमानके द्वारा सुग्रीवसे उनकी मित्रता हुई। बालिको मारकर उन्होंने सुग्रीवको राज्य दिया।

सुग्रीवने सीताका पता लगानेके लिये बन्दर भेजे। यह हनुमान के ही वशका था कि वे सौ योजन समुद्र कूद कर लंका जा सके। अशोकवन में उन्होंने सीताको देखा। वे रावणसे भीत और रामका स्मरण करती थीं। राक्षसियां उन्हें घेरे थीं और रावणकी ओर आकर्षित करना चाहती थीं। हनुमानने सीताको रामकी अंगूठी दी, लंका जलायी, अक्षयकुमार को मारा, अशोकवन उजाड़ा और फिर समुद्र कूद आये।

सुग्रीवके साथ वानरी सेना लेकर रामने लंकापर चढ़ाई की। विभीषण आ मिला। समुद्रपर पुल बँधा। घोर युद्धमें बन्धु बान्धव सहित रावण मारा

गया। विभीषण लंकाका राजा हुआ। हनुमान सीताको लिवा लाये। अग्नि परीक्षा लेने के पश्चात् रामने उन्हें स्वीकार किया।

**आध्यात्मिक अर्थ** - विदेहकी धरासे उत्पन्न पुत्री सीता हैं। शान्ति, शरीरभान शून्य साधकको धैर्यसे मिलती है। शान्ति केवल आत्माका वरण करती है। वही आत्माराम शिवके माया रूप धनुषको तोड़ने में समर्थ हैं। चाहते तो सब सात्विक राजसादि भाव हैं, पर समर्थ आत्मा मात्र है। विश्वामित्र रामको जनकपुर पहुँचाते हैं। विश्व हितकी प्रेरणा रामको शान्ति तक ले जाती है।

पिता दशरथकी आज्ञासे राम भाई और पत्नीके साथ वनमें जाते हैं। दस इन्द्रियोंका स्वामी मन कामासक्त होकर आत्मा, शान्ति और शौर्यका त्याग कर देता है। किन्तु आत्मासे दूर होकर वह मर जाता है। वनमें स्वर्ण मृग मारीचको सीता चाहती हैं। माया निमित्त अज्ञानके बाह्य चाक-चिक्य में शान्तिकी इच्छा होती है। वस्तुतः यह अहंकार रूपी रावण की प्रेरणा है जो शान्तिको चुराना चाहता है। चाक-चिक्यमें आत्माका आभास होने पर शान्ति शौर्यको भी भेजती हैं, कहीं रामपर संकट न आया हो। शौर्यके दूर होनेपर अहंकार सौम्य रूपसे सीताके पास आता है। शान्ति हृदयके अन्तर्मुख भावको छोड़कर जैसे ही बहिर्मुख होती है, अहंकारका वास्तविक रूप मिलता है। वह सीताको चुरा ले जाता है। धैर्य रूपी तप बाधा देता है, पर अहंकार उसे अधमरा कर जाता है।

राम अन्तर्मुख होनेपर भी शान्ति नहीं पाते। बाह्य प्रवृत्ति शान्ति को खो देती है। शान्तिहीन आत्मा व्याकुल हो जाता है। तप बतलाता है कि शान्ति अहंकारने हरण की। शबरी रूप श्रद्धाको तुष्ट करते और नैराश्य रूपी कबन्धको मारकर राम पम्पापुर पहुँचते हैं। यहाँ उनकी हनुमान अर्थात् विचारके द्वारा सुग्रीव रूपी धैर्यसे मित्रता होती है। बालि स्वरूप चापल्यको मारकर वे धैर्यको प्रतिष्ठित करते हैं। सुग्रीव अनेक वानरोंको सीतान्वेषण के लिये भेजते हैं। धैर्य सभी वृत्तियोंको नियुक्त करता है। यह विचारका काम है कि वह भ्रमके विशाल सागरको पारकर रजोगुणका विश्लेषण करे। हनुमान लंकामें सीताको देखते हैं। सब दुर्वृत्तियाँ चाहती हैं कि शान्ति अहंकारको वरण करे। वे भय भी दिखाती

हैं। पर शान्ति कभी अहंकारको नहीं मिलती। अहंकार इसे अशोक वन, निश्चिन्ततामें रखता है, किन्तु वहाँ भी वह रामकी है। विचार उसे आश्वासन देता है। विचारके द्वारा अहंकारकी निश्चिन्तता नष्ट हो जाती है। अक्षयकुमार रूपी दम्भ मारा जाता है, स्वर्ण लंका अर्थात् रजोगुणका सौन्दर्य भस्म हो जाता है।

विचारसे ठीक निश्चय होनेपर समस्त सात्विक भावोंके साथ राम लंका पर चढ़ाई करते हैं। भ्रम रूपी सागरपर पुल बँध जाता है। भ्रम रामके लिये मार्ग देता है। विवेक रूपी पुल सात्विक भाव बना देते हैं। अहंकार के तीन रूप हैं - राजस, तामस, सात्विक - रावण, कुम्भकर्ण, विभीषण। विभीषण रामसे मिल जाता है। सात्विक अहंकार आत्म शान्तिका समर्थक हैं, इसीसे रावण उसकी उपेक्षा करता है।

युद्ध में अपने समस्त बन्धु बान्धवोंके साथ रावण मारा जाता है। लंका का राज्य विभीषण पाते हैं। सात्विक अहंकार शरीरकी चेष्टाओंके लिये रजोगुणका अधिपति होता है। विचार ही फिर शान्तिको रामसे मिलाता है। सीताको अग्नि परीक्षा देनी पड़ती है। शान्तिको कष्टकी अग्नि में तपाकर तब राम उसे ग्रहण करते हैं।

**आधिदैविक अर्थ** - शरीरसे विदेह होकर, धैर्यपूर्वक जब साधक मेरुदण्ड रूप धनुष को तोड़कर कुण्डलिनीके पास मूलाधार में पहुँच पाता है, तो कहीं जीवात्मा शान्ति रूपिणी सीताको पाता है। यह कुण्डलिनी ही वहाँ शान्ति हो जाती है। यह साधनका विपरीत क्रम है जो विश्वहित की कामनासे महापुरुष करते हैं। इसके प्रेरक हैं विश्वामित्र, यह साधन अनुक्रमसे कुण्डलिनी जागरणकी अपेक्षा सुगम है।

हृदय रूपी अयोध्याकी शक्ति विश्वहितकी प्रेरणा से मूलाधार में आती है। वह धनुषाकार कुण्डलिनीको तोड़कर, उसके तीन मोड़ोंको तोड़कर शान्तिरूपिणी उस शक्तिको हृदयमें ले जाती है। साधकको हृदयसे नीचे की ओर गतिका ध्यान करना पड़ता है। मनकी विषयासक्ति साधकके आत्मदर्शन और शान्तिको नष्ट कर देती है। मनमें आसक्ति आते ही जीवात्मा पुनः उस

कुण्डलिनी शक्तिके साथ नीचे आ जाता है। नाभि और हृदयके मध्य में वह रहता है। उधर मनोनाश राम वियोग में हो जाता है।

मायाके प्रलोभन साधकको भ्रान्त करते हैं। रजोगुणकी चंचलता और सिद्धियोंका प्रलोभन, जो अहंकार द्वारा आता है, शान्तिको रामसे पृथक करके हरण कर लेता है। दिव्य रूपोंकी ओर आकर्षित होते ही, कुण्डलिनी नाभि में जा पहुँचती है। वे दिव्यरूप केवल मायिक मिलते हैं। राम लक्ष्मणके साथ लौटकर सीताको नहीं पाते। साधक जब शान्ति खो देता है तो उसे शौर्य के साथ भटकना पड़ता है। एक नन्हा उपचक्र बतलाता कि शक्ति सीता अहंकार ले गया। यह जटायु चक्र है।

राम पम्पापुर पहुँचते हैं। यह एक उपचक्रों में से प्रधान है। यहीं विचारका उदय होता है। चक्रकी चंचलताको नष्ट करके राम वहाँ धैर्य को प्रतिष्ठित करते हैं। अन्वेषण होता है कि सीता कहां? विचार नाभि चक्र तक पहुँचता है। हनुमानकी शक्ति ही वहीं जा सकती है। साधकको उस समय हनुमान का ध्यान करना पड़ता है। हनुमान अशोक वनमें कुण्डलिनीको पाते हैं। वह क्षीण और राम चिन्ता होती हैं। विचार से नाभिचक्र की निश्चिन्तता नष्ट हो जाती है। रजोगुण दग्ध हो उठता है।

जीवात्माका वहाँसे पुनः नाभिकी ओर प्रयाण होता है। मायाका अनन्त समुद्र है, उसे शुष्क किया जा सकता है, पर शरीर धारणके लिए उसका रहना आवश्यक है। उसपर विवेकका पुल बना, राम ससैन्य पहुँच जाते हैं। सात्विक अहंकार विभीषण उनसे मिल चुका होता है। युद्धमें रावण सकुटुम्ब मारा जाता है। विभीषण लंकापति होते हैं। उस चक्रका संचालन सात्विक अहंकार करता है।

विचार सीताको रामसे मिलाता है। साधनकी कठोर अग्नि में सीताकी परीक्षा लेनी है। कष्टमें कहीं शान्ति भंग तो नहीं होती। उससे उत्तीर्ण होनेपर सीताको राम ग्रहण करते हैं। पुष्पकसे सीधे अयोध्या आते हैं। भावना उन्हें वहाँसे सब वृत्तियोंके साथ हृदय में पहुंचा देती है। यहाँ आकर राम विश्वमें

रामराज्यका स्थापन करते हैं। यह रामका चौदह वर्षका वनवास है। चतुर्दश वर्ष लगते हैं इस साधनाकी पूर्णता में।

***

# कृष्ण जन्म

**मूलकथा** - कंसने बड़े आदर से बहिन देवकीका विवाह वसुदेवसे कर दिया। वह स्वयं रथ चलाकर दम्पतिको पहुंचाने जा रहा था। सहसा आकाशवाणी हुई, "मूर्ख, तू जिसे पहुंचाने जा रहा है, उसका अष्टम पुत्र तेरा वध करेगा।" कंस डरा और उसने झट तलवार लेकर देवकीको मारना चाहा। वसुदेवजीने वचन दिया "मैं पुत्र उत्पन्न होते ही तुम्हें दे जाया करूंगा।" इस पर कंस उन दोनोंको बन्दीगृहमें डालकर घर लौटा।

वसुदेव के प्रथम पुत्र हुआ। वे उसे कंसके पास ले गये। कंसने पहिले तो उसे लौटा दिया, पर नारदने उसको जब भय बताया "कोई भी अष्टम कहा जा सकता है।" तो वह डर गया। उस बच्चेको पत्थरपर पटक कर उसने मार डाला। इस प्रकार छह पुत्र वसुदेवके कंस द्वारा मारे गये। सातवें गर्भ में शेष आये। योग मायाने उन्हें देवकीके गर्भसे खींचकर नन्द भवनमें रहनेवाली वसुदेवजीकी स्त्री रोहिणीके गर्भ में पहुंचा दिया। बलरामकी उत्पत्ति ब्रजमें हुई।

श्रीकृष्ण आये देवकीके अष्टम गर्भ में। माताका तेज बढ़ गया। कंसने पहरा कड़ा कर दिया। भाद्रपदकी अन्धकारमयी रजनी में जेलकी उस कोठरी में बँधे माता-पिताने अपने सम्मुख एक तेजोमय चतुर्भुज मूर्ति देखी। माता के आग्रहपर वह मूर्ति बालक बन गई। वसुदेवने उसे उठाया। बेड़ियां स्वयं खुल गईं, द्वार खुले मिले। रक्षक सोये थे, यमुनाने मार्ग दे दिया। वसुदेव उस बच्चेको ब्रज में यशोदाकी गोद में रख आये। यशोदा माता सो रही थीं। उनके पुत्री हुई थी, वसुदेवजी वह कन्या उठा लाये।

यमुनाने पुनः मार्ग दिया, भीतर जाते ही द्वार बन्द हो गये, बेड़ी पहन ली। कन्या रो पड़ी, कंसको पता लगा। वह दौड़ा आया, उसने कन्या छीनकर शिला पर दे पटकी। वह हाथसे छूट आकाशमें अष्टभुजी शक्ति हो गई। कंसको

उसके विध्वंसकके प्राकट्यकी सूचना देती गई। उधर कन्हैया बाबा नन्दके यहाँ पालित होने लगा।

**आध्यात्मिक अर्थ** - काम प्रथम सात्विकताको अन्तःकरण से स्वयं सम्बन्धित करता है। वह स्वयं नियम (उग्रसेन) का पुत्र है और सात्विकता (देवकी) उसकी बहिन है प्रकाशक। अन्तःकरण (वसुदेव) से काम स्वयं देवकीका परिणय कराता है। इसी समय उसे ज्ञात होता है कि संयोगकी आठवीं अभिव्यक्ति मेरा नाश करेगी। प्रेमकी अभिव्यक्ति कामको नष्ट कर देती है। कंस सात्विकताको नष्ट करना चाहता है, पर अन्तःकरण उसे समझाता है, "अभिव्यक्ति भाव तुम्हें दे दूँगा। उन्हें चाहे जो करना, इसे छोड़ दो।" सात्विकता और अन्तःकरण दोनों कामके द्वारा बन्दी हो जाते हैं।

सात्विकताके संयोगसे अन्तःकरणका प्रथम पुत्र कीर्तिमन्त हुआ। सात्विकताने यश दिया। कंस उसे छोड़ना चाहता था, मन (नारद) ने धोखा दिया "कहीं यशका लोभ तुझे नष्ट न कर दे।" कामने यशको मार डाला। इसी प्रकार काम (कंस) ने अन्तःकरणके पाँच पुत्र क्रमशः - सुषेण (शोभा), भद्रसेन (स्वास्थ्य), ऋजु (सरलता), समर्दन (बल) और भद्र (कल्याण) को मारा।

सप्तम गर्भमें भगवान् शेष आये। सात्विक अन्तःकरण में प्राण-शक्ति आई। योगमाया (योगशक्ति) ने उसे नन्द (आनन्द) के घर रहनेवाली वसुदेवकी दूसरी पत्नी रोहिणी (जीवन-शक्ति) में प्रविष्ट कर दिया।

बलराम इस प्रकार ब्रज (गतिशील संसार) में आये। काम यहाँ उन्हें नहीं पा सकता। क्योंकि संसार में जीवन के लिये वह प्रकट प्राणोंका नाश नहीं कर सकता। वैसे शत्रु तो है ही।

भाद्रपदकी घोर अंधकार रजनीमें बँधे बन्दीके सम्मुख कंसके कारागार में ज्योतिर्मय चतुर्भुज मूर्ति प्रकट हुई। काम के बन्दीगृहमें पड़े, बेबस अन्तःकरणमें जब निराशा अपनी चरम सीमापर होती है, सात्विकतासे अन्तरकी दिव्य ऐश्वर्यमय ज्योति प्रकट होती है। सात्विकताका आग्रह है कि वह ऐश्वर्य मुक्त न होकर प्रेममय रहे। ऐश्वर्य विलीन होता है और वही अन्तर्ज्योति प्रेमका आकर्षण कृष्ण बन जाती है। वसुदेव उसे नन्दके यहाँ पहुँचाते हैं। वह आनन्दके

आंगन में यशदायी वृत्तिकी गोद में खेलना चाहता है। बन्दी अन्तःकरण में वह खेल नहीं सकता। वह कंसको मारकर उसे मुक्त करनेवाला है। अन्तःकरणको वासना (श्रृंखला और द्वार) रोक नहीं पाते। क्रूर भाव निद्रित मिलते हैं, यमुना (विद्याका प्रवाह) मार्ग देती है। यमुना यम (अज्ञान) की बहिन है।

वसुदेव यशोदाकी कन्या योगमायाको उठा लाते हैं। यशोदात्री वृत्ति योगमायाको केवल प्रकट करती है। वह उसे नहीं, कृष्णको अपना पुत्र मानती है। वसुदेव स्वयं सब बन्धन स्वीकार कर लेते हैं। क्रूरभाव योगशक्तिके आगमनसे जगते हैं। वे कामको जगाते हैं। काम-शक्तिको नष्ट नहीं कर पाता। शक्ति अपना ऐश्वर्यमय रूप दिखलाकर कामके नाशकी सूचना दे जाती है।

**आधिदैविक अर्थ** - कृष्णका जन्म सीधे अर्थों में प्रेमकी साधना है। आत्म ज्योतिका जीवनमें पूर्णतया अवतरण कृष्णावतार है। प्रत्येक व्यक्ति में कुछ सात्विकता होती है। कामके द्वारा सात्विकताका नाश सम्भव नहीं। चेष्टा करोगे तो वह काम स्वयं चित्तमें सात्विकता देगा।

हृदय में सात्विकताका संयोग करो। जब कभी काम-वृत्ति उठे तो सात्विक भावका आश्रम लेकर हृदयमें एकाग्र हो। एकाग्रतामें अपना नाश देख काम क्रोधका रूप लेगा। सात्विकताको मरने मत दो। वह मरेगी नहीं, यदि अन्तःकरणसे कामका विरोध न करके तुम उसे व्यवस्थित कर सको।

हृदयमें इस प्रकार एकाग्र होते समय जब काम क्रोधका रूप लेगा, वह यश, बल, स्वास्थ्य, भौतिक-कल्याण, शोभा और सरलताकी बलि लेगा। बात यह है कि यह साधन हृदय चक्रसे ही प्रारम्भ होता है। साधक को लोक प्रसिद्धिसे बचना चाहिये, नहीं तो कामना उसे नष्ट कर देगी। एक बार कंस इसे छोड़ना भी चाहता है। सात्विक मनके द्वारा उसे समझाओ। लोक प्रसिद्धिको कामना नष्ट कर देगी। महापुरुष कामनायुक्त न होते हुए भी, ऐसा प्रयत्न करते हैं कि लोग उन्हें संसारासक्त समझें। साधनमें कामनाका संघर्ष शरीरकी शोभा आदिको नष्ट कर देगा। डरो मत, यह सब पुनः प्राप्त होंगे।

क्रमशः अन्तःकरणमें सात्विकता की एकाग्रता से कीर्ति आदि छह सिद्धियां प्रकट होती हैं। रूप-बल आदि साधक में आते हैं। आते ही काम उन्हें

नष्ट कर देता है। सप्तम प्राण शक्ति आती है। कुण्डलिनीमें यह प्रविष्ट हो जाती है। कुण्डलिनी तक पहुँचाती है। योगके द्वारा यह कार्य सम्पन्न होता है जो भगवानकी कृपासे स्वतः प्राप्त होता है।

इस समय काम प्रबल हो जाता है। वासना जागृत हो जाती है। सात्विकता और अन्तःकरण कठोर बन्धनमें पड़ जाते हैं। साधक अत्यन्त निराश हो जाता है। इसी अन्तिम निराशामें उसे आत्मदर्शन होते हैं। सात्विकता उस दिव्य ज्योतिको अपनाना चाहती है। वह ऐश्वर्य तो अपनाया जा नहीं सकता। आकर्षण होकर वह देवकीको मिलता है। इस कृष्ण-जन्मका उद्देश्य केवल कंस वध नहीं। यदुकुलको बढ़ाकर दुष्टोंका नाश और फिर यदुवंशका भी क्षय करना है। आत्माका आकर्षण सात्विक भावोंकी वृद्धि करके राजस-तामसको नष्ट करता है और फिर सात्विकों का परस्पर उपसंहार करके वह आकर्षण रूपको छोड़कर केवल आत्म रूप में स्थित होता है।

आत्मदर्शनका प्रथमाकर्षण सूक्ष्म होता है। अन्तःकरण उसे आनन्दके यहाँ पहुंचाता है। नन्दके यहाँ वह बढ़ता है। हृदयसे नीचे एक चंचल चक्र है। व्रज (गतिशील) इसीका नाम है। कुण्डलिनी और प्राणबल यहीं होते हैं। चित्तको धारणा के द्वारा यहाँ लाना पड़ता है। यह आनन्दका केन्द्र है। मनका यह निवास है, जो हृदय देशका ही एक प्रान्त है। इसीसे इसे गोकुल कहते हैं। रासका स्थान वृन्दावन वहाँ से दूसरी ओर हृदय प्रान्त में है। उसे भाव केन्द्र कह सकते हैं। साधकको वाम नाड़ीको पार करके जो यमुना है, गोकुल आना पड़ता है। यमुना वसुदेवके लिये मार्ग दे देती है।

वसुदेव यशोदाकी पुत्री योग-शक्ति ले जाते हैं। काम उसे टिकने नहीं देता, पर नष्ट भी नहीं कर पाता। वह अदृश्य हो जाती है। यशोदा को योगमायाकी जननी होनेका पता नहीं। उनकी गोदमें प्रेममय कृष्ण बढ़ते और पलते हैं।

***

# कालिय मर्दन

**मूलकथा** - वृन्दावन के पास यमुनामें एक ह्रद था। उस ह्रदमें कालिय नामक एक महासर्प रहता था। कालियका निवास-स्थान तो रमणक द्वीप था, किन्तु गरुड़के भयसे वह इस ह्रदमें रहने लगा था। गरुड़ने एक बार सौभरि ऋृषिके तपस्या करते समय इस ह्रदसे एक महामत्स्य पकड़ा। मत्स्य कुलकी आकुलतापर ऋषिको दया आई। उन्होंने शाप दिया "यदि गरुड़ यहाँ आकर कोई जीव पकड़ेंगे तो मर जावेंगे।" गरुड़ इसीसे यहां नहीं आते थे। कालिय निर्भय था।

कालिय अत्यन्त विषैला था। उसके विषसे वह ह्रद और यमुना भी विषपूर्ण हो गई थीं। एक बार प्यासी गायों और गोप बालकोंने ह्रद का जल पी लिया। सबके सब मूर्छित हो गये। श्रीकृष्णने उन्हें अपनी अमृत दृष्टिसे जीवन दिया। उन्होंने वहांसे कालियको हटानेका निश्चय किया। दूसरे दिन खेल-खेल में ह्रदके किनारेके कदम्बपर चढ़कर वे उसमें कूद पड़े। कालिय ने उन्हें अपने भोग में बांध लिया।

ब्रजमें उत्पात होने लगा। आज श्यामके साथ बलराम गायें चराने नहीं आये थे। अपशकुनोंसे भीत ब्रजवासी, बाबा नन्द, यशोदा प्रभृति सब वनकी ओर दौड़े। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वे ह्रदके तटपर पहुँचे। वहां गायें और गोप बालक कृष्ण विरहमें मूर्च्छित पड़े थे। कृष्ण ह्रदमें कालियके भोग में बँधे मूर्च्छित थे। सब लोग बहुत दुखी हुए। बलराम सबको आश्वासन देकर शान्त करते रहे। वही एकमात्र अपने भाईके प्रभावको जानते थे।

ह्रदमें श्रीकृष्णने अपनेको कालियके बन्धन से छुड़ाया। अब सर्प और उनमें पैंतरे होने लगे। अन्तमें वे कूदकर उसके सिरपर चढ़ गये। सर्पके एक सौ एक सिर थे। कृष्णका ताण्डव प्रारम्भ हुआ। जो सिर सर्प उठाता उसीपर जा

धमकते। फण फट गये, रक्त बहने लगा, सर्प मरणासन्न होकर उनकी शरण आया। सर्पपत्नियोंने प्रार्थना की। केशव फणसे नीचे आ गये। सर्पको उन्होंने रमणक भेज दिया। कृष्णके पद चिह्नों से चिह्नित होनेके कारण वह गरुड़से निर्भय हो चुका था। सर्पके दिये आभूषणोंसे अलंकृत ब्रजराज बाहर आये।

**अध्यात्मिक अर्थ** - यमुना जो वामनाड़ी है उसके वृन्दावनके ह्रदमें एक सौ एक सिरका महाविषैला सर्प कालिय रहता है। जीवकी वाम भावना प्रेम अर्थात् सांसारिक सुखेच्छा में, क्रीडा प्रधान भावोंमें अत्यन्त विषैला अहंकार रहता है। इसके एक सौ एक सिर हैं। त्रिगुणोंके परस्पर मिश्रणसे अहंके एक सौ एक रूप हैं। कौरव सौ भाई और एक बहिन होकर महाभारत में भी ऐसी ही कथा बताते हैं।

अहंका मूल निवास रमणक अर्थात् प्रधानताकी मनोरम इच्छा है। किन्तु गरुड़ अर्थात् ज्ञान उसे वहां नहीं रहने देता। विद्वान अपने कार्यों में इस इच्छा को दबा लेता है। तब वह क्रीड़ा प्रधान भावों में आ जाता है। वहां विद्याजन्य ज्ञानका प्रवेश नहीं। खेल में विद्वत्ता कैसी! खेलकी कष्ट सहिष्णुता (सौभरि) का शाप गरुड़को रोकता है।

प्रेम जब अपने सहचर भावोंके साथ क्रीड़ा प्रांगण में आता है, तो अहंकार प्रेमको तो नहीं, पर सहानुभूति प्रभृति भावोंको मूर्छित कर देता है। इन्द्रियां उसके विषसे व्याप्त हो जाती हैं। प्रेम स्वयं उन मूर्च्छित भावनाओंको जागृत करता है। प्रेमके आकर्षणको अहंकारहीन विनोद चाहिये। वह उस विनोदमें कूद पड़ता है। एक क्षणके लिये ऐसा लगता है कि प्रेम भी अहंकारके कारण गया। आनन्द प्रभृति सब भावनाएँ अर्ध मूर्छित हो जाती हैं। विनोदका ब्रज शोकातुर हो जाता है। केवल ओज रहता है। और वही आश्वासन भी देता है।

सच्चा प्रेम अहं पर अवश्य विजय पाता है। वह अहं के समस्त सिरोंको कुचल देता है। प्रेमीके विनोदमें अहं आया तो उसकी दुर्दशा हो जाती है। प्रेम कहता है "विद्या में तुम मुझसे बड़े होने का अहंकार रख लो, पर व्यवहार विनोदमें नहीं रहने दूँगा।" प्रेमके पद चिन्होंसे चिन्हित अहंकारको विद्या में

रहनेपर ज्ञानका भय नहीं। वह प्रेमकी मुद्रासे अंकित होने के कारण ज्ञानका आदरणीय है, हमारा सच्चा स्नेही हमसे नम्र बनने का आडम्बर नहीं करेगा। वह स्पष्ट कह देगा "मैं तुम्हें पढ़ा सकता हूँ क्योंकि मैंने अधिक पढ़ा है।" यह अहं खटकता नहीं। प्रेम अहं का दमन करके आभूषित होता है। वह क्षत न होकर और सुन्दर हो जाता है।

**आधिदैविक अर्थ** - श्वासकी वाम नाड़ी यमुना है और दक्षिण गंगा। यमुना हृदयके भाव प्रधान केन्द्रसे होकर जाती है जो वृन्दावन है। कृष्णकी क्रीड़ा इसी यमुना में होती है। महासर्प कालिय इसी भाव केन्द्रके यमुना हृदमें रहता है। वाम नाड़ीमें मृत्युका निवास है। शब्दमार्गीय सन्त दाहिने कानसे शब्द सुनने को कहते हैं क्योंकि वामसे सुननेपर उसमें मनोयोग होनेसे मृत्युका भय होता है।

वास्तविक बात यह है कि प्राणोंका मूल केन्द्र नाभिचक्रमें है। प्राण की गति सर्पणशील होने के कारण सर्प कहा गया। कुल मिलाकर उसके एक सौ एक भेद होते हैं जो सिर हैं। साधक जब साधन आरम्भ करता है तो साधनका प्रभाव सभी चक्रोंपर पड़ता है। हृदय चक्रके अधिष्ठाता विष्णुके वाहन गरुड़ हैं। साधकमें जब हृदय चक्रको थोड़ी भी प्रभावित करनेकी, ज्ञात या अज्ञात रूपसे शक्ति आती है, तो उसमें प्रतिभाका उदय होता है। यही ज्ञान रूप गरुड़ है। इस शक्तिके द्वारा प्राण पीड़ित होने लगता है। उसका केन्द्र नाभिसे ऊपर उठकर हृदयके पास ही वाम नाड़ी में हो जाता है। फलस्वरूप वामनाड़ी दूषित हो जाती है। इसीलिये वामनाड़ी में संयम करनेका निषेध है। क्योंकि प्राणोंका प्रकोप मृत्युका कारण होता है।

साधन कालकी आरम्भिक तपस्या जिसमें किसी-किसी साधकको अद्‌भुत सुगन्धिका अनुभव भी होता है, यह सौभरि है। यह हृदयकी ज्ञान शक्तिको वामनाड़ी के इस भाव केन्द्र में आने से रोक देती है। यहाँ प्राणों को उस शक्तिसे उत्पीड़न नहीं होता। साधक में प्राण केन्द्र यहां बन जाता है।

दूसरे साधकोंका काम तो दक्षिण नाड़ी या सुषुम्नासे चल जाता है, पर कृष्णकी तो यमुना क्रीड़ा भूमि है। केवल प्रेमाकर्षणको साधन बनाने वालेको

तो इसी नाड़ीसे काम लेना है। उसके कृष्ण कालियका निर्वासन न करें तो काम कैसे चले। भावचक्र में साधक जब ध्यान करता है तो उस वामनाड़ीसे संयुक्त होते ही मूर्च्छित हो जाता है। सब इन्द्रियाँ (गौ) और इन्द्रिय चालक वृत्तियां मूर्छित हो जाती हैं। इस समय वह अन्तरात्माका आकर्षण साधकको जीवन देता है।

वामनाड़ी के इस यमुना विहारसे प्रथम आवश्यक है कि एक बार एक क्षण के लिये साधक में आत्म ज्योतिका प्रादुर्भाव हो चुका हो। "कृष्ण जन्म" में देखिये, कृष्ण उत्पन्न हो गये हों और उसके साथ हों। अन्यथा कालियका विष उसे मार डालेगा। साधक मृत्युका ग्रास हो जायगा। कृष्णकी साधना पूर्णावतार की साधना है। पूर्ण लीलावतार के लिये पूर्ण साधन चाहिये। पूर्ण साधन हो, तो वह शक्ति साधकमें पूर्णतया अवतरित होगी।

जहाँ एक बार साधक मूर्छित हुआ, कालियकी शामत आई। दूसरे दिनकी साधनामें साधक देखेगा कि प्राण कुपित हो गया है और वह दिव्य आकर्षण क्षीण, मूर्छितप्राय है। साधनमें बैठते ही यह क्रिया आरम्भ हो जावेगी। साधनका ओज (बलराम) नहीं होंगे। सब इन्द्रियाँ, मन उस आकर्षणके मूर्च्छित होनेसे खिन्न हो उठेंगे। ब्रजकी शक्तियां, आनन्द प्रभृति भी आकुल होकर उपस्थित होंगी। केवल साधनका ओज जागृत रहेगा, शेष सब मूर्छितप्राय।

थोड़ी देर पश्चात् वह आकर्षण जागृत होगा। प्राणोंका प्राबल्य बढ़ेगा। एक सौ एक सिर विष उगलेंगे। साधकपर तो प्रभाव नहीं पड़ने का। कृष्णकी उपस्थिति उसे नष्ट करती रहेगी। ध्यान रहना चाहिये कि ध्यान में साधकको कालिय मर्दनका दृश्य, जैसा मूलकथा में बताया गया है, प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होगा।

कालियका एक-एक सिर कृष्णके नृत्यसे कुचल जावेगा। प्राणका जो अंश उठना चाहेगा, आकर्षण उसे दबा देगा। अर्धमृत प्राण और प्राणवाहक नाड़ियाँ कृष्णके चरणोंमें झुकेंगी। वह उन्हें पुनः नाभि-चक्रमें भेज देंगे, पुनः प्राण केन्द्र नाभिचक्र बनेगा। एक बार प्राणोंको ऊपर उठाकर पुनः नाभिमें लाना

कालिय मर्दन है। भक्ति सागर में तथा दूसरे शब्द मार्गीय सन्तोंने भी इस क्रियाका वर्णन किया है। वे पुनः नाभिमें आना साधनाकी पूर्णता बतलाते हैं।

कृष्णके पदके चिन्ह होनेसे गरुड़ कालियको पीड़ित नहीं करते। एक बार उत्थित होकर, पुनः प्रस्थापित प्राण शक्तिको हृदयकी ज्ञान शक्ति क्षुब्ध नहीं करती। फिर संघर्ष नहीं होता। कालिय मर्दनसे कृष्ण आभूषित होते हैं। द्युति बढ़ जाती है। प्राण-संयम उस आकर्षणको और बढ़ा देता है।

***

# चीर हरण

**मूलकथा** - गोप बालिकाएँ चाहती थीं कि श्रीकृष्णचन्द्र हमारे पति हों। उन्होंने इस कामना की पूर्ति के लिये कार्तिक मास में कात्यायनी पूजन आरम्भ किया। वे प्रातः उठतीं और सब मिलकर यमुना किनारे जातीं। वस्त्र तटपर उतारकर नग्न स्नान करतीं। पुनः वस्त्र धारण करके तटपर बालुकामयी देवीकी मूर्ति बनाकर पूजन करतीं।

पूजन करते-करते एक महीना हो गया। केशवको सब पता था। पूर्णिमा के दिन वे चुपके से आये और स्नान करती हुई कुमारियोंके वस्त्र उठाकर कदम्ब पर जा बैठे। कुमारियोंने तटपर वस्त्र नहीं देखा तो आश्चर्य में पड़ीं। इधर-उधर देखनेपर कदम्बपर चीर चोर दृष्टि आये। बहुत अनुनय-विनय करनेपर भी श्रीकृष्ण इस बातपर दृढ़ रहे "जलसे बाहर आकर अपने वस्त्र ले लो।" अन्तमें बाध्य होकर वे हाथोंसे गुप्ताङ्ग छिपा कर बाहर आईं। केशवने कहा "नग्न स्नानसे तुम्हारा व्रत भंग हुआ है; अतः हाथ जोड़कर सूर्यको प्रणाम करो।" उन्होंने श्रद्धासे यह आज्ञा मान ली। उन्हें उनके वस्त्र मिल गये। साथ ही आगामी वर्ष शरद रात्रियों में उनके साथ रास करनेका श्रीकृष्णने आश्वासन दिया।

चीर हरणकी दूसरी घटना द्रौपदी की है। पाण्डव जुए में हार गये थे। युधिष्ठिर पत्नीको भी हार गये। दुर्योधन के आदेशसे दुःशासन रजस्वला द्रोपदीको सभामें घसीट लाया और नग्न करने लगा। पाण्डव अपने वचनोंसे बद्ध थे। भीष्मादि भी कुछ न बोले। अन्त में द्रोपदी आर्त होकर श्रीकृष्णको पुकारने लगी। दुःशासन वस्त्र खींचता गया, वस्त्र बढ़ते गये। वह साड़ी हटी नहीं और दुःशासन श्रान्त हो गया। भीष्म के समझानेपर धृतराष्ट्रने इस दुखद कांडको रोका।

**आध्यात्मिक अर्थ** - सभी सात्विक वृत्तियां प्रेम चाहती हैं। प्रत्येक सात्विक व्यक्ति चाहता है कि सात्विक भावोंसे उसका प्रेम हो। वृत्तियाँ स्वयं शक्तिकी आराधना करती हैं। भावनामें अनुराग के लिये उस भावना को बलवान होना चाहिये। यमुनामें नग्न स्नान करके वे कार्तिकमास भर कात्यायनीकी पूजा करती हैं। वाम अर्थात् उलटी नाड़ी यमुना है। वासना यमुना है, सात्विक इच्छा लेकर वे शरद ऋतु अर्थात् शान्ति पूर्ण समय में बलवान होना चाहती है। नग्न स्नान करती हैं - उनका स्वरूप निरावरण है।

सतत प्रयत्न उन्हें शक्ति देता है। इच्छा करते ही उनमें प्रेमका प्रादुर्भाव हो जाता है। प्रेम चाहता है कि वे उसके सम्मुख अनावृत आवें। उनपर कोई आवरण न हो। वह उनके आवरण चुरा लेता है। अन्तमें सम्मुख होनेपर वह आवरण लौटा भी देता है।

जीव गोपियाँ हैं और परमात्मा श्रीकृष्ण। नाना साधनोंसे जीव परमात्मा को पाना चाहता है। एक समय वह आवरण (वासना) छोड़कर भगवान् के लिए यत्न करना चाहता है, पर इच्छा कार्यमें आते ही वासना धारण कर लेती है। जीवकी शक्तिके बाहरकी बात है प्रभुको पाना या आवरण दूर करना। पर साधनकी पूर्णता में वे कृपासिन्धु स्वयं पधारते हैं और आवरण हरण कर लेते हैं।

एक बार साधक घबड़ा उठता है। वह नहीं जाना चाहता वासनाहीन होकर उस प्रेमास्पदके सम्मुख। किन्तु जब हृदयकी एकाग्रता में, वासना लीन हो जाती है तो निरावरण कृष्ण के सम्मुख जाना पड़ता है। वहाँ मायाका कोई भी आवरण, यहाँ तक कि हाथों का अहंकार भी नहीं रहने पाता। एक बार निरावरण होकर श्रीकृष्ण आत्मरूपका साक्षात्कार हो जाना चाहिये। व्यवहार में तो माया रहेगी। पर वह कृष्णके लौटाये आवरण बाधक नहीं होते। आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् कोई बन्धन में नहीं पड़ता। वह महारास या नित्यानन्दका अधिकारी हो जाता है।

अहंकार स्वरूप दुर्योधन, धूर्तता (शकुनी) की सहायतासे, व्यूह (कपट) में युधिष्ठिर (धर्म) को जीत लेता है। धर्म अहंकारकी धूर्ततामें आकर उसका

दास हो जाता है और अपने ऐश्वर्य, भाई तथा पत्नीको भी हार जाता है। धर्म (युधिष्ठिर) , बल (भीम), तेज (अर्जुन), सौन्दर्य (नकुल), विद्या (सहदेव) सब अहंके वश हो जाते हैं। सबकी एकमात्र पत्नी द्रौपदी (सात्विक बुद्धि) को भी धर्म हार जाता है। अहंकार उसे अपने वश में करना चाहता है, पर यह सम्भव नहीं।

अहंकारका भाई क्रोध उस बुद्धिको पकड़ लाता है। धर्मादिके साथ भीष्म (धैर्य) प्रभृति भी कुछ नहीं कर पाते। बुरा सबको लगता है, पर अहं के सम्मुख बोल कोई नहीं पाता। क्रोध चाहता है कि बुद्धिकी सात्विकताका आवरण दूर करके नग्न कर दे। बुद्धि इस समय रजस्वला अर्थात् रजोगुणकी व्याकुलतासे युक्त होती है। सात्विकताका त्याग इस समय और भी बुरा है।

बुद्धि भगवान् को पुकारती है। प्रभुका स्मरण करती है। सात्विकता अनन्त हो जाती है। क्रोधको श्रांत होना पड़ेगा। धैर्य जागृत होता है और जीव (धृतराष्ट्र) को समझाता है। यहीं क्रोध द्रौपदीको छोड़ देता है और बुद्धिकी माँगसे धृतराष्ट्र पाण्डवोंको भी दासत्व मुक्त कर देते हैं।

**आधिदैविक अर्थ** - सात्विक भावनाओंमें प्रेमका संयोग करानेके लिये "कालिया-मर्दन" के अनन्तर साधकको वामनाड़ीके द्वारा शक्तिकी आराधना करनी पड़ती है। भावनाओंको वाम नासिका संयम करते हुए चिन्तन करना पड़ता है और साथ ही कात्यायनीका ध्यान। साधनका सबसे अच्छा समय कार्तिक महीना है। ग्रहोंकी नभमें उस समय स्थिति ऐसी होती है कि शरीरमें नाड़ी अनुकूल रहती है। कार्तिकमें प्रातः उठकर वामनासिकासे प्राणायाम करते हुए सम्पूर्ण शुभ वृत्तियोंका चिन्तन करते रहो। यह यमुना स्नान हो गया। स्मरण रहे कि यमुना स्नान निरावरण हो। कोई छल-कपट या वासना मनमें न हो। उसके पश्चात् स्वाधिष्ठान चक्र में शक्तिका ध्यान करना चाहिये। श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये शक्ति पूजन आवश्यक है।

यदि साधन ठीक चला तो पूर्णिमाको प्राणायामके समय श्रीकृष्ण प्रकट होंगे। सहसा मायाके आवरण लुप्त हो जावेंगे। साधकको दिखेगा कि हृदय कमलकी कर्णिकाके कदम्बपर केशव बैठे हैं। किसी-किसी साधन में, जैसे

रघुनाथ जीकी उपासनामें वह कदम्ब कल्पवृक्षके रूप में प्राप्त होता है। मायाके सम्पूर्ण आवरण प्रभुके पास पड़े हैं। साधक नाड़ी संयम छोड़ता नहीं और चाहता है आवरणोंको। सात्विकता के आवरण बिना शरीर कैसे रहेगा। लेकिन प्रभुका आदेश है "साधनके अहंकारको छोड़कर एक बार निरावरण सम्मुख आओ।" यमुनासे निकलना पड़ता है। अहंकारका सूक्ष्मावरण अब भी होता है, आवरण है, पर अपने अंग हाथ का। केशव उसे भी दूर कराते हैं। अब जाकर कहीं सहस्त्रदल में, महारास में सम्मिलित होनेकी पात्रता सात्विक भावनाओं में आती है। व्यवहार के लिये वे आवरण पुनः प्राप्त हो जाते हैं।

दूसरा चीर-हरण द्रोपदीसे सम्बन्ध रखता है। साधन करते समय यदि साधक में अहंकार हुआ तो वह प्रबल हो जाता है। हृदयमें साधन करते समय यह अवस्था प्रायः आती है। अहंकारका भुलावा धर्मको परास्त कर लेता है। सब धर्म कर्म अहंकार पूर्ण हो जाते हैं। कुण्डलिनी शक्ति जो इस समय धर्मादिकी स्त्री होती है, यही उनकी स्थिति है, अहंकारके हाथों पड़ती है। वह रजस्वला होती है, उसके एकांशसे रक्त निकलता है। अहंकार कुण्डलिनीके ज्योतिर्मय आवरणको दूर करना चाहता है। क्रोधके केन्द्रके आकर्षण में वह पड़ती है, जो ज्योतिको खींचता है। कोई धार्मिक भावना उठ नहीं सकती उस समय। केवल श्रीकृष्णका ध्यान हो सकता है। यह ध्यान ज्योतिको बढ़ा देता है। हृदयकी आत्म ज्योति उसमें अवतीर्ण हो जाती है। क्रोध-केन्द्र शान्त होकर भी उसे समाप्त नहीं कर पाता।

थोड़ी देर में भीष्म (धैर्य) जागृत होता है। जीव सावधान होता है और यह काण्ड समाप्त हो जाता है। एक बार पाण्डव अहं से मुक्त हो जाते हैं। तत्काल अहं का द्यूत उन्हें फिर छलता और हृदयसे वनमें भेज देता है। आगेका प्रकरण "सीता हरण" जैसा है। केवल भावना एवं उपासनाका कुछ अन्तर है।

***

# महारास

**मूलकथा** - शरद पूर्णिमाका दिन था, सन्ध्याके समय जब उदीयमान चन्द्रकी किरणोंसे हरित वन पंक्तिका पत्ता पत्ता चमक रहा था और कालिन्दीकी लोल लहरियोंपर चन्द्र किरणें बालिकाओंके समान अठखेलियां कर रही थीं, श्याम सुन्दरने अपनी मुरलीको अधरोंसे लगाकर स्वरित किया। राग इतना सम्मोहक था कि ब्रजकी सारी गोपियां अपना सब काम काज छोड़कर अस्त व्यस्त दौड़ती हुई उनके पास पहुँची।

गोपियोंने श्रीकृष्ण को घेर लिया। नटखटने उनसे आनेका कारण पूछा और स्त्री धर्मका उपदेश देकर ब्रजमें लौट जानेको कहा। वे रोने लगीं, उन्होंने स्पष्ट कह दिया "तुम्हीं सबके पति और अन्तरात्मा हो, तुम्हारे पाससे हम नहीं जा सकतीं।" श्रीकृष्ण उनके बीचमें आ गये। बंशी बजने लगी। गोपियोंमें मान आ गया। केशव राधाको संग लेकर उनसे पृथक हो गये। राधामें भी मान आनेपर उन्हें भी छोड़ दिया।

गोपियोंके लिये यह वियोग असह्य था। पागल-सी वे लता-तरुओं से श्रीकृष्णका पता पूछने लगीं। तन्मय होकर उन्होंने अपने आपको कृष्ण समझ लिया। कन्हैयाकी लीलाएँ करने लगीं। तब कहीं उन्हें प्रियके चरण चिन्ह दृष्टि पड़े, उन चिन्होंके आधारपर अन्वेषणसे राधा मिल गई। कृष्ण फिर भी नहीं मिले। निराश होकर वे कालिन्दीके उज्ज्वल पुलिनपर आकर प्रार्थना करते हुए रोने लगीं।

मदन मोहन स्वयं प्रकट हुए। रास प्रारम्भ हुआ। मध्य में श्याम और चारों ओर गोपियोंका मण्डल नृत्य करने लगा। गोपियोंको अपने अपने पास श्रीकृष्ण दृष्टि पड़े। यह नृत्य महारास कहा जाता है। नृत्यसे शान्त होनेपर सबने यमुना में स्नान किया। जल-विहारके पश्चात् श्याम सुन्दरने समझाकर

गोपियोंको उनके घरोंको लौटा दिया। वे लौटना नहीं चाहती थीं। लौट कर भी वे सदा कृष्ण हृदया रहीं, श्रीकृष्ण उनसे दूर होकर भी उन्हें कभी भूल नहीं सके।

**आध्यात्मिक अर्थ** - शान्तिकी शीतल घड़ियों में जब कि बाह्य और अन्तर्जगत् की सन्धिमें जीवकी अवस्थिति होती है, वह परमात्माके दिव्य स्वरको श्रवण करता है। आत्म साक्षात्कारकी अमृत झंकार आनन्दसे परिप्लुत कर देती है। सम्पूर्ण वृत्तियां ज्योंकी-त्यों खिच जाती हैं। शरीर और संसारका भान छूट जाता है।

वह दिव्य आनन्द वृत्तियोंमें अवतरित होना नहीं चाहता। वहाँसे प्रेरणा मिलती है वृत्तियोंको लौट जाने की। किसमें शक्ति है जो उस आकर्षण के केन्द्रका सान्निध्य पाकर दूर हो सके। अन्ततः वृत्तियोंके मध्य में भी वह मधुर ध्वनि गूँजती है "मैं आत्म सुख प्राप्त कर चुका हूँ। मुझे आत्म दर्शन होता है। दूसरे मुझसे छोटे हैं।" यह गर्व जागृत होता है। ज्ञानका गर्व आता है, वह प्रकाश अन्तर्हित हो जाता है। राधा अर्थात् ह्लादिनी शक्ति को साथ लेकर वह कहीं चला जाता है। आनंन्द आता है, पर वृत्तियां एकाग्र होकर उसे पाती नहीं। आनन्दमें भी गर्व होने पर वह भी कृष्ण से त्यक्त होता है। आत्मानन्द भी नहीं आता। सुखकी भावना में भी वह आत्मरूप प्रकट नहीं होता।

एक बार आत्म साक्षात्कार और उसका दिव्य संगीत सुननेके पश्चात् वृत्तियाँ अहं के उदयसे उसे खोकर व्याकुल हो जाती हैं। विक्षिप्त पुरुष सब कहीं उसी आत्माको ढूँढ़ना चाहता है। व्याकुलता तन्मयता बन जाती है। प्रत्येक वृत्ति द्वारा कृष्णका स्मरण होता है। वृत्तियाँ तदाकार हो जाती हैं। तदाकार वृत्तियोंको उसके चरण चिह्न दृष्टि पड़ते हैं, पथ मिलता है अन्तर्जगत में प्रवेश का। वहाँ भी केवल राधा मिलती हैं। कृष्ण (आत्मा) से पृथक ह्लादिनी शक्ति, दुखिया होती है। उनके साथ गोपियाँ लौट आती हैं। कृष्ण मिलते नहीं। आत्मदर्शन साधन साध्य नहीं। साधन के अहंकार तक वह नहीं मिलता।

यमुना पुलिनपर सत्व गुणकी शान्त भूमिपर वे रोती हैं। साधनसे निराश जीव सम्पूर्ण वृत्तियोंसे एकाग्र होकर आर्त प्रार्थना करता है। यही श्रीकृष्णको पानेका साधन है। उस समय पुनः आत्म ज्योति प्रकट होती है। महारास यहीं

होता है। योगी या प्रेमीकी प्रत्येक वृत्ति आनन्दातिरेक से नृत्य करने लगती है। प्रत्येक वृत्तिमें वह आत्मरूप प्रतिबिम्बित होता है। मानसका कण-कण हर्षसे नाचता है। आनन्दकी पूर्णावस्था है। आत्म साक्षात् की यही सर्वोच्च भूमि है।

रासके नृत्य से शान्त होकर यमुना विहार होता है। आनन्दातिरेक की पूर्णता हो जानेपर वृत्तियाँ स्वतः शिथिल हो जाती हैं। यह यमुना, सृष्टि क्रमका उपसंहार रूप, वाम नाड़ी है। मायासे सृष्टि चलती है, यह दक्षिण हुई और ज्ञानसे नष्ट होती है, यह वाम। इसी आत्म ज्ञानमें वृत्तियाँ आत्माके साथ स्नान करती हैं। पुनः ब्रजमें उनका लौटना समाधि से जागरण है। जागृत होकर भी वृत्तियाँ संसारासक्त नहीं होतीं। उनका प्रेम श्रीकृष्णसे रहता है। श्रीकृष्णकी शक्ति उनको सदा मिलती रहती है। ध्यान से यदि योगिराज अरविन्दके ग्रन्थों को देखा जाय तो वहाँ यह प्रकरण बहुत सुस्पष्ट प्राप्त होगा।

**आधिदैविक अर्थ** - श्रीनन्ददासजीने रास पंचाध्यायी में महारास के इस रूपका बहुत सुन्दर वर्णन किया है। शब्द मार्गका यह रूप उन्होंने बड़ी स्पष्टता से बतलाया है। सहस्त्रदल कमल (सहस्त्रार) वृन्दावन है, जहाँ नित्य रास होता है। वह रास अनादि और अनन्त है। उसकी कभी समाप्ति या प्रारम्भ नहीं।

शब्द श्रवणका साधक जब मुरली ध्वनि सुनता है तो उसकी सब वृत्तियां खिंच कर सहस्त्रार में पहुँच जाती हैं। "चीर-हरण" के पश्चात् वृत्ति इस उच्च दशा का अधिकार पाती हैं। मुरली ध्वनिको वैष्णव अन्तिम नाद मानते हैं। मेघध्वनि उससे पूर्वका नाद मानी जाती है। उसका रूप "क्लीं" है। इस बीजके जपसे उस नादका उदय होता है। यह श्रीकृष्णकी वंशी ध्वनि है और सहस्त्रारसे उठती है। वंशी ध्वनि उठते ही वृत्ति वहाँ खिंच जाती हैं। शरद ऋतु में यह विशेष उठती है। पूर्णिमाको इसका उदय होता है। "चीर-हरण" की साधनाके पश्चात् साधक स्थिरतासे लगा रहे, तो एक वर्ष पश्चात् शरद पूर्णिमाको यह सर्वोच्च स्थिति प्राप्त हो जायगी।

सच्ची बात तो यह है कि जब तक एक बार श्रीकृष्णकी प्राप्ति न हो जावे, आत्मदर्शन न हो ले, लोक कल्याण हो नहीं सकता। कामना उस पुरुषको भ्रष्ट कर देती है। श्रीकृष्ण के साक्षात् से अनन्तर काम नष्ट हो जाता है।

आडम्बर मारा जाता है। मालाकारकी माला स्वतः मिलती है। सम्मान के लिये हाथ नहीं फैलाना पड़ता।

श्रीकृष्ण साक्षात् के पश्चात् साधक लोकोपकार में लगे और वह दूसरा साधन न भी करे, तो भी कुण्डलिनी जागृत हो जाती है। वास्तविक प्रेम उसे उत्थित करता है। श्रीकृष्णके ध्यानमें एकाग्र होनेपर कुण्डलिनी मिलती है। उससे निकलती हुई ज्योति सहस्त्रार पर स्थिर श्रीकृष्णको और भूषित कर देती है। श्रीकृष्णके सम्पर्कसे वह सीधी हो जाती है। उसके घुमाव दूर हो जाते हैं।

कुण्डलिनीको जागृत करके सीधा कर देना पर्याप्त नहीं। उसे सहस्त्रार में श्रीकृष्ण के चरणोंमें स्थित करना होता है। वह आत्म ज्योतिमें विलीन हो जाती है। यह कामके रहते नहीं हो सकता। कामको जब निरन्तर श्रीकृष्णका ध्यान नष्ट कर देता है और साधक जीवनको नियमित बना लेता है, तो उसमें श्रुतियोंका उदय होता है। अन्तर्ज्योतिके दीप्त प्रकाशमें जीव श्रुतिका साक्षात् करता है। श्रीकृष्ण सान्दीपनसे विद्या प्राप्त करते हैं। स्वत: ज्ञानघन आत्मा अपनी ज्योतिमें एकाग्र होकर श्रुतियोंको व्यक्त करता है।

ज्ञानोदय के पश्चात् विचारको साथ लेकर कुंडलिनीका संयोग उस आत्मा से होता है। श्रीकृष्ण उद्धवके साथ कुब्जाके घर पधारते हैं। केवल एक बार अन्तरात्मासे एकीभूत होकर कुण्डलिनी पुनः पृथक हो जाती है। उसकी शक्ति श्रीकृष्णमें मिल जाती है। उसके जागृत करने का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। फिर वह तेजोहीन हो जाती है और उसकी कोई अपेक्षा नहीं रहती। एक बार जागृत होकर श्रीकृष्ण से संयुक्त होने मात्र तक, वह महाशक्ति रहती है और उसके साधनमें उद्योग करना पड़ता है।

***

# कुब्जा और कृष्ण

**मूलकथा** - कंसने अक्रूरके द्वारा कृष्ण-बलरामको व्रजसे मथुरा में बुला भेजा। बहाना था धनुष यज्ञका और उद्देश्य था उन्हें मार डालना। अक्रूर उन्हें लिवा लाये। बाबा नन्द गोपोंके साथ नगरके बाहर एक अमराई में ठहरे हुए थे। श्रीकृष्ण भाई तथा सखाओंके साथ नगर देखने चले।

मार्ग में रजकको मारकर उसके वस्त्र लूट लिये। मालाकार से पुष्प और मालाएँ ले लीं। आगे उन्हें एक स्त्री दिखाई दी जो तीन स्थानों में कुबड़ी थी। वह अंगराग लिये कहीं जा रही थी। श्रीकृष्णने पूछा "सुन्दरी, तुम कौन हो? यह अंगराग किसके लिये ले जा रही हो ? यदि हमारे योग्य अंगराग हमें दे सको तो तुरन्त तुम्हारा कल्याण होगा।" त्रिभुवन मोहन की छविने उसे मुग्ध कर लिया। उसने बताया "मैं कंसकी दासी हूँ। मेरा बनाया अंगराग महाराजको अत्यन्त प्रिय है। उन्हींके लिये ले जा रही हूँ।" बड़े प्रेमसे उसने राम-श्यामके अंगोंको अंगरागसे सजाया।

तुरन्त पुरस्कार देना था। श्रीकृष्णने अपने पैरोंसे उसके पैरोंकी उँगलियोंको दबाया और उसकी ठुड्डीमें हाथ लगाकर उसे उठा लिया। कुब्जा सीधी और सुन्दरी हो गयी। वह श्रीकृष्णपर मुग्ध तो थी ही। उनका पटुका पकड़कर उनसे अपने घर चलनेका अनुरोध करने लगी। केशवने उसे वचन दिया "कंसका वध करनेके पश्चात् तुम्हारें घर आऊंगा।"

जब कंस मारा गया, उग्रसेन राजा हो गये और श्रीकृष्ण सान्दिपनि के यहाँसे विद्या प्राप्त करके लौट आये, तो एक दिन वे कुब्जाके गृह पधारे। एक दिन वे उसके संग रहे। मन्त्री उद्धवजी भी वहाँ उनके साथ थे। कुब्जाका कृष्ण से मिलन केवल एक दिनके लिये हुआ। वह उतने से कृतकृत्य हो गई। कहते

हैं कि रामावतार में यह सूर्पणखा थी। वहाँ उसकी इच्छा पूर्ण न हो सकी थी। द्वापरमें उसने प्रभुके चरणोंको पाया।

**आध्यात्मिक अर्थ** - काम सर्वदा भीत रहता है कि कहीं प्रेम उसे नष्ट न कर दे। वह कंस अक्रूरको भेजकर कृष्णको उत्सवके बहाने नष्ट करनेको बुलाता है। जिस अक्रूर मंत्रीको काम अपना समर्थक समझता है, वह वस्तुतः कृष्ण (प्रेम) के सेवक हैं। वे श्रीकृष्णको लाते तो हैं, पर उत्सव के लिये नहीं। काममें प्रेमानन्द एक बहाना है। वह तो प्रेमके नाशका आडम्बर है।

कंसके रहते मथुरामें नन्दका स्थिर प्रवेश नहीं हो सकता। कामी शरीरमें स्थायी आनन्द कैसा। वे नगरसे बाहर डेरा डालते हैं। प्रेमके साथ आनन्द और सात्विक वृत्तियां आनी ठहरीं। कामके पुरमें प्रेम केवल भाई बलराम अथवा ओज और सखा बल, निर्भीकता प्रभृति के साथ प्रवेश करता है। सत्य, दानादि बाहर उसकी प्रतीक्षा करते हैं।

कामके काले वस्त्रोंको स्वच्छ करने वाला आडम्बर रजक सर्वप्रथम मारा जाता है। प्रेम उन स्वच्छ वस्त्रोंको छीन लेता है। कामको धर्मके आडम्बरका आच्छादन रखनेका क्या अधिकार ? वे तो प्रेमके भूषण हैं। सौन्दर्य पुष्प मालाकार स्वयं कृष्णको भेंट करता है। प्रेम स्वतः सुन्दर है और वास्तविक सौन्दर्य उसके चरणोंमें पहुँचे बिना रह नहीं सकता।

रामावतार में रावणकी बहिन सूर्पणखा रामपर मुग्ध हुई थी। अहंकारकी बहिन वासनाने मर्यादाधारको वरण करना चाहा था। वासना मर्यादित प्रेमको अपनाना चाहती थीं। वह उसे कैसे मिलता। वही प्रेम आज आकर्षण है और वासना कामकी दासी। प्रेम उससे सेवा चाहता है। और वह स्वीकार कर लेती है। वासना कामकी दासी होकर त्रिवक्रा है, त्रिगुणोंने उसे कुब्जा बना रखा है। प्रेमकी सेवामें लगते ही अन्तरात्माका आकर्षण उसे सीधा कर देता है। वह त्रिगुणोंमें टेढी न रहकर सीधी हो जाती है। सीधे कृष्णकी ओर आकर्षित होती है। आत्म दर्शन या मोक्षका सीधा रूप ले लेती है या कृष्णको अपनाना चाहती है। कामके नाशसे पूर्व कृष्णकी प्राप्ति सम्भव नहीं। कामके रहते आत्म प्राप्ति कैसी। तब तक वासना कामसे पृथक हो, कृष्णको चाहती है।

कंस मरता है और उग्रसेन राजा होते हैं। प्रेम कामको नष्ट करके नियमको अधिपति बनाता है। तदनन्तर वह ज्ञानार्जन करता है। ज्ञानधन होनेपर भी कृष्ण गुरु गृहमें पढ़ते हैं। अन्तरात्माका आकर्षण प्राप्त होनेपर भी नियमकी प्रतिष्ठा और कामका नाश करके स्वाध्याय करना चाहिये। बिना स्वाध्यायके मोक्षकी इच्छाकी तृप्ति नहीं की जा सकती। गुरु गृहसे लौटनेपर उद्धवके साथ एक दिनके लिये श्रीकृष्ण कुब्जाके यहाँ जाते हैं। विचारके साथ मोक्षकी पूर्तिके लिये एक बार उसमें अन्तरात्मा का आकर्षण उदय होता है। इसके पश्चात् तो वह कृतकृत्य होकर समाप्त हो जाती है।

**आधिदैविक अर्थ** - मूलाधार में तीन मोड़ लेकर पड़ी हुई कुण्डलिनी शक्ति त्रिवक्रा है। जब तक वह कुब्जा है, कामकी दासी है। उसके द्वारा कामको शक्ति प्राप्त होती रहती है। यह रावणकी बहिन है। अहंकारका इसमें भ्रातृत्व है। मर्यादा पुरुषोत्तमकी आराधना में कुण्डलिनीका उत्थान होता है, पर उसे वहाँ स्थान नहीं मिलता। वह अहंकारको उत्तेजित करती है।

कामका मायाजाल श्रीकृष्णको आकर्षित करता है। साधकमें छिपा हुआ काम उसे विश्व प्रेमका धोखा देता है। संसारके कल्याणकी प्रवृत्तिका प्रेरक वस्तुतः काम है। वह चाहता है कि इस प्रकार साधक आत्म साक्षात् से दूर हो जाय। डरना नहीं चाहिये, विश्वोपकार वस्तुतः कृष्णका सेवक है। अक्रूर कृष्णके उपासक हैं। यदि साधकमें लोकोपकारकी इच्छा हो तो वह उधर लगकर भी भ्रष्ट नहीं होगा। उससे उलटे कामना नष्ट हो जायगी।

लोकोपकार में लगनेपर सबसे प्रथम रजक मारा जाता है। वासना को छिपाने वाला आडम्बर नष्ट हो जाता है। काम जिन दान, उपकार प्रभृति वस्त्रों में आडम्बर से अपनेको छिपाता है, प्रेम उन्हें वस्तुतः धारणकर लेता है और आडम्बरको मार डालता है। लोकोपकार में प्रवृत्त साधकका आडम्बर स्वयं नष्ट हो जाता है। श्रीकृष्ण उसे नष्ट कर देते हैं। आत्म शक्ति उसे जला देती है।

सहस्त्र-दलमें नादके आधारपर वृत्तियोंके एकत्र होनेसे श्रीकृष्णका साक्षात् होता है। वहाँ पहिले प्रेरणा मिलती है शरीर में लौट आने की। वृत्तियोंसे उनकी तटस्थताके दर्शन होते हैं। पर ऐसा नहीं हो सकता, वृत्ति वहाँसे हट नहीं

सकती। नाद श्रवणके पश्चात् वृत्ति नहीं लौटती। नादका उत्थान जो कृष्णदर्शनके समय तनिक रुक गया था, पुनः होता है।

अहंकारका कुछ अंश बचा होता है। वृत्तियों में नाद श्रवणका गर्व होता है। नाद और श्रीकृष्ण दोनों अन्तर्हित हो जाते हैं। वृत्तियां रहती हैं सहस्त्रारमें, पर वहां न तो नाद सुन पड़ता और न श्रीकृष्णके दर्शन होते। केवल राधा कृष्णके साथ होती हैं। साधनमें रुचि रहती है और आनन्द आता है। आनन्दमें भी गर्व होता है और साधन भी नीरस हो जाता है। साधनमें भी आत्मानन्द नहीं होता।

वृत्तियों में व्याकुलता आती है और अन्तमें वे तदाकार हो जाती हैं। इस समय कुछ चिह्न मिलते हैं श्रीकृष्ण चरणोंके। उसके सहारे राधा मात्र मिलती है। साधनके दर्शन होते हैं। गर्वसे छूटा साधन प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण साधन साध्य नहीं। निराश वृत्तियां स्थिर होकर रोती हैं। साधक आकुल क्रन्दन करता है। पुनः श्रीकृष्ण प्रकट होते हैं।

इसके आगेका माधुर्य वाणीका विषय नहीं। वह सर्वोच्च स्थिति कही नहीं जा सकती। शब्द तो इतना मात्र कहेंगे कि प्रत्येक वृत्तिके साथ श्रीकृष्ण होते हैं। उतने रूपमें उस दिव्यरूपके दर्शन होते हैं। मुरली नाद और आनन्द नृत्य यह अनुभवकी वस्तु हैं। शरीर और मनका अणु-अणु नाचता है। वस्तुत: यह रास सदा हो रहा है। व्यापक परमात्मा और उसकी आनन्द क्रीड़ा अनादिकालसे चल रही है। सहस्त्रारमें यह लीला अनवरत चलती है। मायाके आवरणको दूर करके हम उसका केवल साक्षात् करते हैं, उसे उत्पन्न नहीं करते।

इस आनन्द समाधिसे उत्थान के पूर्व यमुना स्नान होता है। वाम नाड़ी में वृत्तियों का प्रवेश होता है, तदनन्तर उत्थान। उत्थान होनेपर भी वृत्तियाँ सदा अन्मर्मुखी रहती हैं। सहस्त्रारकी शक्ति उन्हें बराबर मिलती है।

***

# शिशुपाल वध

**मूलकथा** - शिशुपाल श्रीकृष्णचन्द्रकी फूफीका पुत्र था। जब वह उत्पन्न हुआ तो उसके चार बाहु और तीन नेत्र थे। आकाशवाणीने उसकी माताको बतलाया कि जिसे देखनेसे इसके दो बाहु और एक नेत्र नष्ट हो जावें, वही इसे मार सकेगा। श्रीकृष्णको देखते ही शिशुपालकी दो भुजाएँ और तीसरा नेत्र नष्ट हो गया। उसकी माताने केशवकी बहुत प्रार्थना की। मधुसूदनने उसकी माताको शिशुपालके सौ अपराध क्षमा करनेका वचन देकर सन्तुष्ट किया।

सनत्कुमारके शापसे भ्रष्ट हुए जय-विजय सतयुग में हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष, त्रेतामें रावण और कुम्भकर्ण तथा द्वापर में शिशुपाल और दन्तवक्र हुये। इस तीसरे जन्ममें उनका शापसे उद्धार हो गया।

शिशुपाल प्रारम्भसे श्रीकृष्णका द्वेषी था। रुक्मिणीके विवाहके लिये वह सज-धज कर गया। उसे मुँहकी खाकर लौटना पड़ा। श्रीकृष्ण सबके सामने से रुक्मिणीको हरण कर ले गये। यादवोंकी सेनाके सम्मुख शिशुपाल और उसके सहायक टिक नहीं सके।

युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें शिशुपाल भी आया था। श्रीकृष्णकी प्रथम पूजा उसे सहन नहीं हुई। सभाके मध्यमें खड़े होकर वह श्रीकृष्णको गालियाँ देने लगा। भीष्म प्रभृतिने उसे धिक्कारा, वे उससे युद्ध भी करना चाहते थे, किंतु केशवने सबको रोक दिया। जब शिशुपाल सौ से अधिक गालियाँ दे चुका तब श्रीकृष्णने अपने चक्रसे उसका सिर काट डाला। उसके समर्थक प्राण लेकर सभासे भाग खड़े हुए। सबने प्रत्यक्ष देखा कि शिशुपालके शरीरसे एक तेज निकला और वह श्रीकृष्णचन्द्रके श्रीचरणों में जाकर लीन हो गया। शिशुपालकी मुक्ति हो गई।

**आध्यात्मिक अर्थ** - त्याग वृत्तियोंकी उपेक्षा करनेके कारण सात्विक अहंकार और रक्षा वृत्ति राजस-तामस और अहंकार बन जाती हैं। वे वीरता (नरसिंह) सात्विक कर्म (वाराह) से नष्ट तो होते हैं, पर उनका मूल नहीं जाता। मर्यादा पालनके समय उनका पुनः प्राकट्य होता है और रावण कुम्भकर्णके रूप में वे मिलते हैं। उनका आत्यन्तिक नाश केवल प्रेम (श्रीकृष्ण) करने में समर्थ है।

चित्तकी ही दो विभिन्न अवस्थाओं में अन्तरत्माका प्रेम रूप, अहंकारका राजस रूप भी प्रकट होता है। शिशुपाल श्रीकृष्णका फुफेरा भाई है। राजस अहंकार (शिशुपाल) चतुर्भज और त्रिनेत्र उत्पन्न होता है। उसमें ऐश्वर्य और विचार शक्ति होती है। उसकी उत्पादक चित्तवृत्तिको ज्ञात हो जाता है कि जिस अवस्थाके द्वारा इसके ऐश्वर्य और ज्ञानका नाश होगा, वही अवस्था इसे नष्ट करने में समर्थ होगी।

आत्म साक्षातसे जो स्वाभाविक अन्तर्मुख आकर्षण उत्पन्न होता है, उस प्रेमसे राजस अहंकार मिलते ही ऐश्वर्य और विचार खो देता है। जहाँ उस आकर्षण में अहंता आई, अहंताका ऐश्वर्य और विवेक सदाके लिये चला जाता है। चित्त अहंताका नाश पसन्द नहीं करता। श्रीकृष्णका आश्वासन मिलता है कि वे शिशुपालके सौ अपराध क्षमा करेंगे। अन्तर्प्रेम राजस अहंकारको पर्याप्त देर तक क्षमा करता है वह चित्तको आश्वासन देता है।

शोभा एवं माधुर्य (रुक्मिणी) को अहंकार अपनाना चाहता है। वह श्रीकृष्ण में अनुरक्त है। माधव उसे हरण कर लेते हैं। सम्पूर्ण अहंकार एवं राजस-तामस भावोंके उदय होनेपर भी, शोभा एवं माधुर्य को प्रेम आकर्षित कर लेता है। सात्विक भावोंसे सब राजस-तामस भावोंको उस समय परास्त होना पड़ता है।

राजस अहंकार नहीं देख सकता कि धैर्य (युधिष्ठिर) के राजसूय अर्थात् उत्कृष्ट विकासमें प्रेमका सम्मान हो। यह उसे असह्य है। यहाँ वह उन्मत्त हो जाता है। प्रेमको बदनाम करनेकी चेष्टा करता है। भीष्म (ब्रह्मचर्य) प्रभृति उसे धिक्कारते हैं, उसका निराकरण करना चाहते हैं, पर प्रेम उन्हें रोकता है।

अहंकारकी आन्तरिक प्रेममें शंकाएँ और आक्षेप व्यर्थ हैं। जब उसके आक्षेप सीमा पर पहुँच जाते हैं तो प्रेमका तेज उसे नष्ट कर देता है, उसके साथी राजस भाव विलीन हो जाते हैं। उसका ओज प्रेम लय होता है।

**आधिदैविक अर्थ** - प्रथम बतलाया जा चुका है कि वाराहके द्वारा हिरण्याक्ष और नृसिंहके द्वारा हिरण्यकशिपुके वध कैसे होते हैं। नाभि चक्रके ऊपर-नीचेके उपचक्रोंकी यह स्थिति है। "सीता हरण" के प्रसंगमें रावण कुम्भकर्णके वधका वर्णन भी आ चुका है। यह हृदय चक्रकी दशा है। शिशुपाल एवं दन्तवक्रका वध भृकुटीसे ऊपर और सहस्त्रारसे मध्यकी दशामें होता है। कुण्डलिनी जागरणकी वैष्णव पद्धतिमें, यह अवस्था भृकुटीसे ऊपर और स्मृति पद्धति में तो हृदयमें ही आ जावेगी।

ध्यानकी जिस एकाग्रतामें श्रीकृष्ण जन्म हुआ था, वह आत्मदर्शन की अवस्था ही तनिक विकृत होकर अहंकारको उत्पन्न करती है। इस अहंकार के उदयके समय साधकमें दिव्यदृष्टि एवं सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है। अहंकारके उदयके पश्चात् जब साधक पुनः एकाग्र होकर आत्म दर्शन करता है, वे सिद्धियां और दिव्य दृष्टि नष्ट हो जाती हैं। उनका आधार अहंकार है और इसलिये वे श्रीकृष्णके सम्मुख नहीं रह सकतीं। पूर्ण ज्ञानी एवं अपरोक्ष साक्षात करने वाले महापुरुषमें सिद्धियां नहीं रहतीं। अहंकार के बिना उनका आश्रय सम्भव नहीं।

अहंताका बलिदान सरल नहीं। उस प्रेमकी दशामें पहुँचकर भी चित्त अपने आपको बचाये रहना चाहता है। साधनकी इच्छा राजस अहंकारकी रक्षा चाहती है। श्रीकृष्णका आश्वासन मिलता है। जब तक अहंकार आत्मदर्शनके समय उद्भूत होकर बाधा न डाले उसका अपराध क्षमा होता है। तब तक वह नष्ट नहीं होता।

रुक्मिणी जो लक्ष्मीका अवतार हैं उन्हें शिशुपाल अपनाना चाहता है। अहंकार वश शोभा, वैभव प्रभृतिको अपनाना चाहता है। उसे आशा भी हो जाती है। वह अपने राजस-तामस भावोंके साथ उद्योग भी करता है। श्री कृष्णानुरक्ता हैं। अन्तमें श्रीको कृष्ण हरण कर लेते हैं। सुख एवं शोभा अन्तरात्मा के पास मिलती तथा रहती है। अहंकार अपने साथियोंके साथ

आत्मदर्शनके समर्थक सात्विक भावोंसे हार जाता है। यह बात तब होती है जब साधक श्रीके दर्शन करता है। उस समय भावोंका संघर्ष होता है। अहंकार उदय होकर परास्त होता है।

वैसे श्रीकृष्णका कार्य तो यदुकुल संहारके पश्चात समाप्त होता है। सात्विक भावोंको भी आत्मदर्शन नष्ट कर दे, तब पूर्णता आती है। किंतु अहंकारका नाश या शिशुपाल वध एक बृहत् कार्य पूर्ण कर देता है। राजस अहंकारका नाश एक सर्वोच्च कोटिकी भूमिका है। यह अवस्था तब आती है जब साधकमें धैर्य पराकाष्ठाका हो, जब धैर्य अन्य समस्त भावों को विजय करके साधन में प्रतिष्ठित हो।

ध्यान चक्र में जब धैर्य समस्त सात्विक भावोंको अनुकूल बना लेता है और राजस-तामस भावोंको दबाकर अपने अनुगमनको बाध्य कर देता है, तो प्रथम पूजाका प्रश्न आता है। किसका प्रथम सम्मान हो। सभी सात्विक भाव श्रीकृष्ण के चरणोंको पूजना चाहते हैं। विवेक (सहदेव) प्रेरणा करता है "अन्तरात्माकी उपासना करो।" युधिष्ठिर को यह स्वतः अभीष्ट है।

साधन में अहंकार तो होता ही है। वह ठीक इसी समय जागृत हो जाता है। विक्षेप उपस्थित करने लगता है। साधक में आत्मदर्शन के प्रति अनेक भ्रान्त धारणाएँ उठती हैं। सात्विक भाव क्षुब्ध होते हैं। दृढ़ निश्चय (भीष्म) अहंकारको दबाना चाहता है। भीमादि भी यही चाहते हैं। अन्तरात्माका आकर्षण उन्हें रोकता है, राजस अहंकारसे उलझना उनका कार्य नहीं। अहंकारकी उत्पन्न की भ्रान्त धारणाएँ बढ़ती जाती हैं। जहाँ उनकी सीमा हुई, सम्भवतः वे सौसे कुछ अधिक प्रकारकी होती हैं, तुरन्त श्रीकृष्णका चक्र शिशुपालका सिर काट लेता है। एक अन्तरसे तेजका आवेग उठता है, जो अहंको नष्ट कर देता है। उसका तेज अन्तरात्मामें विलीन हो जाता है।

***

# पारिजात हरण

**मूलकथा** - पृथ्वीको पातालसे निकालते समय वाराह के स्पर्शसे एक पुत्र, नरक हुआ। यह महान बलशाली था। इसने इन्द्रका छत्र, अदिति के कुंडल प्रभृति सब छीन लिये। अन्त में इन्द्रने द्वारिका में आकर श्रीकृष्ण से, नरकासुर के अत्याचारोंको बता कर उसे मारने के लिये प्रार्थना की। सत्यभामाके साथ गरुड़पर बैठकर केशव उसके नगरको चले।

उस भौमासुरकी राजधानीके चारों ओर पर्वतोंका दुर्ग, शस्त्रोंका दुर्ग, वायुका दुर्ग, जलदुर्ग, अग्नि दुर्ग, मुरपाश तथा बहुतसे यन्त्र थे। भगवान् ने गदा और चक्र से उन सब दुर्गोंको तोड़कर शंख बजाया। जलमें सोया पंचसिरा मुर दैत्य पहिले युद्धके लिये आया। यही नगर रक्षक था। उसके मारे जानेपर मुर के सात लड़के - विभावसु, वसु, नभस्वान, अरुण आदि पीठको सेनापति बनाकर लड़ने आये। वे भी जब निहत हो गये तब स्वतः नरकासुर लड़ने आया। वह सत्यभामाके कहनेपर मारा गया।

नरकासुरने राजाओं की सोलह सहस्त्र कुमारी कन्याएँ, अपने यहाँ बन्दी कर रखी थीं। शुभ मुहूर्तमें वह उनसे विवाह करनेकी प्रतीक्षा में था। श्रीकृष्णको देखते ही वे सब उन्हीं की ओर आकर्षित हुईं। उन्हें केशवने द्वारिका भेज दिया और लौट कर सबका एक साथ पाणिग्रहण किया। नरकासुरके नगरसे बहुतसे ऐरावत, रत्न, हाथी, घोड़े भी उन्हें मिले। वहाँ उसके पुत्रको राज्य देकर वे गरुड़पर बैठ स्वर्ग गये। अदितिको कुण्डल और इन्द्रको क्षत्र मिला। यहाँ इन्द्राणीने सत्यभामाको मानवी समझ कल्पवृक्षके पुष्प नहीं दिये। मानसे सत्यभामाने केशवसे उसे ले चलने को कहा। भगवान् ने उसे उखाड़ लिया। रक्षकोंको मार भगाया और गरुड़पर रखकर ले चले।

पारिजात के लिये इन्द्र देवताओंके साथ लड़ने आये। युद्धमें देवता हार गये। अन्तमें इन्द्रने वज्र चलाया जिसे श्रीकृष्णने वाम हस्तसे ले लिया। लज्जित देवराज यदुपतिकी स्तुति करके, वज्र पाकर लौट गये। पारिजात द्वारिकामें सत्यभामा के आंगन में स्थापित हुआ। श्रीकृष्णके पृथ्वी छोड़ देने पर वह पुनः स्वर्ग चला गया।

**आध्यात्मिक अर्थ** - कर्ममें लगकर व्यक्ति जब धैर्य खो देता है और पुनः भगवान् का आश्रय लेकर उसे प्राप्त करता है, तो उसे भगवद् विश्वास एवं धैर्य स्थिति के संयोगसे एक कष्ट होता है। यह कष्ट वस्तुतः साधनका है और नर्कका रूप होनेके कारण उसका नाम नर्क है। धैर्ययुत साधन में कष्ट होता ही है।

उद्योगका कष्ट इन्द्र (बल) की छाया (छत्र) और अदितिके कुण्डल हरण कर लेता है। उसे बलकी छाया और सात्विक वृत्तिका प्रकाश चाहिये। अन्तरात्माका आकर्षण विचार (गरुड़) पर बैठकर सत्यभामा (सात्विक आनन्द) की प्रेरणासे उस नर्कको नष्ट कर सकता है। वह उद्योग जन्य कष्ट हड्डी, रक्त, प्राण, मज्जा, तन्तु, जठराग्नि प्रभृति सभी में रहता है। वह सब उसके दुर्ग हैं। अन्तरात्माका आकर्षण इन बन्धनोंके अहंकार को नष्ट कर देता है। पंचसिरा मुर या प्राण उससे पराजित होता है। पीठ अर्थात् उद्योगका आधार लेकर पंच ज्ञानेन्द्रियोंके विषय और मनके संकल्प-विकल्प विक्षिप्त करते हैं, वे भी नष्ट हो जाते हैं। अन्तमें कष्टका स्वरूप नष्ट होता है। द्वन्द्वोंमें कोई कष्ट नहीं रह जाता।

उद्योग जन्य कष्ट शरीर की सब सोलह सहस्त्र वृत्तियों का आहरण किये रहता है। वह उनको व्याप्त करना चाहता है। उसके नष्ट हो जाने पर उनका अन्तर्मुख प्रवाह हो जाता है। समस्त मानस स्तर श्रीकृष्णसे सम्बन्धित हो जाते हैं। केवल आत्मानन्दमें उनकी प्रवृत्ति होती है।

बल रक्षा और देव माता अदिति प्रकाश पाकर प्रसन्न होते हैं। इन्द्र पत्नी शक्ति, कल्पवृक्षके प्रसून सत्यभामाको नहीं देती। सात्विक आनन्दात्मिका वृत्तिको शक्ति कल्पना साकल्प नहीं देना चाहती। कल्पवृक्ष शक्तिका है। जो चाहो, शक्तिसे उपार्जन करो। सत्यभामाकी प्रेरणा से कृष्ण उसे उखाड़ लेते हैं।

सात्विक वृत्तियां बाधा देती हैं, पर परास्त होती हैं। आत्मानन्द जहां है, वहाँ सब अभीष्टकी पूर्ति भी रहेगी। शक्ति उसे रोक नहीं सकती। बाह्य पूर्ति की वहाँ अपेक्षा नहीं रहती।

**आधिदैविक अर्थ** - नाभि चक्रमें साधन करते समय जब साधन कर्ममें लगकर स्थिति खो देता है और कुण्डलिनी नीचे चली जाती है, तो वाराहके द्वारा उसका उत्थान होता है। "वाराह" प्रकरणमें इसे बता चुके हैं। उसी समय से साधकके शरीर में एक प्रकारकी पीड़ा होती है। इसीका नाम नर्क (कष्ट) है। वह पहिले सूक्ष्म रहती है, धीरे-धीरे बढ़ती है। सब सात्विक वृत्तियों को चंचल कर देती है। बलवान स्वयं होती है, बल क्षीण होता है। स्वयं प्रकाशमान होती है, सात्विक वृत्ति (अदिति) आभूषण हीन हो जाती है। श्रीकृष्ण ही उसका नाश कर सकते हैं।

सात्विक भावोंकी प्रेरणासे साधक विचार (गरुड़) के साथ एकाग्र होता है। द्वारिकामें स्थित श्रीकृष्णको भौमपुर जाना पड़ता है। सहस्त्रार की शक्तिको मूलाधार तक तो आना होता है। सत्यभामा के साथ यह कार्य सम्भव है। कुण्डलिनी जो कृष्णके साथ अपने परिवर्तित तेजोमय स्वरूपके साथ रहती है, उसको भी नीचे लाना चाहिये। विचार (गरुड़) अर्थात् साधकका ध्यान यह कार्य करेगा।

मूलाधार तक आनेके लिये रीढ़की अस्थिका दुर्ग, नाभि चक्रका वायु दुर्ग, स्वाधिष्ठानका जल दुर्ग एवं मध्यका अग्नि दुर्ग पार करना पड़ता है। ये चक्र इन तत्वोंके केन्द्र हैं। ऊपरसे अवतरित होती आत्मशक्ति इनका भेदन करती है। स्वाधिष्ठानके जलतत्वका भेदन करके शंखनादका उत्थान (श्रवण) होता है। इससे नन्हें तन्तु जाल टूट जाते हैं, जो कष्टके कारण वातादिसे बने होते हैं। पंचप्राण यहीं कुपित होते हैं। किंतु उस पंचसिरा मुरको कृष्ण मार डालते हैं। प्राण पूर्णतया निरुद्ध हो जाता है।

पीठ अर्थात् आधार चक्रको केन्द्र (सेनापति) बनाकर, पंच-विषय एवं मन संकल्प-विकल्प जो प्राणोंके सात पुत्र हैं, कृष्णसे युद्ध करते हैं। रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श, भाव, विरोध इन सबका उदय होता है। विचित्र दृश्य एवं

गन्धादिक प्रकट होकर साधकको चंचल करनेका प्रयत्न करते हैं। अन्त में सबका नाश होता है। पीठ (आधार चक्र) भेदन होता है। एक बार कष्ट बढ़ता है, नर्क में युद्ध होता है। अन्त में वह सदाके लिये मारा जाता है।

शरीर में सोलह सहस्त्र नाड़ियाँ हैं, उनके दो केन्द्र हैं - मूलाधार और सहस्त्रार। कष्ट उनके नीचेके केन्द्रको जागृत करता है। नर्क उन कुमारियोंका हरण करता है। पर वह उन्हें वरण नहीं कर पाता। नर्कके नाशके पश्चात् उनका ऊपरी केन्द्र जाग्रत होता है। उनका संयोग कृष्णसे होता है। उनमें आत्मज्योतिका प्रकाश आता है। मूलाधारका संचालन, नर्कका संचालन नर्कका पुत्र "उत्साह" करता है। उस केन्द्रमें उत्साहका निवास हो जाता है। साधक नर्क निधनसे कष्टोंसे रहित हो जाता है। कोई भौतिक या दैविक द्वन्द उसे पीड़ा नहीं पहुँचा सकता।

अवतरणका मार्ग सहस्त्रार से सीधे नाभिमें होकर था। पुनः उस आत्मशक्तिको सत्यभामा के साथ सहस्त्रार में पहुँचाते हैं। यह उत्थान मार्ग हृदयमें होकर जाता है। यही स्वर्ग है, जहाँ अदितिको कुण्डल और इन्द्रको छत्र मिलता है। बल और सत्व वृत्ति पुनः प्रबल तथा शोभित होते हैं।

हम प्रथम बता चुके हैं कि सिद्धियाँ कृष्णके आविर्भावके पश्चात् छूट जाती हैं। "कुब्जा-कृष्ण" के प्रकरणमें इसे समझाया गया है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह साधक अपनी संकल्प पूर्ति में असमर्थ होता है। सत्यभामा जब हृदय-चक्रमें आती हैं, तो वहांकी अधिष्ठात्री उन्हें सिद्धिकी शोभासे विभूषित नहीं करती। फलतः पत्नीकी प्रेरणासे कृष्ण उस सिद्धिके मूल कल्पवृक्षको उखाड़ लेते हैं।

सात्विक वृत्तियों का यहां संग्राम होता है। सिद्धि शक्तिके साथ उस शक्तिको सहस्त्रार में जानेसे रोकना चाहती हैं, उन्हें हारना पड़ता है। सिद्धिका केन्द्र हृदय न रहकर सहस्त्रार हो जाता है। वहां भी सत्यभामा का गृह। कुण्डलिनी के ज्योतिर्मय स्वरूपका स्थान। स्मरण रहे कि कल्प वृक्ष श्रीकृष्णके रहने तक सहस्त्रार में रहता है। जब तक श्रीकृष्णकी अभिव्यक्ति ध्यानमें है, तभी तक वह वहाँ रहेगा। फिर ध्यानोत्थित होते ही हृदय में आ जावेगा। ***

# शिव

**मूलकथा** - भगवान् शंकर प्रलयके देवता हैं। उनका वर्ण श्वेत है। उनके सिरपर गंगा, भालमें चन्द्रमा, आभूषणके स्थानपर सर्प, हाथोंमें त्रिशूल और डमरु तथा वस्त्र के स्थानपर व्याघ्राम्बर धारण करते हैं। वे रहते हैं श्मशान में। शरीरमें श्मशान की विभूति लगाते हैं। बैल उनका वाहन है। अमृत मंथनमें निकले हलाहल विषको पी जानेके कारण उनका कण्ठ नील वर्ण हो गया है। वे त्रिनेत्र हैं। सम्पूर्ण कलाओंका उनके डमरुसे आविर्भाव होता है। शक्ति उनकी पत्नी है। उनका भोजन है धतूरा, भंग प्रभृति। त्रिदल बेलपत्र उन्हें प्रिय हैं। वे शीघ्र सन्तुष्ट हो जाते हैं और दुर्लभ वरदान भी दे देते हैं। उनके गण हैं भूत, प्रेत, पिशाच, डाकिनी प्रभृति।

भगवान शिवका एक दूसरा रूप रुद्र है। इस रूपमें वे ब्रह्माके क्रोधित होनेपर उनके भ्रूमध्य से प्रकट हुए। उनका वर्ण नील लोहित था। उनके एकादश भेद हो गये और उनको एकादश शक्तियाँ पत्नीके रूपमें ब्रह्माने दीं। पंचमुख भगवान शंकरका स्वरूप अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त दैत्यनाश या प्रयोजन विशेषमें उनके दूसरे रूप भी हो जाते हैं।

**आध्यात्मिक अर्थ** - कल्याण जीवका, इस संसार के जन्म-मरण चक्र छूट जाने में ही है। बिना प्रकृति-प्राकृत प्रपंचका लय किये, शिव-कल्याण की प्राप्ति नहीं। वह उज्ज्वल, निर्दोष एवं निर्विकार है। परम पवित्रता स्वरूप गंगा, अमृत सूचक चन्द्र उसके सिरपर भूषित हैं। कालरूपी सर्पको वह अपना आभूषण बना लेता है। वह काल उसे हानि नहीं पहुँचा सकता। त्रिशूल उसके हाथमें है अर्थात् तीनों तापोंको वह वशमें कर लेता है। नादमय डमरु उसके हाथ में है। वह प्रकृतिकी सूक्ष्मतम अवस्था नाद को भी अपने वशमें रखता है। भयदाय व्याघ्रका वह चर्म पहनते हैं। भय उनके समीप नहीं जा सकता।

पूर्व विरक्ति ही उपरोक्त शिवकी प्राप्ति कराती है। जहाँ जगतीका मोह जल जाता है, मायाके उस श्मशानमें शिव रहते हैं। चिताकी भस्म उनके शरीरपर लगती है। मायाको भस्म करके बची विरक्ति उनको भूषित करती है। वृषभ उनका वाहन है। वह शिव वृषभ अर्थात् धर्मपर बैठते हैं। धर्माचरणसे वे पाये जा सकते हैं। कल्याणको प्राप्त महापुरुष अपार दयालु होता है। जगतका दुःख रूप हलाहल वह स्वयं पी जाता है। इससे उसका कण्ठ नीला हो जाता है। उसका यश क्षितिजके उस पार तक पहुँच जाता है। उसका भोजन धतूरा आदि विष हैं। वह सम्पूर्ण विकारोंको पचाने में समर्थ है। कोई विकार उसे विकृत नहीं कर सकते। बेलपत्र - धारणा, ध्यान, समाधि या श्रवण, मनन, निदिध्यासनसे वह प्रसन्न होता है। शक्ति उसकी पत्नी और गणेश तथा कार्तिक पुत्र हैं। वह शक्ति, ज्ञान और अन्तःकरण प्रभृति सबका स्वामी है। प्रेत, पिशाच प्रभृति उसके गण हैं। विश्वकी समस्त विभीषिका उसके लिये सेवक हो जाती है। बच्चोंके समान भोलापन और शीघ्र प्रसन्न शिवके गुण हैं। कल्याण प्राप्त महापुरुषमें यही लक्षण पाये जाते हैं। सत्, चित् और आनन्द - यह शिवके तीन नेत्र हैं। इसमें ज्ञान नेत्र ही मायाका नाशक है।

शिवका दूसरा रूप है रुद्र। सृष्टिमें लगी सृष्टि शक्ति ब्रह्मा, जब अपना उद्देश्य पूर्ण होते नहीं देखते तो उन्हें क्रोध आता है। यही क्रोध रुद्र बन जाता है। उसका वर्ण नील-लोहित, इतना लाल जो नीला हो जाय। मनुष्य कर्ममें विफल होकर क्रोध करता है। यह क्रोध सृष्टिका नाशक है। वह तमोगुण मिश्रित उग्र रजोगुण है और इसीसे उसका रंग नील-लोहित कहा गया। वह ग्यारह प्रकारसे बँट जाता है। मन और दस इन्द्रियाँ, इन सबमें वह व्याप्त हो जाता है। विनाशक शक्ति उसे प्राप्त हो जाती है। यही क्रोध शिवके उज्ज्वल रूपमें तब हो जाता है, जब वह माया मात्रको भस्म करता है, वह क्रोध न होकर तब वैराग्य बन जाता है। शिवके अनेक रूप हैं, विकार नाशके लिये अनेक प्रकारके साधन होते हैं। सबमें शिवका पंचमुख स्वरूप प्रमुख है। साधन चतुष्टय-शम, दम, तितिक्षा, वैराग्य और जिज्ञासाके साथ आस्तिक्य अथवा श्रद्धाको मिला देनेसे, यह स्वरूप सम्मुख आ जाता है। दो शब्दों में कह सकते हैं कि शिवका स्वरूप साधनका स्वरूप है।

**आधिदैविक अर्थ** - विशुद्ध कण्ठचक्रमें जो कि शुद्ध सत्वगुण प्रधान होनेके कारण विशुद्ध कहा जाता है, शिवका निवास है। इस चक्रको भेदन करनेके लिये शिवकी उपासना और ध्यान करना पड़ता है। यहां साधक को पूर्णतः विरक्त होनेपर ही सफलता मिलेगी। शिवका वाहन वृषभ है, पूर्ण धर्मात्मा साधक ही शिवको पावेगा। चिता भस्म शरीरमें लगाकर, व्याघ्राम्बर पहनकर, श्मशान में साधन करनेसे चक्र शीघ्र जागृत होगा।

शिव के मस्तक पर गंगा और ललाटमें चन्द्रमा हैं। साधक पवित्रता और अमृतका भण्डार पा जाता है, यह बताया गया। काल रूपी सर्प साधकको मार नहीं सकता और न त्रिशूल सदृश त्रय ताप उसे पीड़ा दे सकते। इस कण्ठ-चक्रको जाग्रत करनेपर वह इन्हें आभूषणकी भाँति चाहे शरीरमें धारण करे, चाहे न करे। प्रतिभा और कला अब उसके हाथके डमरुकी भाँति वशमें हो जाते हैं। विद्यापर वाहनकी अपेक्षा भी अधिक उसका आधिपत्य हो जाता है। शक्ति उपास्य न रहकर सहधर्मिणी हो जाती है। सत्वगुण उज्ज्वल होता है, अतः शिव कर्पूर गौर हैं।

इस चक्रको जागृत करते समय सात्विक वृत्तियोंको बढ़ानेकी इच्छा से जो प्रयत्न होता है, वह एक बार महान क्षोभ उत्पन्न करता है। वह एक बार भयंकर व्याधिके रूपमें प्रकट होता है। शरीर में घोर पीड़ा होती है। यही वह महाविष है। साधक साधनमें लगा हुआ शिवका ध्यान करता रहे, तो यह व्याधि नष्ट हो जाती है। कण्ठ चक्रका कमल नीलवर्ण है। शिवके नील कण्ठ होनेका यही अर्थ है। साधनके समय बड़ी भयंकर आकृतियां दृष्टि पड़ेंगी। डरना नहीं चाहिये। वे शिव गण हैं; सहायक हैं, घातक नहीं।

शिव आशुतोष हैं। दृढ़तासे साधन करनेपर यह चक्र बहुत शीघ्र सिद्ध होता है। बेलपत्र भोजन इसमें साधकको मानसिक शान्ति देता है। धतूरा प्रभृति और बेलपत्र भी पूजाके उपकरण हैं। भंग, धतूरा, मंदार पुष्प और बेलपत्रको समीप रखनेसे उसकी उठती हुई सुगन्धि एक प्रकारका प्रभाव डालती है, जो साधन के समय बहुत सहायक होता है। विशुद्ध चक्र का भेदन पूर्णतया धार्मिक

और विरक्त होकर किया जा सकता है। कम से कम उतने दिन तो साधकको विरक्त रहना ही होगा।

नाभिचक्र जागृत करते समय ब्रह्मासे रुद्रकी उत्पत्ति होती है। साधक जब प्रयत्न में असफल होकर उत्तेजित हो उठता है, तो उससे एक शक्ति प्रकट होती है। यह मन तथा इन्द्रियोंके विकारोंका नाश करती है। उसका वर्ण उत्तेजनामय नील-लोहित होता है। मन एवं इन्द्रियोंके विकार शमन के लिये, उसके ग्यारह भेद हो जाते हैं। विशुद्ध चक्रमें इसी शक्तिका पूर्णरूप शिव स्वरूप में प्राप्त होता है। चक्र जागृत करनेके समय जो विघ्न आते हैं, उन्हें दूर करनेके लिये शिवका अनेक रूपों में ध्यान करनेकी व्यवस्था है। उस ध्यानसे वे विघ्न नष्ट होते हैं।

शिवका प्रधान स्वरूप पंचमुख है। कण्ठचक्रकी वह अधिष्ठातृ शक्ति, चतुर्दिशा में और ऊपर भी प्रकाश डालती है। वह शिव प्रलयके देवता हैं। सब विकार एवं मोहादि संस्कारोंका यहाँ नाश हो जाता है। मदन-दहन लीला यहीं होती है, उसकी व्याख्या पृथक प्रकरणमें करेंगे। शिव के तीन नेत्र हैं, वे आनन्द, सत्ता और ज्ञानके द्वारा विश्वका प्रत्यक्ष करते हैं। तृतीय नेत्र ज्ञान बन्द रहता है, उसपर आवरण रहता है। खुलते ही माया का नाश हो जाता है। शिवका तृतीय नेत्र बन्द रहता है। साधक इस चक्रमें ज्ञानको अनावृत नहीं पाता। वह परोक्ष ज्ञान मात्र पाता है। शिव सृष्टि का प्रलय कर देते हैं, पर वह संस्कार रूपसे रहती है। चित्तके विकार नष्ट हो जाते हैं, पर उनके मूल संस्कार यहाँ भी शेष रहते हैं।

**कुछ स्फुट बातें** - प्रलयके देवताकी कितनी उच्च कोटिकी कल्पना शिव रूप में हुई है। वह हलाहल पचा सकता है। वह स्वयं अमर है, चन्द्रमा धारण करता है। पवित्र गंगा धारण करता है। भला मर्त्य और अपवित्र क्या प्रलय करेगा। वह श्मशान कर देता है संसारको, त्रिशूल त्रयताप हैं, सर्प, व्याघ्र चर्म और प्रेत अर्थात् सब विनाशी शक्तियाँ उसके साथ हैं। वह उनसे खेलता है। जहाँ वह वृषभवाही उज्जवल है, वहीं घोर नील-लोहित भी। कूड़ेको हटाकर वह नूतन सृष्टिको अवकाश देता है, अतः उज्जवल और धर्मात्मा है। अग्निकी

लपटोंसे भी लाल वह विनाशक, उसकी दृष्टिमात्र विश्वको नष्ट कर देती है। वह विष खाता है और श्मशान में रहता है। तेजस्वी दयालु स्वभावसे होते हैं। प्रलयके देवका यह सर्वोत्कृष्ट रूप है।

***

# त्रिपुर वध

**मूलकथा** - मयदानवने, जो मायावियोंका आचार्य है, तीन नगर बनाये। एक स्वर्णका था, दूसरा चांदीका और तीसरा लोहेका। तीनों आकाशचारी और इच्छानुसार चाहे जहां उन्हें ले जाया जा सकता था। सहस्त्र युगमें तीनों आधे पलके लिये एकत्र होते थे, उसी समय उनका नाश सम्भव था। उनपर किसी अस्त्र-शस्त्रका प्रभाव नहीं पड़ता था। मयके तीन पुत्रोंने उनमेंसे एक-एक ले लिया। दैत्योंके साथ वे उनमें रहने लगे। मय स्वर्ण नगर में रहता था। इन तीनों नगरोंके आश्रयसे दैत्य संसारका अकल्याण करने लगे।

देवता त्रिपुरोंसे कष्ट पाकर शंकरजीकी शरण में गये। शंकरजीने बतलाया कि दैत्य जब तक स्वतः धार्मिक हैं, तब तक मारे नहीं जा सकते। विष्णुने एक साधु का वेष बनाकर दैत्यपुरमें प्रवेश किया। उन्होंने यज्ञ, हवन, दान प्रभृतिका खण्डन किया। दैत्य उनकी बातोंमें आ गये, अकेला मय नहीं आया। शंकरजी देवताओंकी ओरसे त्रिपुर संग्राम करने लगे। शिव जिन दैत्योंको मारते थे, मय उन्हें अपने अमृत कूपमें डालकर जिला देता था। इस प्रकार युद्धोद्योग निष्फल होते देख, विष्णु गाय बने और ब्रह्मा बछड़ा। उन्होंने जाकर उस कूपका अमृत पी लिया। माया मोहित दैत्योंने देखकर भी रोका नहीं।

अब शिवने देवमय रथ बनाया। रथके सब अंगोंमें देवता विराजे। बाणमें ब्रह्मा, काल और विष्णुकी प्रतिष्ठा हुई। इसी समय तीनों पुर आधे पलको मिले और शिवके बाणने उन्हें भस्म कर दिया। मय शिवका भक्त था, अत शिवने नन्दीको भेजकर मयको त्रिपुर छोड़ देनेका आदेश दिया। मय वहाँसे पातालमें चला गया। इस प्रकार देवताओंके सम्मिलित उद्योग से त्रिपुरका विध्वंस हुआ। शिवको त्रिपुरारि कहते हैं। दैत्यराज मय अमर हैं और परम शिवोपासक भी।

**आध्यात्मिक अर्थ** - मन जो समस्त आसुरी भावोंका प्रधान है, सात्विक, राजस और तामस अहंकारकी सृष्टि करता है। यह अहंकार चाहे जिस वस्तुसे संयुक्त हो सकते हैं। तन्द्राकी क्षणिक अवस्थामें इनका मेल होता है, जो दिन रात्रि के सहस्त्रों क्षणोंमें केवल आधे क्षणको आती है। मन के तीन पुत्र काम, चंचलता और आलस्य इन अहंकारोंका आश्रय करते हैं। मन स्वयं स्वरूपतः सात्विक है। सारी आसुरी भावनाएँ इन्हीं नगरोंमें रहती हैं।

अहंकारी पुरुष स्वयं धार्मिक आचरण कर सकता है, कल्याण चाहता है, पर विश्वमें द्वेषवश वह धर्मका नाश करता है। अपने सम्मुख दूसरेका धार्मिक होना उसे सह्य नहीं। जब तक अहंकार धार्मिकतामें है, उसका नाश नहीं हो सकता। विष्णु या व्यापकत्व उसे भ्रान्त करता है। "सबमें तो भगवान हैं, फिर किसीका आदर और त्याग क्यों। आत्मा तो अलिप्त और व्यापक है, उसे पाप पुण्यसे क्या संस्पर्श ?" इस प्रकारके विचार अहंकार युक्त धर्माचरण करने वालोंके मनमें आते हैं। यज्ञादि पुण्य कर्म छूट जाते हैं, पापोंकी प्रवृत्ति बढ़ जाती है, वह भ्रष्ट हो जाता है।

शिव जिन असुरोंको नष्ट करते हैं, मय उन्हें अमृत कूपमें डालकर जिला देता। कल्याणकी भावनासे जो आसुरभाव दबते हैं, मन उन्हें आसक्तिसे जागृत कर देता है। विष्णु गौ रूपसे प्रविष्ट होकर उस अमृत को पी जाते हैं। इसमें उनके साथ ब्रह्मा भी वत्स रूपमें रहते हैं। इन्द्रियों के सत्वगुणमें संयमसे, व्यापक तत्वका आनन्दानुभव, उस आसक्तिको नष्ट कर देता है। इसमें उद्योग शक्ति साथ होनी चाहिये। आसुरी भाव जागृत रहते हुए भी, इन्द्रिय संयत हो जानेपर आसक्तिको रखने में समर्थ नहीं। वे अमृतको पीने में विष्णुको नहीं रोक सकते।

कल्याणकी भावना मात्र अहंकार और असुरोंको नष्ट नहीं कर सकती। सम्पूर्ण सात्विक भाव उसके साथ होने चाहिये। उद्योग शक्ति, संयम शक्ति और भगवानपर दृढ़ विश्वास होना चाहिये। यही ब्रह्मा, काल और विष्णु बाणके प्रधान भाग हैं। जब इन्द्रिय संयमसे आसक्ति नष्ट हो जाती है, तब इस सम्मिलित उद्योगसे तन्द्राकी सूक्ष्म अवस्थामें संयम करना होगा। उस समय अहंकारके त्रिभेद एक हो जाते हैं, उसी समय उनका नाश हो जायेगा।

मयका नाश नहीं होता। मन शरीर रहते नष्ट नहीं हो सकता। वह कल्याण चाहने वाला है। नन्दी उसे आदेश देकर पाताल भेज देता है। अन्तरके आनन्दकी अनुभूति मनको अन्तरतम प्रदेशमें पहुँचा देती है। वहाँ वह आकल्प अर्थात् शरीरान्त पर्यन्त अमर है।

**आधिदैविक अर्थ** - "बलि निग्रह" की कथासे यह मिलती-जुलती है। बलि और मय एक ही मनके नाम हैं। अन्तर इतना है कि बलिकी कथा उस साधन प्रणालीकी दृष्टिसे है जो हृदयमें समाप्त हो जाती है, और यह उस साधनकी दृष्टि से है जो कण्ठमें समाप्त होती है। कोई भ्रूमध्यकी कथा भी इसे बताते हैं।

मन त्रिविध अहंकारोंका उदय करता है। साधक धार्मिक कृत्य तो करता है, पर उसमें आसुरी भाव राग-द्वेषादि प्रधान हो जाते हैं। यह हृदय चक्रसे ऊपरकी स्थिति है। आसुरी भाव सात्विक भावोंको नष्ट करने लगते हैं। कण्ठ-चक्रमें ध्यानसे कोई लाभ नहीं होगा। हृदय-चक्रमें ध्यान करने से एक विचित्र बुद्धि होगी। सब पुण्य कार्य व्यर्थ जान पड़ेंगे। सब छूट जावेंगे, केवल कण्ठ-चक्रका मानसिक संयम रह जायेगा। यह एक अनिवार्य अवस्था है और प्रायः सभी साधकोंमें आती है। बिना डरे फिर कण्ठचक्रमें संयम करो।

वासनाएँ मनसे कुछ क्षणके लिये दूर हो जावेंगी, और पुनः मनकी बाह्य विषयों में आसक्ति, उन्हें जागृत कर लेगी। बार-बार यही क्रिया होने से साधक खिन्न हो जाता है। इन्द्रियोंको संयत रखना चाहिये। हृदय चक्रमें पुनः ध्यान करनेसे वह हृदयकी शक्ति इन्द्रियोंमें अवतरित होगी। साथ ही नाभिचक्रमें ध्यान करो और उस ब्रह्माकी शक्ति को भी हृदय शक्तिका अनुगामी बनाओ। यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन है, जो इन्द्रियोंकी विषयासक्तिको नष्ट कर देता है। कोई आसुरी भाव उसे बाधा नहीं देता।

साधनका सबसे महत्वपूर्ण भाग यही होता है, जब साधकको मूलाधारसे लेकर कण्ठ तकके समस्त चक्र एवं उपचक्रोंकी शक्तियोंका, कण्ठ में आकर्षण करना पड़ता है। थोड़े समय में वे सब शक्तियाँ एकत्र हो जाती हैं। सारे अंग निर्जीव हो जाते हैं। सविकल्प समाधिके समान अवस्था होती है। शिवके रथ,

बाण, ध्वजा आदिका विस्तृत वर्णन पुराणों में है। उसका विस्तार यहाँ नहीं दिया जा सकता। समस्त शक्तियोंको उसी विहित क्रममें ध्यान करना चाहिये।

जब सुषुम्ना नाड़ी चलती है, यह दिन रात्रिमें केवल आधे पलको चलती है, उसकी सावधानीसे प्रतीक्षा करें। ठीक उसी समयका शिवका कण्ठ-चक्रमें ध्यान करना चाहिये। शिवका ध्यान चक्र भेदन करेगा। उनका बाण अहंकार और समस्त आसुर भावोंको भस्म कर देगा। मनका नाश नहीं होगा, क्योंकि मनके द्वारा तो शिवका ध्यान हो रहा था। आनन्दकी अनुभूति मनको बचाती है। मन आशरीरान्त अन्तर्मुख होकर शिवकी उपासना करता है।

साधकका मन तब बाह्य जगतमें नहीं आता। वह अन्तर्मुख होता है। पाताल - हृदयकी सूक्ष्मतामें उसका निवास है। वह कल्याणकी उपासना करता है। भ्रू-मध्यके शिवलिंगकी पूजा करता है। यह शिवलिंग स्वर्णका अर्थात् ज्योर्तिमय है। शरीर जब तक रहता है, मन जीवित रहता है। शिव त्रिपुरारि हैं, त्रिगुणमय अहंकारका नाश उन्हींके द्वारा होता है। देवता रक्षा पाते हैं, साधककी सात्विक वृत्तियां स्वभावतः उसमें निवास करती हैं। सात्विक कार्योंमें अहंकार हीन स्वाभाविक प्रवृत्ति हो जाती है।

***

# शिव लिंग

**मूलकथा** - जब प्रलयसिन्धु में ब्रह्मा और विष्णु परस्पर विवाद कर रहे थे कि हम दोनोंमें से कौन बड़ा है, तो उसी समय उनके सम्मुख एक ज्योतिर्मय लिंग प्रकट हुआ। उसे देख कर दोनोंने यह तय किया कि जो इस लिंगके छोरको पहले प्राप्त कर लेगा, वह बड़ा समझा जावेगा। ब्रह्मा हंस रूपसे उसके ऊपरकी ओर चले और विष्णु वाराह रूपसे नीचेकी ओर। वह लिंग अनादि अनन्त था। दोनोंको निराश लौटना पड़ा। ब्रह्मा ने झूठ कहा "मैंने छोर पा लिया है", उन्होंने केतकी पुष्प प्रमाणमें दे दिया। इसी समय लिंगमें से शिवका आविर्भाव हुआ। शिवने बताया "ब्रह्मा झूठ बोल रहे हैं।" झूठका प्रमाण बननेके कारण केतकी पुष्प लिंग पूजा में निषिद्ध ठहराया गया। शिवके प्रकट होनेपर विवाद शान्त हो गया।

लिंग कहीं भी निराधार नहीं बनता। यह पीठके ऊपर स्थित होता है। लिंगका एक चतुर्थांश आधारके भीतर रहने की विधि है। आधारका आकार योनिका बनता है। पूजाकी विधि सब शिव मूर्तिके समान है। शिवकी पूजा मूर्ति रूपमें न होकर प्राय: लिंग रूपमें होती है। लिंगका छोटा बड़ा सब प्रकारका आकार हो सकता है। उसका कोई निश्चित रंग भी नहीं। किसी भी रंगका वह होता है।

**आध्यात्मिक अर्थ** - जब कार्य नहीं होता, जब मनुष्य कार्य क्षेत्रसे निकलकर पृथक बैठता है, तभी उसे दर्शन के सम्बन्धमें सोचनेका अवकाश मिलता है। प्रकृतिके सम्बन्धमें सोचते हुए वह दो शक्ति पाता है - रक्षक और उत्पादक शक्ति। विनाशक पर वह प्रथम विचार नहीं करता। उसको निर्णय करना पड़ता है कि रक्षक शक्ति बड़ी है या उत्पादक शक्ति। आज साम्यवाद प्रभृति उत्पादक शक्तिका समर्थन करके प्रधान हुए हैं।

इस उलझनमें उसके सम्मुख प्रकृतिका लिंग स्वरूप आता है। प्रकृति के मूल चिह्नपर उसे विचार करना है। प्रकृतिके मूल चिह्नमें जो शक्ति अधिक गतिशील हो, वही प्रधान है। उत्पादक शक्ति उसे धोखा देती है। वह आकर्षणको प्रधान मान लेता है। क्योंकि सुन्दर प्रमाण उसे प्राप्त होते हैं। इसी समय वह उस मूल चिह्न या लिंगपर विचार करता है। वह देखता है कि वह तो विनाशक शक्तिके कल्याणमय रूपका चिह्न है। वह विनाशके पश्चात् नव निर्माणका पूर्व रूप है। वह अनादि और अनन्त है। उत्पादक शक्तिकी उसमें कोई प्रधानता नहीं। वह निश्चय करता है कि तथ्यके विचारमें भौतिक सुन्दर किन्तु भ्रामक प्रमाणोंका उपयोग नहीं होना चाहिये।

शिवका वह लिंग अपने चतुर्थांशसे पीठमें स्थित रहता है। ब्रह्मका एक पाद प्रकृति में रहता है और त्रिपाद प्रकृतिसे परे। श्रुतिने इसका प्रतिपादन किया है "पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्वामृतं दिवि"। पीठ प्रकृतिका स्वरूप है, अतः उसका आकार स्त्रीका मुख्य चिह्न बनाया जाता है। सृष्टिका मूल चिह्न यही है। मूल लिंगका न तो कोई आकार है और न रंग। किसी भी आकार और रंगमें उसकी पूजा होती है।

**आधिदैविक अर्थ** - भ्रू-मध्यका द्विदल आज्ञा चक्र शिव लिंगका स्थान है। साधक यहाँ पहुँच कर इतना समर्थ हो जाता है कि वह सृष्टिको अपनी आज्ञानुसार चला सके। उसे अन्तर जगतसे आदेश भी इसी स्थिति में आकर मिलते हैं। इन्हीं कारणोंसे इस स्थानको आज्ञा चक्र कहते हैं। आज्ञा चक्र केवल दो दलके श्वेत पद्मका है। वहाँ प्रकृति और पुरुषका केवल लिंग स्वरूप शेष रह जाता है।

लिंग ज्योतिर्मय है, चेतन बिन्दु ठीक इसी स्थानपर है जो कि प्रकाश स्वरूप है। मेस्मेरिज़्म में यह बिन्दु एक प्रधान स्थान रखता है। "मानस शास्त्र" में इसका पूरा वर्णन किया गया है। यहाँ संस्कार शेष नहीं रहते। केवल त्रिपुटी बची रहती है, दृष्टा, दर्शन और दृश्य शेष रहते हैं। सविकल्प समाधिका यही स्थान है। संस्कारोंके लय हो जाने पर भी यहाँ प्रकृति और पुरुषका चिह्न या

लिंग रूप अवशेष रहता है। यहाँसे पुनः सृष्टि हो सकती है। साधक यहीं रुक जावे तो उसे पुनः संस्कार जागृत होनेसे नीचे आना पड़ेगा।

आज्ञाचक्रमें शिव लिंगका ध्यान पहले होता नहीं। बार-बार ब्रह्मा और विष्णुकी मूर्तियाँ सम्मुख आती हैं। सत्वगुण और रजोगुण दोनों प्रधान होते हैं। तनिक स्थिरतासे काम लेनेपर ज्योतिर्मय लिंग प्रकट हो जाता है। सत्वगुण शान्त हो अपने हृदयचक्रकी ओर चलेगा और रजोगुण ऊपरकी ओर। ज्योतिर्लिंग अनादि अनन्त दृष्टि पड़ेगा। इसी समय सत्वगुणके प्रवाहसे साधकमें गन्धका उदय होगा। उसे अनेक सुगन्धियाँ मिलेंगी और रजोगुणके प्रभावसे इसका उदय होगा। ब्रह्मा विष्णुके हंस और वाराह रूप रखनेका यही अर्थ है।

साधक रसके द्वारा भ्रान्त हो जाता है। विशेष कर जब रसके साथ उसे केतकीकी मधुर सुगन्धि प्राप्त होती है, तो वह यह समझ लेता है "यही पूर्ण स्थिति है"। ब्रह्मा उस लिंगके छोरको पानेका इसी रूपमें दावा करते हैं। योग शास्त्रमें इसीको "अप्राप्य भूमिकत्व" विघ्न बताया गया है। इस उलझन में साधक आज्ञाचक्रसे स्वतः नीचे आ जाता है। उसे कंठमें शिवके दर्शन होते हैं। साधक नीचे आनेपर भी उस चक्र से सम्बन्ध रखता है और वह ज्योतिर्लिंग उसके सम्मुख रहता है। शिव के सम्मुख आते ही सत्वगुण और रजोगुण शान्त हो जाते हैं। साधक ब्रह्माके झूठको समझ लेता है। वह केतकीकी सुगन्धिसे सावधान हो जाता है।

इस चक्र के साधकको भूलकर भी केतकी पुष्पको पूजा में नहीं लेना चाहिये और न उसे आस-पास रखना चाहिये। लिंग पूजामें यह पुष्प निषिद्ध है। इसकी सुगन्धि साधकको भ्रममें डाल सकती है। वह स्वतः उठी गन्धका निर्णय करने में भूल कर सकता है। शिवकी पूजा पद्धति ही शिव लिंगकी भी पूजा पद्धति है। वैसा ही वैराग्य और धार्मिकतादि यहाँ भी आवश्यक हैं। वही बेल-पत्रादि यहाँ भी सहायक होते हैं।

आज्ञाचक्र में जिस ज्योतिर्लिंगकी प्राप्ति होती है, वह ज्योति रूप है। उसका कोई विशेष आकार या रंग नहीं। वहाँ तक उसका एक चतुर्थांश प्रकृति

समन्वित है। पीठ या योनि प्रकृतिका चिह्न है। वह लिंगके आधार रूपमें उसी चक्रमें प्रत्यक्ष होता है। यहाँ तक प्रकृति चिह्न रूपसे रहती है।

आज्ञाचक्रसे ऊपर भ्रमर गुफा, महाकाश प्रभृति कुछ स्थान, अन्तमें सहस्त्रार या हंसधामका योग-ग्रन्थों में वर्णन हुआ है। कुण्डलिनीको सहस्त्रार में ले जाकर स्थित करते हैं। आज्ञाचक्रसे ऊपर मायाका संसर्ग नहीं रहता। यह सब दिव्यधाम हैं। सहस्त्रार में कुछ लोग गुरुमूर्तिका ध्यान बतलाते हैं। वस्तुत: ऊपर कोई भौतिक उपासना काम नहीं दे सकती। प्रकृतिका सम्बन्ध आज्ञा चक्र में छूट जाता है। चिह्न या लिंगकी सत्ता भी इसी प्रकृति सम्बन्धसे रहती है।

आज्ञाचक्र से ऊपर मूर्ति न होनेके कारण अब हम उधरका वर्णन छोड़ते हैं। योग इस लेखका विषय नहीं। केवल इतना बताना है कि संकेत रूपेण ऊपर कोई उपासना चल सकती है तो वह शालिग्रामकी। निराधार, गोल और कृष्ण वर्ण अर्थात् रंगहीनताकी सूचना, यही इस पूजाका संकेत है। शालिग्रामको कोई पीठ नहीं चाहिये। वह गोल अर्थात् पूर्ण है और कृष्ण अर्थात् रंगहीन। इससे अधिक उस स्थितिका कोई संकेत किया भी नहीं जा सकता।

**कुछ स्फुट बातें** - प्रकृति और पुरुषका संयोग ही इस विश्वका मूल कारण है। प्रकृतिसे असंस्पृष्ट परमात्माको अपनी प्राकृत बुद्धिके द्वारा हम जान नहीं सकते। त्रिपाद्-विभूति की कल्पना भी इस एकपादका आधार लेकर होती है। परमात्माका यदि सबसे सूक्ष्म कारण रूप हम जानना चाहें, तो वह प्रकृतिमें स्थित रूप होगा। लिंग रूपसे बढ़कर उसका सूचक और कुछ नहीं हो सकता। अपने पीठपर स्थित लिंग विश्वके मूल कारणका प्रतीक है। सृष्टिके कारणकी प्रतिमा इसी रूपमें अभिव्यक्त हो सकती है। जगतके कारणकी पूजा हम इसी रूपमें कर सकते और समझ सकते हैं।

***

# वृहस्पति

**मूलकथा** - ब्रह्मा के मानसपुत्र महर्षि अंगिरासे देवताओंके गुरु वृहस्पति जी की उत्पत्ति हुई है। उनका वर्ण पीत है। आपत्तिके समय देवताओंकी रक्षा उन्हींकी मन्त्रणा द्वारा होती है। इन्द्रने जब गुरुका अपमान किया तो वे आत्मलोक को जा पहुँचे, जहाँ देवता उन्हें ढूंढ़ न सके। उसी समय इन्द्रपर दैत्योंने आक्रमण किया और गुरुके अभाव में देवताओंको पराजित होना पड़ा।

चन्द्रमाने गुरु-पत्नीको अपनी स्त्री बना लिया। उसके लिये गुरुका पक्ष लेकर देवताओंने और चन्द्रमाका पक्ष लेकर दैत्योंने घोर संग्राम किया। अन्तमें ब्रह्माजीने उन्हें युद्धसे विरत किया। उस समय गुरु वृहस्पतिकी पत्नी गर्भवती थीं। ब्रह्माजीने जब गुरुदेवको उनकी स्त्री दिला दी, तो पति के आदेशसे उसने गर्भका त्याग किया। वह चन्द्रमाका वीर्यज गर्भ था और उससे जो पुत्र उत्पन्न हुआ, उसका नाम बुध पड़ा। तारा वृहस्पतिको मिल गई और बुध चन्द्रमाको।

**आध्यात्मिक अर्थ** - सम्पूर्ण सात्विक वृत्तियों में प्रधान है विचार शक्ति। देवताओंके पथ दर्शक देवगुरु वृहस्पति विचारके स्वरूप हैं। वही सात्विक वृत्तियोंको तामस वृत्तियोंसे बचाने में सहायक होते हैं। विचार का तेजके रूपमें चित्रण किया जा सकता है और उसका वर्ण पीत होगा।

देवराज इन्द्र अपने पदके मदमें गुरुका अभिनन्दन करना भूल जाते हैं और इस अपमानसे वृहस्पति ऐसे स्थानपर चले जाते हैं, जहाँ उन्हें देवता ढूंढ नहीं पाते। गुरुके सभासे जाते ही इन्द्रको अपनी भूल ज्ञात होती है और वे पश्चाताप करते हैं। समस्त सात्विक वृत्तियों में प्रधान आनन्द अपनी पूर्णता में विचार नहीं करना चाहता। आनन्दमें विचारकी उपेक्षा होती है। फलतः विचार सुप्त हो जाता है। विचारके सुप्त होते ही ग्लानि होती है और सभी सात्विक वृत्तियाँ विचार चाहती हैं। इस समय विचार का अभ्युत्थान नहीं होता। उसे

सात्विक वृत्तियाँ नहीं पातीं। आनन्दमें विचारकी उपेक्षा करनेपर, उसके शान्त होते ही राजस-तामस वृत्तियों का आक्रमण होता है और वे सात्विक वृत्तियोंपर विजय पा जाती हैं। विचारके अभाव में सात्विक वृत्तियोंको राजस एवं तामस भावोंसे पराजित होना पड़ता है।

वृहस्पतिकी पत्नी है तारा और चन्द्रमा उसे हरण कर लेते हैं। विचारकी सहधर्मिणी तारा अर्थात् तारने वाली बुद्धिको मन चुरा लेता है। चन्द्रमा मनके देवता हैं। मन सदा लम्पट है और वह बुद्धिको अपने अनुकूल कर लेता है। इस समय बुद्धिके लिये देव-दैत्योंका संग्राम होता है। राजसादि भाव चाहते हैं कि बुद्धि मनके साथ रहे और सात्विक भाव चाहते हैं कि विचारके साथ। ब्रह्माजी इस द्वन्दको शान्त करते हैं। यह अशान्ति बहुत काल तक रहनेपर भी स्थायी नहीं। सृष्टिकर्ता अर्थात् जीवन और बुद्धिकी इच्छा इसे शान्त करती है। वह बुद्धिको विचारको देती है, क्योंकि जीवन के लिये यह आवश्यक है।

ताराका मनसे संयोग होनेपर एक पुत्र हुआ बुध और वह चन्द्रमा को मिला, यद्यपि वृहस्पति भी उसे चाहते थे। बुद्धि मनकी अनुगामी होनेपर बुध अर्थात् अनुभव प्राप्त करती है। अच्छे-बुरे जिस मनके कार्यों का वह समर्थन करती है, उसका फल अनुभव भी उसे होता है। यह अनुभव वृहस्पति भी चाहते हैं और चन्द्रमा भी। विचार और मन दोनोंको इसकी अपेक्षा है। वह मनको प्राप्त होता है। उस अनुभवका संस्कार मन को मिलता है। इसलिये मन कष्टदायक काम में जानेसे पहले हिचकता है। और सुखप्रद काममें जानेके लिये उत्साही होता है। उसके पास अनुभव होता है।

वृहस्पति ताराको गर्भवती देखकर पहले उससे घृणा करते हैं और गर्भ त्यागका आदेश देते हैं। पर पुत्रको देखकर उसे चाहने लगते हैं। विचारका स्वभाव है कि वह किसी नवीन अनुभव में बुद्धिकी प्रवृत्ति नहीं चाहता। किन्तु अनुभवके परिणामको सम्मुख देखकर उससे लाभ उठानेका प्रयत्न करता है।

**आधिदैविक अर्थ** - वृहस्पति एक ग्रहका नाम है और उसे आकाशमें रात्रिको बराबर देखा जा सकता है। ज्योतिषी जानते हैं कि वह उच्च ग्रहों में

सर्वश्रेष्ठ है। उसका प्रभाव बुद्धिपर सर्वाधिक पड़ता है, इसीसे उसे बुद्धिदाता गुरु कहते हैं। वह देवगुरु कहा जाता है।

वृहस्पतिका आकार शुक्रके अतिरिक्त सभी ताराओंसे बड़ा है। शुक्र रात्रि भर रहता नहीं, अतः उससे उपमा नहीं ली गई है। वृहस्पतिको आकारकी दृष्टिसे पति अर्थात् प्रधान कहा गया। चन्द्रमाके प्रकट होनेपर वृहस्पति प्रधान न होकर चन्द्रमा प्रधान हो जाता है। पर चन्द्रमा घटता बढ़ता रहता है और नित्य रहता भी नहीं, इसीसे वह ताराका वास्तविक पति नहीं हो सकता। वह वृहस्पति से उन्हें छीन लेता है। शुक्र और कृष्ण घड़ियाँ ही देवासुर संग्राम हैं। रात्रिमें कुछ देर चन्द्रमा रहता है और कुछ देर नहीं रहता। विधि-विधान से अमावस्याको वृहस्पति ताराको पूर्णतः पा जाते हैं।

चन्द्रमासे ताराके गर्भ में बुधकी उत्पत्ति होती है। वैज्ञानिकों का कहना है कि बुध चन्द्रमाका एक टुकड़ा है जो किसी समय टूट कर पृथक हो गया था। वैसे बुधकी गति कुछ ऐसी है कि वह चन्द्रमाके पास दिखाई पड़ा करता है। पूर्णिमाको एक समय तो उसे देखना कठिन हो जाता है। ज्योतिष में बुधके गुण चन्द्रमा और वृहस्पतिके गुणोंसे मिलते-जुलते हैं।

इन्द्र अर्थात् वर्षा वृहस्पति की अनुकूलतामें होती है। वर्षाके दिनों में यदि कहीं वृहस्पतिका अस्त हो जावे तो समझना चाहिये कि इस वर्ष अवश्य अकाल पड़ेगा। गुरुका अतिक्रम करनेपर इन्द्रको दैत्यों से हारना पड़ता है। शुक्र और वृहस्पति का विरोध भी इसी प्रकार ज्योतिष से सम्बन्ध रखता है। फलित ज्योतिषका जाननेवाला भली प्रकार जानता है कि पुराणोंमें किस प्रकार इन ग्रहोंके धर्मको अक्षरशः ठीक-ठीक बतलाया गया है।

ग्रह तो हुए ब्रह्माण्डमें। अपने पिंड (शरीर) में भी उनकी स्थिति है। योगी उससे लाभ उठा सकता है। वृहस्पति बुद्धिके देवता हैं, खुले आकाशमें जब चन्द्रमा न हों, सीधे खड़े हो जाओ देवगुरुको थोड़ी देर अपलक देखो और फिर नेत्र बन्द करके भावना करो, मेरी बुद्धि वृहस्पतिसे एक होकर महान हो गई है। इसका शुभ परिणाम शीघ्र देख सकोगे।

जब चन्द्रमासे तारा-मंडल अभिभूत होता है उस समय इस क्रियाको मत करो। ऐसा करनेपर यद्यपि बुद्धिमें अच्छी प्रेरणा होगी, उसे बुध अर्थात् ज्ञान मिलेगा, पर पहले तुम अशान्त हो जाओगे। तामस और राजस वृत्तियां प्रबल हो उठेंगी। जिसने नाभिचक्रको जागृत कर लिया है, वह वहां ब्रह्माका ध्यान करके उस अशान्तिको मिटा सकता है।

जब देवगुरुको देखने के लिये बैठो तो मनसे गर्वको सर्वथा दूर कर दो। यदि मनमें गर्व रहा तो विचार शक्ति उलटे क्षीण हो जावेगी और तामस वृत्तियाँ प्रधान हो उठेंगी। शरीरको अकड़ा कर या बैठ कर देव गुरुपर त्राटक नहीं करना चाहिये। खड़े होकर उनकी ओर देखो।

खुले आकाशमें यदि सन्ध्या, हवन प्रभृति कोई कार्य किया जा रहा हो और उस समय अन्धेरा होने लगे तो नक्षत्रोदय के समय ही खड़े होकर वृहस्पतिको प्रणाम कर लेना चाहिये। ऐसा कर लेनेपर उस ग्रहका प्रभाव मस्तिष्कपर हानि नहीं करता। क्योंकि प्रणामसे मनमें एक विनम्रताकी भावना आ जाती है और वह ग्रहके आकर्षणको अपने अनुरूप बना लेती है। अन्यथा वृहस्पतिका प्रभाव बैठे हुए व्यक्ति, विशेषतः किसी आसनपर बैठे पर, अच्छा नहीं पड़ता। इन्द्रके द्वारा उठ कर प्रणाम न करने से देवगुरुका रुष्ट होना, इस संकेतको भली प्रकार व्यक्त करता है। हम समझें तो पुराणोंसे हमें असंख्य ऐसी लाभप्रद शिक्षाएं मिल सकती हैं।

***

# शुक्र

**मूलकथा** - आचार्य शुक्र दैत्योंके गुरु हैं। उनका रंग श्वेत है और उनके पास वह संजीवनी विद्या है जिससे मरे हुए दैत्य पुनः जीवित हो जाते हैं। गीता में भगवान् ने "कवीनां उशना" कहकर बतलाया है कि शुक्राचार्य सर्वश्रेष्ठ कवि भी हैं। देव गुरु वृहस्पतिसे इनकी अनबन है। देवता यद्यपि दैत्योंके शत्रु हैं और युद्धमें अवसर पड़नेपर शुक्रसे भी उलझ जाते हैं, पर वे आचार्यका सम्मान करते हैं एवं आचार्यपर आघात करना उन्हें अभीष्ट नहीं।

बालिके यज्ञमें वामन भगवान् ने जब तीन पद पृथ्वी मांगी और बालिने देना चाहा तो शुक्रने मना किया। अन्तमें जब बालिने उनकी आज्ञा न मानकर दान करने लगा, तो वे संकल्प के समय कलशके उस छिद्र में जा बैठे जहांसे जल निकलता (टोंटी में)। संकल्पके लिये जल गिरता न देखकर वामनने उस छिद्रमें एक तिनका डाला, जिससे आचार्यकी एक आँख जाती रही। एकाक्ष होकर उन्हें कलशसे निकलना पड़ा।

**आध्यात्मिक अर्थ** - सीधे शब्दोंमें वीर्यका दूसरा नाम शुक्र है। राजस और तामस वासनाओंका आधार वीर्य। काम वासना ही उन सभी वासनाओं में प्रधान है और दूसरी वासनाएँ भी इसीसे सम्पर्क रखती हैं। वीर्य शक्ति इन्हें जीवन देती है। वीर्यहीन में वासनाएँ तो होती हैं, किन्तु उनका प्राबल्य नहीं होता। वीर्य शक्ति कभी सद्‌भावोंको प्रेरित नहीं करती। वह तो केवल ओज है और मनके स्वाभाविक विकारोंको बल देती है। वीर्य मनको बलवान बनाता है। वृहस्पति और चन्द्रमाके युद्धमें, जिसका वर्णन प्रथम अध्यायमें हुआ है, शुक्र चन्द्रमाका साथ देते हैं। सात्विक भाव वीर्य से नहीं, विचार और अभ्याससे बढ़ते हैं। वीर्य शक्ति तो पशुओं में अधिक होती है। हम देख सकते हैं कि सिंहादि जिन पशुओंमें जितनी वीर्य शक्ति अधिक है, वे उतने उग्र हैं।

शुक्र के पास संजीवनी विद्या है। शुक्र जीवन है। वीर्य नाशसे जीवन शक्ति क्षीण होती है। वीर्य उस जीवन शक्तिसे मृत दैत्योंको भी जिला देते हैं। विचार और साधनके द्वारा जिन कामादि भावोंको दबा दिया गया है, उन्हें शुक्र जाग्रत कर देते हैं। वीर्य शक्तिके द्वारा उन भावोंको उत्तेजना मिलती है। शुक्रका वर्ण श्वेत है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

प्रतिभा शुक्रकी देन है। जिसमें जितनी अधिक वीर्य शक्ति होगी, वह उतना श्रेष्ठ कवि होगा। नपुंसक कवि नहीं हो सकता। काव्य शक्ति शुक्रमें निवास करती है। शुक्रकी वृहस्पतिसे अनबन है। वीर्यशाली आगा-पीछा सोचना बहुत पसन्द नहीं करता। वीर्यकी ओजस्विता विचारसे समन्वय नहीं करती। उसे कूद पड़ना पसन्द है। ओजस्वी परिणामकी मीमांसा करने वालोंको सुस्त और कायर मानता है। सिंह कभी हाथीके डील-डौलपर विचार नहीं करता। वीर्यमें आत्म-विश्वास होता है और वह इसीसे विचारकी उपेक्षा करता है। बुड्ढे और वीर्यहीन लोग अधिक विचारशील होते हैं।

शुक्र यद्यपि दैत्योंका पक्ष लेते हैं और देवताओंसे युद्ध भी करते हैं, किन्तु देवताओंको शुक्रपर आघात करना अभीष्ट नहीं। वीर्य शक्ति चाहे राजस-तामस भावोंको उत्तेजना देती हो, विचारसे उसका विरोध हो, पर सात्विक भाव उस शक्तिका सम्मान करते हैं। वीर्य शक्तिको क्षीण या नाश करना, विचारको भी अभीष्ट नहीं। देवता केवल दैत्योंका नाश चाहते हैं और शुक्रको अपनी ओर मिला लेना।

शुक्र एकाक्ष है। वीर्यशालीके मनमें जो बात आती है, वह उसे बड़ी दृढ़तासे ग्रहण करता है। ओजस्वी अपने कार्यके दूसरे पहलूको नहीं देख पाता। वह केवल कुशल लक्ष्य भेदी की भांति, अपने लक्ष्यको देखता है। शुक्रकी यही एकाक्षता है। यह उसकी लगनकी द्योतक है।

बलि यज्ञ कर रहा था और वामन उससे तीन पद पृथ्वी दान चाहते थे। सात्विक अहंकार अपनी सात्विक क्रियाओंमें लगा था। वामन भगवानने उससे तीन पैर रखने योग्य स्थान चाहा। वीर्य शक्तिने रोका, उसने समझ लिया कि तीन स्थानका अर्थ सर्वस्व है। प्रतिभा ठीक कल्पना कर रही थी, किन्तु

अहंकारने उसकी उपेक्षा की। प्रतिभा अहंकारको रोक नहीं सकती, केवल बाधा दे सकती है। संकल्पमें उसने बाधा दिया। कल्पनाकी उलझन में पड़ा पुरुष, संकल्प पाठ भूल गया। भगवान् ने तृणसे उसे दूर कर दिया। याचककी एक तुच्छ चेतावनीने कल्पनाको दूर कर दिया और लज्जित करके एकाक्ष भी। "बलि निग्रह" में इस कथाकी और स्पष्ट व्याख्या होगी।

**आधिदैविक अर्थ** - श्वेत वर्ण शुक्र कभी रात्रिके पिछले प्रहरमें और कभी पहले प्रहर में आकाशपर दृष्टि पड़ते हैं। नक्षत्रोंमें वे सबसे अधिक प्रकाशमान हैं। ज्योतिष के अनुसार शुक्र एकाक्ष हैं। वे केवल अपनी एक ओरकी राशिपर दृष्टि डाल सकते हैं। शुक्रका जब बुरे ग्रहोंसे योग होता है, तो वे ग्रह बहुत प्रबल हो जाते हैं। शुक्र इसीसे उनके गुरु कहे गये हैं।

यदि कोई दूषित ग्रह, शुभ ग्रहोंके योगमें आकर क्षीण सत्व हो गया हो और उस समय शुक्रसे योग हो जाय, तो वह शुभ ग्रहोंसे घिरा होनेपर भी अपना प्रभाव दिखलाता है। शुक्रकी यही संजीवनी विद्या है जो देवताओं द्वारा मारे गये दैत्योंको जीवित कर देती है। वृहस्पति और शुक्रका योग अच्छा नहीं होता। इन दोनोंमें शत्रुता है, अतः वह कलह और युद्ध का द्योतक समझा जाता है।

शुक्र कवि हैं, उनका प्रभाव प्रतिभापर सबसे अधिक पड़ता है। जन्म ग्रह शुक्र होनेपर बालक प्रतिभाशाली होता है। शुक्रके संयोगमें प्रतिभा जागृत होती है। यद्यपि शुक्र अशुभ ग्रहोंको उद्दीप्त करते हैं, पर शुभ ग्रहोंके योग में आनेपर उनका प्रभाव न तो नष्ट होता और न क्षीण। देवता उनका यहाँ इस प्रकार सम्मान करते हैं।

यह सब फलित ज्योतिषका विषय है। सामान्य उपयोग में वृहस्पति की भाँति शुक्रकी साधना भी होती है। इसके लिये जब शुक्र नभमें उदित हों तो उनकी ओर मुख करके आसनसे बैठ जाओ। खुले नेत्रोंसे कभी शुक्र को नहीं देखना चाहिये। इससे जीवन-शक्तिका वह ग्रह आकर्षण करता है। शुक्रकी साधनामें श्वेत वस्त्र और वृहस्पतिकी साधनामें पीत वस्त्र पहनना चाहिये। जब तक शुक्र के साधनमें बैठो, कभी भूलकर भी कोई गम्भीर विचार मनमें मत आने दो। अन्यथा अशान्ति बढ़ जावेगी। दूसरे कामादि विकारोंसे सावधान

रहो। शुक्र दैत्य गुरु हैं, अतः उनकी साधना से वे विकार प्रबल होते हैं। शुक्रकी साधना नपुंसक के मृत कामको जीवन देकर उसे पुरुष बना देती है। प्रतिभा और वीर्य शक्ति के लिये यह साधन होता है।

शुक्रकी ओर मुख करके नेत्र बन्द कर लो। धीरे-धीरे वाम नासिका से वायु खींचो और भावना करो "मैं शुक्र से वीर्य शक्ति खींच रहा हूँ", वायु को रोक कर भ्रूमध्यमें उज्ज्वल शुक्रके समान तारेका ध्यान करो। धीरे-धीरे दाहिनी नासिकासें वायु छोड़ दो। यह क्रिया गर्मी के दिनोंमें करना चाहिये। पन्द्रह मिनटसे एक घण्टे तक इसे बढ़ाया जा सकता है। शीतकाल में इससे हानिकी सम्भावना है। साधनाके दिनोंमें केवल दूध या खीर का भोजन करना चाहिये और श्वेत वस्त्र पहनना चाहिये। कमसे कम एक महीने अभ्यास करनेपर सफलता प्रत्यक्ष होगी।

***

# कच देवयानी

**मूलकथा** - युद्ध में देवता जिन असुरोंको मारते थे, आचार्य शुक्र उन्हें अपनी संजीवनी विद्यासे जीवित कर देते थे। इधर देवताओंका ह्रास हो रहा था। अन्तमें यह निश्चय हुआ कि वृहस्पतिजीके पुत्र कच, विद्या पढ़ने शुक्र के पास जायें और किसी प्रकार संजीवनी विद्याका भेद ज्ञात करें। कच देवताओंके आग्रहसे शुक्रके आश्रम में गये और शुक्रने भी उन्हें शिष्य रूपसे स्वीकार कर लिया।

शुक्राचार्यके एक ही पुत्री थी देवयानी। आचार्य उसे बहुत प्यार करते थे। मन ही मन देवयानी कचसे प्रेम करने लगी। कच भी नम्रतासे गुरु सेवा करते थे। असुरोंको कचकी उपस्थिति बहुत बुरी लगी। एक बार उन्होंने कचको मारकर वनमें फेंक दिया। पुत्री के आग्रहसे आचार्यने उन्हें जीवित किया। दूसरी बार असुरोंने उन्हें मारकर समुद्रमें फेंक दिया। आचार्यने उन्हें पुनः जीवन दिया। तीसरी बार कचको मारकर, उनके शरीरकी भस्म मुरामें मिलाकर, असुरोंने धोखेसे आचार्यको पिला दिया। आचार्यको जब यह ज्ञात हुआ तो वे बड़े असमञ्जस में पड़े। पुत्री का आग्रह भी रखना था। अन्तमें पेटमें कचको जीवित करके, आचार्यने उन्हें अपनी विद्या सिखला दी। गुरुके आदेशानुसार कच उनका उदर फाड़कर बाहर आये और पुनः विद्या प्रभावसे उन्हें जीवित कर लिया।

कचका उद्देश्य पूरा हो गया। वे गुरुकी आज्ञा लेकर देवलोक जाने लगे। उनसे देवयानीने प्रणय याचना की। गुरुपुत्री होने के नाते उन्होंने अस्वीकार कर दिया। देवयानीने शाप दिया "तुम्हें यह विद्या कार्यकारी न होगी।" कचने कहा "मुझे न सही, मैं जिसे बतला दूँगा उसे तो होगी।" कचने देवयानीको शाप दिया "तुम अनुचित विकारके कारण मुझे शाप देती हो, अतः कोई ब्राह्मण तुम्हारा पाणिग्रहण नहीं करेगा।" अन्तमें देवयानी का विवाह महाराज ययातिसे

हुआ। दैत्यराज विरोचनकी पुत्री शर्मिष्ठा उसकी दासीके रूप में ययातिके घर गई।

**आध्यात्मिक अर्थ** - वीर्यकी जीवनी-शक्ति बार-बार वासनाओं को जागृत कर देती है। सात्विक वृत्तियोंका क्षय होता है और राजस वृत्तियां नष्ट नहीं होतीं। अन्तमें बुद्धिका पुत्र कच शुक्रसे विद्या सीखने जाता है। बुद्धिमान साधक जटा रखकर ब्रह्मचारी बन जाता है। शुक्रकी पुत्री तेजस्विता जिसे शुक्र अत्यन्त प्यार करते हैं इस ब्रह्मचर्यको चाहती है।

आसुरी वृत्तियोंको यह ब्रह्मचर्य अखरता है। इससे उन्हें अपने नाशकी सम्भावना है। वे उसे नष्ट कर देना चाहती हैं। मनमें पता नहीं कितनी बार विकार आते हैं, कितनी बार ब्रह्मचर्यका नाश होता है, पर शुक्र उसे जीवित कर देते हैं। तेजस्विताका आग्रह है उस कचके लिये। अन्तमें असुर कचकी भस्म शुक्रको पिला देते हैं। वैद्यक शुक्र दोषमें एक लक्षण बतलाता है "अति ब्रह्मचाद ब्रह्मचर्याद्धा"। अति ब्रह्मचर्य से भी वीर्य दूषित हो जाता है। ब्रह्मचर्य का नाश शुक्र के उदरमें हो जाता है।

तेजस्विताका आग्रह यहाँ भी कचकी रक्षा करता है। शुक्र एक क्षण के लिये मृत हो जाता है। ब्रह्मचर्य उसे पुनः जीवन देता है। अति ब्रह्मचर्य से विकृत शुक्र स्वतः शुष्क हो जाता है, यदि मन संयत रहे। मनमें विकार आनेपर जो शुक्र विकृत होता है, संयम उसे सुखा डालता है और वह पुनः जीवन पाता है।

जीवनी-शक्ति प्राप्त करके जब साधक गृहस्थाश्रम में जाने लगता है तो तेजस्विता उसके साथ जाना चाहती है, किंतु ऐसा नहीं हो सकता। ब्रह्मचर्यका दृढ़ संयम गृहस्थ में कौन ले जाता है। पर तेजस्विता शाप देकर उस संजीवन विद्याको कुण्ठित कर देती है। गृहस्थ होनेपर वासनाओंसे विकृत शुक्रको सुखाकर नव-जीवन देनेकी शक्ति नहीं रह जाती। यद्यपि वह उस क्रियाको जानता है और पुत्रादिको सिखला सकता है, पर ब्रह्मचर्यके अभाव में स्वयं समर्थ नहीं।

जिस तेजस्वितामें वासना आ गई हो, वह ब्राह्मणकी वस्तु नहीं। तेजस्विता ब्राह्मण पुत्री अवश्य है, पर वासना युक्त होनेपर उसे कोई ब्राह्मण

नहीं स्वीकार करेगा। वह तो फिर सम्राट ययाति जैसे विलासी और उद्योगी क्षत्रियकी पत्नी बनेगी। लज्जा दासीके रूपसे उसके साथ है, पर प्रधानता नहीं रखती। तेजस्वी पुरुष उचित स्थानोंपर संकोच भी करते हैं।

**आधिदैविक अर्थ** - शुक्रकी पुत्री है देवयानी। यह एक छोटा-सा नक्षत्र है, शुक्र सदा इसके अनुकूल रहते हैं। वृहस्पतिका भी एक उपग्रह है कच। कच जब शुक्र के प्रभावमें आ जाता है तो वह प्रायः देवयानीके समीप पड़ता है। इस समय क्रूर ग्रह कई बार कचके प्रभावको नष्ट कर देते हैं। क्रूर ग्रहोंके आकर्षण में पड़कर कच शुक्रके ज्योति क्षेत्रमें पड़ जाता है। ऐसा लगता है मानो वह उनमें अस्त हो गया। देवयानी शुक्रके समीप रहती है।

इस समय शुक्रका प्रभाव नष्ट हो जाता है और कच शुक्रके समान प्रभाव दिखलाता है। कचके ज्योतिमंडल से बाहर आते ही, शुक्र पुनः प्रभावशील हो जाते हैं। कच धीरे-धीरे शुक्रसे दूर होता है। देवयानी कुछ दूर साथ गति करती है। कच उसे भी छोड़ वृहस्पतिके पास आ जाता है, देवयानी से पृथक होते ही कचका प्रभाव जाता रहता है। कचसे पृथक होनेपर देवयानीका प्रभाव उग्र हो जाता है। युद्धादि कार्यों में क्षत्रिय उसकी अनुकूलता ले सकते हैं। ब्राह्मणोंके लिये उस समय वह ग्रह अनुकूल नहीं रहता।

कच और देवयानी दोनों छोटे उपग्रह हैं। ज्योतिषने इनकी विवेचना नहीं की। परन्तु कुछ कालके लिये विशेष स्थिति में आनेपर ये बहुत प्रभावशाली हो जाते हैं। कच शुक्रके पेटमें जाकर शुक्रका स्थान ले लेता है। कुछ समय तक वह शुक्रसे पृथक होकर भी शुक्रका प्रभाव दिखलाता है। उस समय शुक्र के प्रभावका द्विगुण विचार करना चाहिये।

आकाश में सभी देवता और दैत्य पाये जा सकते हैं। उन ग्रह नक्षत्रोंका प्रभाव और गति पृथ्वीको प्रभावित करती है। पुराणोंकी कथाओंका आधिदैविक रहस्य उस प्रभाव और गतिका विवरण है। साथ ही व्यष्टि में यौगिक साधनकी प्रणालीका विवेचन भी। महाराष्ट्रमें श्री चुलैट शास्त्रीजी आकाशके नक्षत्रों में देवताओं को ढूंढ़नेका श्लाघ्य प्रयत्न कर रहे हैं। इससे पुराणोंकी एक व्याख्यापर अच्छा प्रकाश पड़ेगा। परन्तु यही सब नहीं। पुराणकी तीन व्याख्याएँ होती हैं

और तीनों सार्थक हैं। हमें आध्यात्मिक और आधिभौतिक व्याख्याको भूल नहीं जाना चाहिये। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि ब्रह्माण्ड में हम जिसका वर्णन करते हैं, वह पिण्डमें भी होगा। पिण्ड ब्रह्माण्ड भेदसे उन तीनों व्याख्याओं के दो-दो रूप होंगे। इतिहास जहाँ उसका एक रूप है, ज्योतिष भी वैसे दूसरा रूप। ज्योतिष पिण्डमें आकर लय और कुण्डलिनी योग हो जाता है और इतिहास शरीर निर्माणका विज्ञान। सृष्टि क्रम और मनोभावों की गतिविधि, यह आध्यात्मिक व्याख्याके दो रूप हैं।

इस कथा में साधक के लिये कुछ चेतावनी हैं। शुक्रसे जीवन शक्ति के लिये जो साधन कर रहा हो, उसे केश रखने चाहिये। देवयानीका केशों से प्रेम है। दाहिनी नाड़ी, जो देवयानी है, वह केशोंसे अधिक सम्बन्ध रखती है। देवयानीसे पृथक होकर कच जीवनी शक्तिसे रहित हो जाते हैं। केशसे जीवन शक्ति रक्षित रखनेके लिये, दक्षिण नाड़ीसे प्राणायाम करना आवश्यक है। केवल शुक्रके साधनके समय वाम नाड़ीसे काम लेना चाहिये। साधारणतया दाहिनी नासिकासे नित्य दो-चार प्राणायाम करना आवश्यक है।

गृहस्थ कच-देवयानीको साथ नहीं रखता। गृहस्थ शृंगारके लिये बाल तो रख सकते हैं, पर दक्षिण नासिकासे प्राणायाम उनके लिये हित नहीं, विशेषकर शान्तिशील ब्राह्मण के लिये। युद्ध प्रकृति कर्ममें शरीर में उत्तेजना लानेके लिये, क्षत्रिय दक्षिण नासिकासे प्राणायाम कर सकते हैं। ब्रह्मचारी ही उससे संजीवन पाता है। यदि ब्रह्मचर्य रखते हुए दक्षिण प्राणायाम के साधनमें, केश गिरने लगें तो डरना नहीं चाहिये। मनमें आयी विकारोंकी उत्तेजना इसका कारण है। शुक्रके संयमसे वे पुनः उग आवेंगे।

॥ इति ॥

***

# श्री सुदर्शन सिंह 'चक्र' जी के साहित्य की पुस्तक सूची

**नोट : सूची पुरानी होने के कारण पुस्तक का मूल्य अलग हो सकता है, कृपया खरीदने से पहले नया मूल्य पता कर लें।**

| क्र.सं. | पुस्तक का नाम | पृ.सं. | मूल्य |
|---|---|---|---|
| 1. | उन्मादिनी यशोदा | 105 | 80.00 |
| 2. | शत्रुघ्न कुमार की आत्मकथा | 160 | 40.00 |
| 3. | आञ्जनेय की आत्मकथा | 268 | 160.00 |
| 4. | सांस्कृतिक कहानियाँ - भाग 1 से 6 | 560 | 150.00 |
| 5. | सांस्कृतिक कहानियाँ - भाग 7 से 12 | 548 | 150.00 |
| 6. | पार्थ सारथी | 440 | 100.00 |
| 7. | भगवान वासुदेव | 416 | 175.00 |
| 8. | द्वारिकाधीश | 392 | 200.00 |
| 9. | नन्दनन्दन | 590 | 125.00 |
| 10. | कर्म रहस्य | 176 | 100.00 |
| 11. | रामचरित - पूर्व खण्ड | 647 | 260.00 |
| 12. | रामचरित - उत्तर खण्ड | 715 | 285.00 |
| 13. | राम श्याम की झांकी | 192 | 100.00 |
| 14. | पलक झपकते | 90 | 30.00 |
| 15. | आपकी चर्या | 136 | 35.00 |
| 16. | कन्हाई | 202 | 151.00 |
| 17. | साध्य और साधन | 332 | 150.00 |
| 18. | चिन्तन चिन्तामणि (गीता चिन्तन सहित) | 204 | 125.00 |
| 19. | शिव चरित्र | 142 | 175.00 |
| 20. | शिव स्मरण | 64 | 15.00 |
| 21. | श्याम का स्वभाव | 80 | 40.00 |

| क्र.सं. | पुस्तक का नाम | पृ.सं. | मूल्य |
|---|---|---|---|
| ----- | -------------- | ----- | ----- |
| 22. | हिन्दुओं के तीर्थस्थान | 274 | 35.00 |
| 23. | श्रीचक्रचरितम् | 500 | 150.00 |
| 24. | प्रभू आवत | 264 | 120.00 |
| 25. | वे मिलेंगे | 240 | - |
| 26. | मानस के अनुष्ठान एवं हनुमत उपासना | 65 | 35.00 |
| 27. | सखाओं के कन्हैया | 174 | 100.00 |
| 28. | श्रीकृष्ण सर्वरूप | 114 | 35.00 |
| 29. | श्रीमद्‌भागवत<br>(सभी 10 खंड - पदच्छेद, अन्वय, हिंदी टीका - नया प्रिंट) | 6894 | 5000.00 |
| 30. | बृज का एक दिन | 86 | 45.00 |
| 31. | राक्षसराज | 124 | 120.00 |
| 32. | शिव कथामृत | 224 | 80.00 |
| 33. | भागवत परिचय | 408 | 500.00 |
| 34. | दृष्टान्त महासागर | 672 | 350.00 |
| 35. | दृष्टान्त प्रकाश | 336 | 60.00 |
| 36. | श्री सुदर्शन सिंह 'चक्रजी' के<br>आध्यात्मिक लेखों का संकलन | 200 | 140.00 |
| 37. | मानस मंदाकिनी (सम्पूर्ण) | 256 | 140.00 |
| 38. | अमृत पुत्र | 278 | 200.00 |
| 39. | स्वजनों की दृष्टि में बालकृष्ण | 319 | 240.00 |
| 40. | पुराण - विज्ञान और रहस्य | 306 | 300.00 |
| 41. | आध्यात्मिक कहानियाँ<br>(दस महाव्रत, नवधा भक्ति भाग-1, नवधा भक्ति भाग-2) | 225 | 40.00 |

**श्री सुदर्शन सिंह "चक्र" जी के साहित्य को ऑनलाइन पढ़ने हतु, नीचे दिये लिंक पर क्लिक करें:**

https://chakrasahityaonline.wordpress.com

## पुस्तक प्राप्ति स्थान
## (श्री चक्रजी की मुद्रित पुस्तकें)

जो भी साधक पुस्तक की हार्डकॉपी प्राप्त करना चाहते हैं, वह नीचे दी दुकानों से संपर्क कर सकते हैं। पुस्तक कूरियर द्वारा भी भेजते हैं।

1. **श्री सुशील कुमार ताम्बी जी**
   मै. प्रज्ञा साधना आध्यात्मिक पुस्तक केंद्र,
   ए-३, आर्य नगर, एन.के. पब्लिक स्कूल के पास, मुरलीपुरा,
   जयपुर, राजस्थान - 302039
   Mob : 98295-47773
   Email: sushiltambi@yahoo.co.in, pragya7sadhna@gmail.com

2. **श्री घनश्याम शर्मा जी**
   मै. श्री कृष्ण धार्मिक पुस्तक भंडार, मथुरा
   दुकान संख्या-११, वीआईपी पार्किंग, श्री कृष्ण जन्मस्थान, मथुरा
   लैंड्मार्क – बृजवासी मिठाई वाले के सामने वाले मार्केट में
   Mob: 84454-03040, 79062-64896
   Email: sk.pustak.mathura@gmail.com

**3. श्री छैल बिहारी जी खंडेलवाल**

मै. खंडेलवाल एंड संस, खंडेलवाल ग्रंथालय,
अठखंभा बाजार, वृंदावन, जिला मथुरा, उत्तर प्रदेश - 281121
Mob: 99979-77551
Phone: 0565-2442100